

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण १

जनवरी-मार्च १९७७

परामर्श-मण्डल
श्री यशपाल जैन
डा० प्रेमसागर जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

विषयानुक्रमशिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	अहिंसा के आग्राम	१
२.	मध्यप्रदेश में मध्ययुगीन जैन शिक्षण कला —डा० शिव कुमार नामदेव	२
३.	नारी-मुक्ति के क्रांतिकारी प्रवर्तक भगवान महावीर—डा० श्रीमती कुन्तल गोयल	८
४.	ऋषभ प्रतिमा का एक विशेष चिह्न : जटारूप केशराशि—श्री रतनलाल कटारिया	१०
५.	नात तत्त्व—श्री बाबूलाल जैन	१७
६.	पुरातत्त्विक स्मृत तथा भगवान महावीर — प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी	२१
७.	पार्श्वनाथ के पंच महाश्रत —श्री पद्मचन्द शास्त्री	२३
८.	जिन दर्शन—श्री बाबूलाल जैन	२६
९.	वातरशना मुनियों की परम्परा	३२
१०.	साहित्य-समीक्षा—श्री गोकुलप्रसाद जैन आवरण	३
११.	महोषधि दान	आवरण ३

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

अनेकान्त में विज्ञापन देकर

लाभ उठाइए !

विज्ञापन दरें

पूर्ण पृष्ठ (एक बार)	१००) रुपए
वर्ष में चार पृष्ठ	३००) रुपए
आधा पृष्ठ (एक बार)	६०) रुपए
आधा पृष्ठ (वर्ष में चार)	२००) रुपये
एजेन्सी कमीशन	१५ प्रतिशत
निश्चित स्थान	२०% अधिक

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री भोमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१,
दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
में, भोमप्रकाश जैन, एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि
मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त
विवरण सत्य है। —भोमप्रकाश जैन, प्रकाशक

अनेकान्त में प्रकाशित विचारों के लिए सम्पादक
मण्डल उत्तरदायी नहीं है। —सम्पादक

अनेकान्त का वार्षिक मूल्य ६) रुपया
एक किरण का मूल्य १ रुपया ५० पैसे

स्थापित : १९२६

वीर सेवा मन्दिर

२१, दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर सेवा मन्दिर उत्तर भारत का अग्रणी जैन
संस्कृति, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व एवं दर्शन शोध
संस्थान है जो १९२६ से अनवरत अपने पुनीत उद्देश्यों की
सम्पत्ति में संलग्न रहा है। इसके पावन उद्देश्य इस
प्रकार हैं :—

- ☐ जैन-जैनेतर पुरातत्त्व सामग्री का संग्रह, संकलन
और प्रकाशन।
- ☐ प्राचीन जैन-जैनेतर ग्रन्थों का उद्धार।
- ☐ लोक हितार्थ नव साहित्य का सृजन, प्रकटीकरण और
प्रचार।
- ☐ ‘अनेकान्त’ पत्रादि द्वारा जनता के आचार-विचार
को ऊंचा उठाने का प्रयत्न।
- ☐ जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान विषयक अनु-
संधानादि कार्यों का प्रसाधन और उनके प्रोत्सेजनार्थ
वृत्तियों का विधान तथा पुरस्कारादि का आयोजन।

विविध उपयोगी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी एवं
अंग्रेजी प्रकाशनों; जैन साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान
विषयक शोध-अनुसंधान; सुविशाल एवं निरन्तर प्रवृ-
त्तमान ग्रन्थगार; जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास एवं पुरा-
तत्त्व के समर्थ अग्रदूत ‘अनेकान्त’ के निरन्तर प्रकाशन एवं
अन्य अनेकानेक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक गति-
विधियों द्वारा वीर सेवा मन्दिर गत ४६ वर्षों से निरन्तर
सेवारत रहा है एवं उत्तरोत्तर विकासमान है।

यह संस्था अपने विविध क्रिया-कलापों में हर प्रकार से
आपका महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं पूर्ण प्रोत्साहन पाने की
अधिकारिणी है। अतः आपसे सानुरोध निवेदन है कि :—

१. वीर सेवा मन्दिर के सदस्य बनकर धर्म प्रभावनात्मक
कार्यक्रमों में सक्रिय योगदान करें।
२. वीर सेवा मन्दिर के प्रकाशनों को स्वयं अपने उपयोग
के लिए तथा विविध मांगलिक अवसरों पर अपने-
प्रियजनों को भेंट में देने के लिए खरीदें।
३. त्रैमासिक शोध पत्रिका ‘अनेकान्त’ के ग्राहक बनकर
जैन संस्कृति, साहित्य इतिहास एवं पुरातत्त्व के शोधा-
नुसन्धान में योग दें।
४. विविध धार्मिक, सांस्कृतिक पर्वों एवं दानादि के अव-
सरों पर महत्त्व उद्देश्यों की पूर्ति में वीर सेवा मन्दिर
की आर्थिक सहायता करें।

—गोकुल प्रसाद जैन (सचिव)

धोम् धर्मम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३०
किरण १

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सन् २५०३, वि० म० २०३३

{ जनवरी-मासं
१९७७

अहिंसा के आयाम

विचारेऽनेकान्तश्चरितपरिपाटीस्ववधिकः ।

परिग्राह-ग्राह्यान्मथनपरिमाऽऽचारसरणौ ॥

समर्थः स्याद्वादो वचसि तनु सापेक्षसज्जुषां ।

समीचीनः पन्था जयति जिनसर्वोदयकृताम् ॥

अर्थ — सर्वोदय धर्म के आविष्कर्ता तीर्थंकर जिनेन्द्र ने विचारों में अनेकान्त, आचार में अहिंसा तथा परिग्रह-रूप ग्राह को उन्मथन करने वाले समाज की रचना करने में चतुर अपेक्षा-दृष्टि से वचन (वाणी) में स्याद्वाद समीचीन रूप तीर्थ को रचना की है, उसकी जय हो ।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोत ।

मार्जारी हसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगम् ॥

वंशप्राज्ञन्मज्जातान्यपि गलितमबा जन्ततोऽन्ये त्यजन्ति ।

श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥

अर्थ — साम्यभाव पर आरुढ़, निष्पाप और मोहरहित योगी के पवित्र सान्निध्य से प्राणियों में निर्वैर अहिंसा का संचार होता है । उसके समीप हरिणी सिंहशिशु को और गौ व्याघ्र के बालक को पुत्र-भाव से स्पर्श करती है । बिल्ली हसबावक को और मयूरी सप को प्रेम करने लगती है । इतना ही नहीं, और-और जन्तु भी स्वाभाविक जन्मजात बैर भूल जाते हैं ।

य लोका असकृन्नमन्ति ददते यस्म विनम्राञ्जलिम् ।

मार्गस्तीर्थकृतां स विश्वजगतां धर्मोऽस्त्यहिंसाभिधः ॥

नित्यं चामरधारिणाविवबुधाः यस्यैकपाश्वे महान् ।

स्याद्वादः परतो बभूवतुरथाऽनेकान्त-कल्पद्रुमः ॥

अर्थ — जिसे संसार निरन्तर नमस्कार करता है, जिसे अपनी विनम्र अञ्जलि समर्पित करता है, वह तीर्थंकरों द्वारा निर्दिष्ट सम्पूर्ण संसार का मान्य धर्म 'अहिंसा' है । उस अहिंसा धर्म के एक पाश्वर् में स्याद्वाद और दूसरे पाश्वर् में अनेकान्तरूप कल्पद्रुम स्थित है । मानो, किसी सम्राट् के दोनों ओर दो चामरधारी स्थित हों ।



मध्यप्रदेश में मध्ययुगीन जैन शिल्पकला

□ डा० शिवकुमार नामदेव, माडला

भारत की प्राच्य संस्कृत के लिये जहा जैन साहित्य का अध्ययन आवश्यक है वही जैन कला के अध्ययन का भी कुछ कम महत्व नहीं है। जैन कला अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताओं के कारण भारतीय कला में एक अद्वितीय स्थान रखती है। जैन धर्म की स्वर्णिम गौरव-गरिमा की प्रतीक प्रतिमायें, पुरातन मंदिर, विशाल स्तभादि प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृत के ज्वलंत उदाहरण है। अतीत उनमें अंतर्निहित है। प्रत्येक जाति और समाज की उन्नत दशा का वास्तविक परिचय इन्हीं खंडित अवशेषों के गंभीर अध्ययन, मनन और अन्वेषण पर अवलंबित है। सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा एवं अभिवृद्धि में साहित्यकार जहाँ लेखनी के माध्यम से समाज में अपने भावों को व्यक्त करता है, वही कलाकार पार्थिव उपादानों के माध्यम द्वारा आत्मस्थ भावों को अपनी सधी हुई छेनी से व्यक्त करता है।

मध्यप्रदेश के अतीत की कहानी का विश्लेषण करना सुगम नहीं है। प्राच्य युग से ही यह प्रदेश भारत की गौरव-मयी संस्कृति के चहुंमुखी विकास का क्षेत्र रहा है। विषेच्ययुगीन शिल्पकला इस विस्तृत प्रदेश के विभिन्न भागों में बहुतायत से उपलब्ध हुई है। उपलब्ध शिल्पकला इस बात की ओर इंगित करती है कि मध्ययुग में इस विशाल प्रदेश में जैन धर्म का अच्छा वर्चस्व था।

मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवंश कलचुरियों, परमारों एवं चंदेलों के काल में उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य धर्मों की भांति जैन धर्म भी पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा। अखिल भारतीय परंपराओं के साथ-साथ मध्यप्रदेश की अपनी विशेषताओं को भी यहाँ की कला में उचित स्थान दिया गया।

मध्य प्रदेश के यशस्वी राजवंश कलचुरियों के काल में उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप अन्य धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म भी फला-फूला^१। कलचुरि-युगीन जैन प्रतिमायें अड़भार, आरग, पेन्ड्रा, मल्लार, रतनपुर, सिंहपुर एवं शहपुरा आदि स्थलों से प्राप्त हुई है। उपलब्ध प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्रतिमायें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की है। कारीतलाई (जबलपुर) से तीर्थंकरों की द्विमूर्तिकायें भी प्राप्त हुई है।

कलचुरिकालीन तीर्थंकर प्रतिमायें आसन एवं स्थानक मुद्रा में प्राप्त हुई है। तीर्थंकरों की सयुक्त प्रतिमायें भी इस कला में उपलब्ध हुई हैं। जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ की सर्वाधिक मूर्तियाँ कारीतलाई से प्राप्त हुई हैं^२। प्रतिमायें श्वेत बलुआ पाषाण से निर्मित की गई है।

उक्त स्थल से प्राप्त ४½' ऊँची ऋषभनाथ की प्रतिमा में भगवान को उच्च चौकी पर पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे हुए दिखाया गया है। उनकी दक्षिण भुजा एवं वाम घुटना खंडित है। हृदय पर श्रीवत्स एवं मस्तक के पृष्ठभाग में तेजोमण्डल है। तेजोमण्डल के ऊपर त्रिछत्र सौन्दर्यपूर्ण ढंग से बना है, जिसके दोनों पार्श्व में एक-एक महावत-युक्त हाथी उत्कीर्ण है। छत्र के ऊपर दुर्भुजक एवं हाथियों के नीचे युगल विद्याधर हैं जो नभभाग से पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं। विद्याधरों के नीचे दोनों पार्श्व पर भगवान के परिचारक सोधर्मन्द्र एवं ईशानेन्द्र अपने हाथों में चवर लिए हुए खड़े हैं।

प्रतिमा की चौकी पर अलंकृत पड़ी भूल पर ऋषभनाथ का लाछन वृषभ अङ्कित है। वृषभ के नीचे चौकी के ठीक मध्य में धर्मचक्र अङ्कित है, जिसके दोनों ओर

१. कलचुरिकाल में जैन धर्म—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, अगस्त १९७२); कलचुरिकाल में जैन धर्म की स्थिति—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, जुलाई-अगस्त १९७३)।

२. कारीतलाई की अद्वितीय भगवान ऋषभनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव (अनेकान्त, अक्टूबर-दिसम्बर १९७३)।

एक-एक सिंह है। सिंहासन के दाहिने पार्श्व पर भगवान का शासन-देव गोमुख एवं वाम पार्श्व पर उनकी शासन देवी चक्रेश्वरी ललितासन मुद्रा में बंठी हुई है।

इसी स्थल से प्राप्त एक अन्य प्रतिमा यद्यपि उपरि-वर्णित प्रतिमा की तरह है किन्तु इसका मस्तक खडित नहीं है। प्रतिमा ध्यानस्थ मुद्रा में है। केश घुंघराले हैं। अष्टप्रतिहार्ययुक्त इस प्रतिमा में शासन-देव गोमुख एवं शासन-देवी चक्रेश्वरी गरुडासीन है।

एक अन्य २' ३" ऊँची प्रतिमा के दक्षिण एवं वाम पार्श्व में अन्य तीर्थङ्करों की लघु प्रतिमायें कायोत्सर्ग अथवा खड्गासन में हैं।

कारीतलाई की एक अन्य प्रतिमा जो रायपुर संग्रहालय की निधि है, ३' ६" ऊँची है। कलात्मक दृष्टि से कारीतलाई में उपलब्ध जैन प्रतिमाओं में यह सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रतिमा की विशेषता यह है कि इसके सिंहासन पर सिंहों के जोड़ों के साथ हस्तियों का भी एक जोड़ा दिखाया गया है।

तेवर (जबलपुर) से उपलब्ध ७' ४' ऊँची एवं सम्प्रति जबलपुर के हनुमानताल जैन मंदिर में सुरक्षित ऋषभनाथ की प्रतिमा अति कलापूर्ण एवं प्रभावोत्पादक है। प्रतिमा के अग्र-प्रत्यग सुन्दर एवं सुडौल है। मस्तक पर चित्रित घुंघराले केश आकर्षक हैं। उभय स्कंध पर केश-गुच्छ लटक रहे हैं।

सपरिकर पद्मासनस्थ इस प्रतिमा के प्रभावली के मध्य में छत्र-दण्ड है जो ऊपर की ओर जाकर क्रमशः तीन ओर वर्तुलपन लिये हुए है। छत्रदण्ड के ऊपर विशाल छत्र लगभग २' ८" के लगभग है। सब से ऊपर दो हस्ति शुण्ड से शुण्ड सटाये इस प्रकार से चित्रित किये गये हैं मानो वे छत्र को थामे हुए हों। हस्तियों के सूर्प कर्ण के उठे हुए भाग उनके गाल की खिची रेखायें एवं आँखों के ऊपर का खिचाव कला की उच्चता का द्योतक है। परिकर पर हस्ति पद्म पर आधृत है। छत्र के नीचे दोनों पार्श्व पर यक्ष एवं चार अम्बरार्य आकाश में उड़ती हुई चित्रित हैं। गधर्व पुष्पमाल लिए हुए है। परिचारक के नीचे दोनों

पार्श्व में नारियों की खड़ी आकृतियाँ हैं। नारियों के अंग-प्रत्यग पर चित्रित आभूषणों की भरमार है। कला की दृष्टि से यह प्रतिमा कलचुरि कला की प्राण है।

बघेलखड से उपलब्ध एवं राजकीय संग्रहालय धुबेला में संरक्षित ऋषभनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर त्रिरत्न का प्रतीक अंकित है जोशोशपद से अपनाया गया बौद्ध प्रतीक है। रतनपुर (बिलासपुर) की प्रतिमा में यक्षी चक्रेश्वरी को वाम पार्श्व में ललितासन मुद्रा में दिखाया गया है।

कलचुरि-कालीन द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ की रीवा क्षेत्र से उपलब्ध एवं धुबेला संग्रहालय में संरक्षित प्रतिमा में तीर्थङ्कर आसन में ध्यानस्थ बैठे हैं। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल तथा तीन छत्र हैं एवं छत्रों के दोनों पार्श्व में पुष्पमालायें लिए विद्याधर हैं। आसन के पाद-पीठ पर तीर्थङ्कर का वाहन हस्ति अंकित है। यक्ष-यक्षी, महावत एवं रोहिणी भी अंकित हैं। अजितनाथ की दूसरी प्रतिमा सिंहपुर (सहडोल) से उपलब्ध हुई है जो उपरिवर्णित प्रतिमा की तरह है।

जैन धर्म के आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ एवं सोलहवें तीर्थङ्कर शातिनाथ एवं बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की आसनमुद्रा में एक-एक प्रतिमा प्राप्त हुई हैं। रतनपुर से उपलब्ध चन्द्रप्रभ की प्रतिमा २' ५" ऊँची है। उनके केश घुंघराले हैं। उनके दक्षिण पार्श्व में सोधर्मन्द्र एवं वाम में ईशानेन्द्र हैं। चौकी के कीर्तिमुखयुक्त भूल पर उनका लाछन चद्रमा अंकित है। चौकी के दोनों पार्श्व पर यक्ष-यक्षी श्याम एवं ज्वालनी बैठे हैं।

जबलपुर संग्रहालय में संरक्षित सोलहवें तीर्थङ्कर शातिनाथ की प्रतिमा के पादपीठ पर दो सिंहों के मध्य उनका लाछन हिरण उत्कीर्ण है। चौकी पर यक्ष, गरुड एवं यक्षी महामानसी भी उत्कीर्ण हैं। शातिनाथ की स्थानक प्रतिमाएँ कारीतलाई एवं बहुरीबद (जबलपुर) से उपलब्ध हुई हैं। बहुरीबद की प्रतिमा १३' ऊँची एवं लेखयुक्त है।

बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ की कलचुरि-युगीन एक प्रतिमा धुबेला संग्रहालय में है। तीर्थङ्कर ध्यानस्थ बैठे

३. कलचुरि-कालीन भगवान शातिनाथ की प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अमण, अगस्त १९७२।

४. धुबेला संग्रहालय की जैन प्रतिमायें—शिवकुमार नामदेव, अमण, जून १९७४।

हैं। उनके मस्तक के ऊपर एक छत्र तथा उसके दोनों पार्श्व में गज तथा उनके ऊपर तीर्थङ्करों की तीन प्रतिमाएँ हैं। तीर्थङ्करों की संख्या २२ है। इनमें संभवतः दो, पार्श्वनाथ एवं महावीर का अंकन नहीं है। पादपीठ पर तीर्थङ्कर का लांछन शंख है।

भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ सिहपुर (शहडोल), पेण्ड्रा (बिलासपुर), कारीतलाई (जबलपुर), शहपुरा (मण्डना) आदि से उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध प्रतिमाओं में सर्वाधिक उत्तरेखनीय प्रतिमा कारीतलाई की है जो रायपुर संग्रहालय में है। इस चतुर्विंशति-पट्ट मे मूल-नायक प्रतिमा पार्श्वनाथ की है। तीर्थङ्कर के दायें-बायें सोधमैन्द्र एवं ईशानेन्द्र चँवरी लिए खड़े हैं। पार्श्वनाथ की तीन ओर की पट्टियों पर अन्य तीर्थङ्करों की लघु प्रतिमाएँ हैं। दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर ६ एवं वाम पर ८ तथा शेष ६ प्रतिमाएँ ऊपर की आड़ी पट्टी पर हैं।

जैन धर्म के अंतिम तीर्थङ्कर भगवान महावीर की आसन प्रतिमाओं में कारीतलाई से उपलब्ध प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इस प्रतिमा में उन्हें उच्च सिंहासन पर उत्थित पद्मासन में ध्यानस्थ बैठे दिखाया गया है। तीर्थङ्कर के परिचारक सोधमैन्द्र तथा अन्य तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ दक्षिण पार्श्व की पट्टी पर अंकित हैं। उच्च चौकी पर मध्य में उनका लांछन सिंह अंकित है। महावीर का यक्ष मातंग अजलिबद्ध एवं यक्षी सिद्धायिका चँवरी लिए हैं। महावीर की एक अन्य प्रतिमा जो जबलपुर से उपलब्ध हुई थी, सम्प्रति फिलेडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट में संगृहीत है।

कलचुरिकालीन विवेच्य तीर्थङ्कर प्रतिमाओं के अतिरिक्त द्विमूर्तिकायों भी प्राप्त हुई हैं। प्रत्येक में दो-दो तीर्थङ्कर कायोत्सर्ग ध्यानमुद्रा में हैं। इन द्विमूर्तिका प्रतिमाओं में तीर्थङ्कर के साथ अष्टप्रतिहार्यों के अतिरिक्त तीर्थङ्कर का लांछन एवं उनके शासन देवताओं की भी मूर्तियाँ हैं। इन द्विमूर्तिकाओं में ऋषभनाथ एवं अजितनाथ, अजितनाथ एवं सभ्वनाथ, पुष्यदंत एवं क्षीतलनाथ, धर्मनाथ एवं शातिनाथ, मल्लिनाथ एवं

मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमाएँ हैं। भगवान पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ की एक द्विमूर्तिका फिलेडेलफिया म्यूजियम आफ आर्ट में संरक्षित है।

कलचुरियुगीन तीर्थङ्करों के अतिरिक्त जैन शासन-देवियों की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं जो स्थानक एवं आसन दोनों मुद्राओं में हैं। ये प्रतिमाएँ कारीतलाई, पनागर (जबलपुर), और सोहागपुर (शहडोल) से उपलब्ध हुई हैं।

नेमिनाथ की यक्षिणी अंबिका की एक प्रतिमा कारीतलाई से प्राप्त हुई है। श्वेत छीटेदार रक्त बलुआ प्रस्तर से निर्मित इस प्रतिमा में उन्हें ललितासन में सिंहासित दिखाया गया है। द्विभुजी प्रतिमा के दाहिने हाथ में आम्रलुबि एवं बायें में पुत्र प्रियशंकर को लिए हैं। उनका ज्येष्ठ पुत्र शुभंकर दाहिने पैर के निकट बैठा है। अंबिका की एक अन्य प्रतिमा पनागर (जबलपुर) से उपलब्ध हुई है। सोहागपुर से उपलब्ध जैन शासन देवियों की मूर्तियाँ महत्वपूर्ण हैं, परन्तु लांछनों के अभाव में उनका समीकरण कठिन है।

मध्यप्रदेश का विश्व-प्रसिद्ध कलातीर्थ खजुराहो-पन्ना से २५ मील उत्तर एवं छतरपुर से २७ मील पूर्व तथा महोबा से २४ मील दक्षिण में स्थित है। १०वीं ११वीं सदी के मध्य यशस्वी चंदेल नरेशों के काल में निर्मित यहाँ के देवालय नागर शैली के उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट उदाहरण हैं। वास्तु-वैशिष्ट्य एवं मूर्ति-संपदा के कारण ये देवालय अपूर्व गौरवशाली हैं।

चंदेल नरेश यद्यपि वैष्णव और शिव के उपासक थे परन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप हिन्दू धर्म के साथ-साथ जैन धर्म के मन्दिरों का भी निर्माण हुआ। खजुराहो में निर्मित ये मन्दिर उनकी धार्मिक सहिष्णुता के जीवंत उदाहरण हैं।

खजुराहो के जैन देवालय पूर्वी समूह के अतर्गत रखे जाते हैं। इनमें घटई, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ के देवालय मुख्य हैं। खजुराहो के जैन मन्दिरों में जिन मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। प्रवेश द्वार एवं रथिकाओं में विविध जैन

५. कारीतलाई की द्विमूर्तिका जैन प्रतिमाएँ—शिवकुमार नामदेव, अमण, सितम्बर १९७५।

६. कलचुरि कला में जैन शासन-देवियों की मूर्तियाँ—शिवकुमार नामदेव, अमण, अगस्त १९७४।

देवियों को उत्कीर्ण किया गया है। देवालयों के ललाट-बिंब में यक्षी चक्रेश्वरी प्रदर्शित है तथा द्वारशाखाओं और रथिकाओं में अधिकांशतः जैन देवी-देवता, जैसे विद्याधर, शासन देव आदि। दिगंबर परम्परा के अनुसार वर्धमान की मा ने जो सोलह स्वप्न देखे थे वे सब जैन देवालयों (पार्श्वनाथ को छोड़कर) के प्रवेश द्वार पर प्रदर्शित हैं। जैन मूर्तियाँ प्रायः तीर्थंकरों की हैं, जिनमें वृषभ, अजित, सभर, अभिनन्दन, पद्मप्रभु, शातिनाथ एवं महावीर की मूर्तियाँ अधिक हैं।

खजुराहो के पार्श्वनाथ मन्दिर के भीतरी ओर तीन आगार हैं। इस देवालय की बाह्य भित्ति पर चतुर्दिक तीन पंक्तियों में तीर्थंकर प्रतिमाएँ, कुबेर, द्वारपाल, गजारूढ एवं अश्वारूढ जैन शासन-देव आदि अंकित हैं। देवालय के द्वार के उत्तरी तोरण पर द्वादशभुजी चक्रेश्वरी एवं शासन-देवियाँ तथा मुख्य तोरण पर युगादिदेव ऋषभनाथ एवं दो अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं।

यहाँ के आदिनाथ देवालय की बाह्य भित्ति पर ऊर्ध्व-भाग की लघु पंक्ति में गंधर्व, किन्नर एवं विद्याधर तथा शेष दो पंक्तियों में शासनदेव, अप्सराएँ आदि हैं। नेमिनाथ की यक्षी अंबिका सिंहारूढ़ आम्नवृक्ष के नीचे आम्नमंजरी धारण किये शिशु को स्तनपान करा रही है। यहाँ आसीन पद्मावती की चतुर्भुजी प्रतिमा अभय, पाश, पद्मकलिका एवं जलपात्र से युक्त है।

घटई मन्दिर के प्रवेश द्वार के ललाटबिंब पर गरुडासीन अष्टभुजी जैन देवी की एक मूर्ति है और उत्तरग के दोनों किनारों पर एक-एक जैन तीर्थंकर प्रतिमा अंकित है। उत्तरग के वामार्ध में नवग्रहों और दक्षिणार्ध में अष्टवसुओं के अंकन हैं। उत्तरग के ऊपर की पट्टिका में उत्कीर्ण सोलह शुभ लक्षण तीर्थंकरों की माताओं के १६ स्वप्नों के प्रतीक हैं।

शातिनाथ देवालय के आगार में धरणेन्द्र एवं पद्मावती की एक सुन्दर युगल-प्रतिमा प्रतिष्ठित है। देवालय की भित्ति पर देवी-देवताओं तथा अप्सराओं की आकृतियों के साथ शार्दूल भी है। प्रदक्षिणा-पथ की भित्ति पर भिन्न-भिन्न शासन-देवों, गंधर्वों, किन्नरों एवं सुर

सुन्दरियों का अंकन है। बाहुवली स्वामी की भी एक प्रतिमा यहाँ उत्कीर्ण है। देवालय के तोरण पर भगवान् चन्द्रप्रभु हैं, जिनके दोनों पार्श्वों पर तीर्थंकर मूर्तियाँ हैं, जिनमें से पाँच पद्मासन एवं छः कायोत्सर्गसन में हैं। वेदिका पर दोनों पार्श्वों में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ हैं। देवालय में मूल-नायक के रूप में सोलहवें तीर्थंकर शातिनाथ की १२' ऊँची खड्गासन मुद्रा में प्रतिमा है। मन्दिर के आगार में वाम पार्श्व की ओर दीवाल पर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र एवं पद्मावती हैं। शातिनाथ की मूर्ति के परिकर में पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ हैं।

बुन्देलखण्ड का जैनतीर्थ ग्रहार, टीकमगढ़ से १२ मील पूर्व की ओर स्थित है। इस भूभाग पर तीन देवालय हैं जिनमें से प्राचीन देवालय में २२' फुट की एक शिला है। इस शिला पर अठारह फुट की भगवान् शातिनाथ की एक कलापूर्ण मूर्ति सुशोभित है। इसे परमादिदेव चंदेल (११६३-१२०२ ई०) के काल में संवत् १२३७ वि० में स्थापित किया गया। बायी ओर १२' की कुन्धुनाथ की मूर्ति है।

खजुराहो से उपलब्ध १०वीं सदी की पार्श्वनाथ की एक विलक्षण प्रतिमा प्रयागनगर सभा संग्रहालय में है। ३८ × २१ इंच आकार की इस खड्गासनस्थ प्रतिमा के मस्तक पर सप्तफण स्पष्ट हैं। अभय और पार्षद हैं। लाछन के स्थान पर शंख हैं। नागफण और शंख लाछन ये दो विरोधी तत्त्व हैं, अतः समीकरण निश्चित रूप से नहीं हो पाता।

प्रतिहारों के पतन के पश्चात् मालवा में परमारों का राज्य स्थापित हुआ। इस वंश का सर्वाधिक प्रतापी नरेश भोज था। परमारों के काल में जैन धर्म मालवा में अधिक प्रचलित था। भोजपुर के महान् शिव मन्दिर के पूर्व में एक जैन मन्दिर है। भोजपुर से तीन मील की दूरी पर आशापुरी नामक गांव में शातिनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा है। ऋक्ष पर्वत श्रेणियों के सिरे के निकट निमाड़ के मैदान में ऊन नामक ग्राम है। यहाँ के अवशेषों में लगभग एक दर्जन मन्दिर परमार राजाओं

की स्थापत्य कला के उत्तम नमूने हैं। यहां के जैन मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध चौबार-डोरा नामक मन्दिर है, निकट ही एक दूसरा जैन मन्दिर है। इन देवालयों में जैन धर्म की अनेक सुन्दर मूर्तियां हैं। केन्द्रीय सग्रहालय इन्दौर में परमार-युगीन अनेक जैन प्रतिमायें सुरक्षित हैं। इनमें आदिनाथ, श्रियांसनाथ, धर्मनाथ, शातिनाथ, नेमिनाथ, नमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर की प्रतिमायें हैं।

उपरोक्त स्थलों के अतिरिक्त मध्यप्रदेश के अनेक स्थलों से जैन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं। मुरेना जिले में स्थित सिहपानिया (सुहानिया) तथा पट्टावली गुना जिले के तिराही एवं इन्दौर स्थलों से मध्ययुगीन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। पन्ना जिले में स्थित टूंडा ग्राम से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमायें इस बात की साक्षी हैं कि यह स्थल मध्यकाल में जैन मतावलम्बियों का केन्द्र रहा होगा। यहां से उपलब्ध प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की प्रतिमा पद्मासन में ध्यानस्थ है। पादपीठ पर दक्षिण पार्श्व की ओर गोमुख यक्ष तथा वाम में यक्षी चक्रेश्वरी की लघु आकृतियां हैं। स्तम्भाकृतियों के मध्य शार्दूल एवं पादपीठ पर भक्ति-विभोर श्राविका है। यही से उपलब्ध तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की २' ४" ऊँची मूर्ति के दोनों पार्श्व में विद्याधर आदि हैं। टूंडा ग्राम के सन्यासियों के मठ के निकट एक वृक्ष के नीचे अनेक प्रतिमायें रखी हैं। आदिनाथ की एक प्रतिमा जो चार फुट ऊँचे, एक फुट छः इंच चौड़े तथा एक फुट मोटे शिलाफल पर उत्कीर्ण है, कायोत्सर्गासन में है। आसन के शार्दूलों के पार्श्व में श्रावक-श्राविका के ऊर्ध्वभाग में एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थङ्कर प्रतिमा तथा उनके ऊपर दोनों पार्श्व में गजमुख, व्यालमुख का सुन्दर अंकन है। यहीं से आदिनाथ की एक भव्य प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है।

महाकौशल में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाओं की बहुलता है। सिवनी के जैन मंदिर में धमोर से लायी १३वीं सदी की सात मूर्तियां हैं। सिवनी जिले के छारा नामक स्थान के दिगंबर जैन मंदिर में धमोर से लायी गयी ११वीं सदी की एक सुन्दर प्रतिमा है। तीन वर्ष पूर्व सिवनी जिले के लखनादौन से कलचुरि-युगीन महावीर की एक अत्यंत मनोज्ञ एवं अष्ट प्रतिहायं युक्त प्रतिमा प्राप्त हुई थी।

कालाकोट नामक स्थल से जो भानपुरा से मन्दसौर की ओर मार्ग में स्थित है, पार्श्वनाथ की पांच फुट ऊँची एवं तीन फुट चौड़ी स्लेटी रंग की पद्मासन प्रतिमा प्राप्त हुई है। प्रतिमा लेखयुक्त है। प्रतिमा पर अंकित लेख इस प्रकार है—संवत् १३०२ वर्षे पो० १५ गम लाडवागडा पौरपटान्वये साहु सहन.....सा..... तेनेदं.... प्रतिष्ठिता। प्रतिमा के लेख की लिपि में खड़ी पाई मिलती है।

खालियर के निकट मुरार नामक स्थल में श्री हरिहरनाथ द्विवेदी के उद्यान में भगवान पार्श्वनाथ की चतुर्मुखी खड्गासन पाषाण प्रतिमा बड़ी ही मनोज्ञ एवं कलापूर्ण है इसकी कायोत्सर्ग-मुद्रा एवं नासाग्र-दृष्टि बड़ी ही कलापूर्ण है। इसकी पादपीठिका पर कुछ उत्कीर्ण है जो अस्पष्ट है।

विन्ध्य भूभाग प्राचीन काल से ही भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला से सम्पन्न रहा है। विन्ध्य भूभाग के अनेक स्थलों से मध्ययुगीन जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। नागोद एवं जसो में मुनि कातिसागर ने ऐसी प्रतिमायें देखी थीं जिनके परिकर उनके जीवन के विशिष्ट प्रसंगों—ऋषभदेव के पुत्रों का राज्य विभाजन, दीक्षा प्रसंग, भरत बाहुवली युद्ध आदि से चित्रित थे। जसो से प्राप्त एक प्रतिमा में एक नग्न स्त्री वृक्ष पर चढ़ने का प्रयास करती हुई बनाई गई है। यह अश्रविका देवी की प्रतिमा है। उच्चकल्प (उचहरा) से प्राप्त एक शिला पर एक सघन फल सहित आश्रवृक्ष उत्कीर्ण है। देवी अश्रविका को इसकी डाल पर बैठा हुआ दिखाया गया है। सर्वोच्च भाग में भगवान नेमिनाथ पद्मासन में हैं। दोनों ओर एक-एक खड्गासन भी हैं। रीवा क्षेत्र जैन धर्म से सम्बंधित पुरातन प्रतिमाओं का भंडार है। यहां से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमायें इस बात की द्योतक हैं कि यह भूभाग मध्यकाल में जैन धर्म से प्रभावित था। आधुनिक तुलसी तीर्थ रामवन, सतना से रीवा जाने वाले मार्ग पर अवस्थित है। यहाँ पार्श्वनाथ मल्लिनाथ एवं ऋषभदेव की प्रतिमायें संगृहीत हैं।

दक्षिण कौशल में जैन धर्म के प्रचार के प्रमाण वहाँ से उपलब्ध बहुसंख्यक प्रतिमायें हैं। रायपुर से २२ मील

दूर आरंग में एक जैन देवालय है, जिस पर चतुर्दिक देव-देवियां उत्कीर्ण हैं। मिरपुर (रायपुर) एक प्राचीन नगर था। यहां से उपलब्ध ऋषभदेव की धातु प्रतिमा महत्वपूर्ण है। इसकी रचना शैली स्वतन्त्र, स्वच्छ एवं उत्कृष्ट कलाभिव्यक्ति की परिचायक है। मून प्रतिमा पद्मासन लगाये है। निम्नभाग में वृषभ चिह्न स्पष्ट है। स्कंध पर अतीव सुन्दर केशावलि है। दक्षिण पार्श्व में देवी अम्बिका के वाम चरण के निकट लघु बालक की आकृति है, जो हंसली धारण किए हुए है। दक्षिण चरण की ओर जो बालक की आकृति है उसकी दाहिने हाथ में संभवतः मोदक एवं वाम में उत्थित सर्प है।

ग्वालियर किले का जैन पुरातत्व जैन धर्म की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। किले के हाथी दरवाजे और सास-बहू मन्दिरों के मध्य एक जैन मन्दिर है, जिसे मुगलकाल में मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। उत्खनन के अवसर पर यहां नीचे एक कमरा मिला था जिसमें कई नग्न जैन मूर्तियां और ११०८ ई० का एक लेख मिला था। ये मूर्तियां कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनों प्रकार की हैं। उत्तर की वेदी में दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियां हैं। किले के उर्वाही द्वार की मूर्तियों में आदिनाथ की विशाल मूर्ति है उसके पैरों की लम्बाई ६' ६" एवं मूर्ति ५'७" ऊंची है। ग्वालियर से ही उपलब्ध तीर्थंकर नेमिनाथ की एक प्रतिमा उल्लेखनीय है। आसन के नीचे विश्व धारण करने वाला धर्म दो सिंहों के रूप में प्रदर्शित है। प्रतिमा के दाहिने ओर वाले सिंह के ऊपर धर्मचक्र अंकित है। मूर्ति पद्मासन में है। पार्श्व में दो पार्श्वचर व पार्श्व देवता हैं। हृदय पर धर्मचक्र है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल एवं मस्तक पर त्रिछत्र है। इसी क्षेत्र से उपलब्ध चक्रेश्वरी एवं गोमुख यक्ष की प्रतिमा भी महत्वपूर्ण है। गोमुख चतुष्कोण पाद पीठ पर बैठा है। इसके दाहिने हाथ में त्रिशूल के स्थान में तीन लपेटों की मूठ वाला दण्ड है। बायें हाथ की वस्तु अस्पष्ट है। चक्रेश्वरी के दाहिने हाथ में भी इसी तरह का कोई अस्त्र है।

रायपुर जिले में स्थित राजिम छत्तीसगढ़ क्षेत्र का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र रहा है। राजिम से जैन धर्म से सम्बन्धित मात्र एक प्रतिमा का ही उदाहरण उपलब्ध

हुआ है। यह स्थानीय सोमेश्वर देवालय के भूतार्ति में संरक्षित है। पार्श्वनाथ की यह प्रतिमा कुंडलित नाग पर पद्मासन में बैठी हुई है। सिर पर सप्तफण वाले नाग की छत्र-रूप में छाया है। अधोभाग पर मध्य में चक्र और इनके दोनों पार्श्वों में परस्पर एक दूसरे की ओर पीठ किए सिंह मूर्तियां हैं। तीर्थंकर के दोनों पार्श्व में एक-एक परिचारिका एवं ऊपर गंधर्व आदि हैं।

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के क्षेत्र में मालव भूमि का विशिष्ट महत्व है। सांची, धार, दशपुर, बदनावर, कानवन, बड़नगर, उज्जैन, मक्सी, नागदा, भौरासा, देवास, आष्टा, कायथा, सीहोर, सोनकच्छ, गंधावल, नेवरी, कन्नीद, जावरा, बड़वानी, आगर, महिदपुर आदि ऐसे कलाकेन्द्र हैं, जहां ब्राह्मण धर्म की प्रतिमाओं के साथ जैन धर्म की मूर्तियां मिलती हैं। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन में निमित्त पुरातत्व संग्रहालय की तीर्थंकर दीर्घा में विद्यमान तीर्थंकर प्रतिमाएँ महत्वपूर्ण हैं। इस संग्रहालय में उज्जयिनी से प्राप्त ६७ तीर्थंकर प्रतिमाओं को कालक्रमानुसार रखा गया है। यहां की मूर्ति क्रमांक २०६ में आदिनाथ का अंकन है। इस सर्वतोभद्र प्रतिमा में जटायों तो कबे तक हैं जिन्हें कर्ण भी कहा जा सकता है। पद्मासन में ध्यानस्थ इस प्रतिमा का आकार २६ × २० × १० से० मी० है। संगमरमर से निमित्त यह प्रतिमा १५वीं सदी की है, जो पारदर्शी भीने वस्त्र पहने है। पादस्थल पर पद्म व पुष्प अलंकरण हैं। क्रमांक २०७ में मुनिमुखन की प्रतिमा है। वाहन या पादस्थल पर कच्छर उत्कीर्ण है। पद्मासन व ध्यानमुद्रा में निमित्त इस प्रतिमा के प्रभामण्डल में चपक वृक्ष है तथा दोनों ओर वरुण यक्ष एवं नरदत्ता यक्षिणी हैं। प्रस्तर फलक का आकार २६ × २२ × १० से० मी० है। यह प्रतिमा कंठालवन से जिसे मेडम फ्राउन्के ने 'कान्तारवन' कहा है, उपलब्ध हुई थी। लेख के आधार पर इस प्रतिमा का काल १४१५ ई० के आसपास निर्दिष्ट किया जाता है। यहां संगृहीत तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की संगमरमर निमित्त प्रतिमा विशेष कलात्मक है। २५ × १८ × ११ से० मी० आकार की इस प्रतिमा के नीचे चंद्रमा उत्कीर्ण है। (शेष पृ० १६ पर)

नारी-भुक्ति के क्रांतिकारी प्रवर्तक

भगवान महावीर

□ डा० श्रीमती कुन्तल गोयल, एम. ए.; पी-एच. डी.

भगवान महावीर जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे। वे यथार्थतः महावीर थे; महावीर अथत् अपने समस्त अवगुणों को, माया-मोह और अहं को जीतने वाले महान वीर। उनके समय में उनके चलाये धर्म को “निग्रंथ” कहा जाता था; “निग्रंथ” अर्थात् पूर्णरूप से ग्रंथि-रहित, आग्रह-आसक्तियों एवं परिग्रहों से पृथक् एक मानव धर्म। ऐसे सावजनीन धर्म की शरण में स्त्री-पुरुष, गृहस्थ-त्यागी, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच सभी आ सकते हैं जहाँ समान रूपसे पुरुष का उद्धार हो सकता है और स्त्रियों का भी। जो समभाव लिए हुये हो, वह अपना ही नहीं, समस्त विश्व का कल्याण कर सकता है। जो स्वयं को जीत सकता है, वही दूसरों को भी जीत सकता है। भगवान महावीर ऐसे ही महापुरुष थे जिन्होंने पुरुषों की तरह नारी समाज को संवारने और ऊँचा उठाने में स्तुत्य योगदान दिया और जिन्होंने युग-युग की शोषित और दलित नारी के भीतर आत्म-ज्योति प्रकाशित की।

भगवान महावीर से पूर्व समाज में नारी की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। वह उपेक्षित और नीच समझी जाती थी। उसकी तुलना क्रीतदास से की जाती थी। वह पुरुषों की कामना सिद्धि तथा वासना तृप्ति का साधन थी। उसकी अपनी कोई कामना नहीं थी और न ही उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व था। भगवान महावीर ने इस दारुण स्थिति से उसका उद्धार कर समाज में उसे सम्माननीय स्थान दिया। उनकी दृष्टि में जितने महत्वपूर्ण पुरुष थे, उतनी ही स्त्रियाँ भी। इसलिये उन्होंने अपना चतुर्विध मे आर्थिकाओं एवं श्राविकाओं को सम्मिलित कर समाज में स्त्रियों को पुरुषों के समकक्ष उच्च स्थान दिया बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म में स्त्रियाँ निर्वाण-सिद्धि में बाधक नहीं थी। बुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को प्रव्रजित

होने की स्वीकृति न देते हुए अपने शिष्य आनन्द से कहा कि इस कार्य से संघ की आयु आधी रह जायेगी। किन्तु महावीर ने निःशंक होकर स्त्रियों को अपने संघ में सम्मिलित किया और साधुओं की भाँति उनके लिये भी आत्मोपलब्धि का पूर्ण सुप्रवसर दिया। उन्होंने सधीय मर्यादा को अखंड बनाये रखने के लिये बड़ी कुशलता से विधान तैयार किया, ताकि किसी भी तरह की अव्यवस्था तथा अनाचारिता को आश्रय न मिल सके।

जैन धर्म में ब्राह्मी, सुन्दरी, चंदना, मृगावती आदि ऐसी कितनी ही नारियाँ हुई हैं जिन्होंने ससार का त्याग कर सिद्धि प्राप्त की तथा जन-कल्याण की दिशा में अपने उन्नत विचारों का प्रचार किया। आर्या चंदना बड़ी विदुषी महिला थी जिस पर भगवान महावीर की महती कृपा थी। अनेक स्त्रियों ने उनसे दीक्षा लेकर निर्वाण पद की प्राप्ति की थी। यही भगवान महावीर की प्रथम शिष्या थी। श्रवणिकाओं में उनका स्थान बहुत ऊँचा था। इनके नेतृत्व में छत्तीस हजार भिक्षुणियाँ थीं। इसी तरह सुन्दरी तथा ब्राह्मी के नेतृत्व में तीन लाख, बुद्धमती के नेतृत्व में पचपन हजार तथा यक्षिणी के नेतृत्व में चालीस हजार भिक्षुणियाँ थीं। जैन संघ में स्त्रियों की सुरक्षा हेतु पूर्ण व्यवस्था थी। यदि कोई भिक्षुणी के चारित्रिक पतन हेतु प्रयत्नशील होता तो उसका वध कर डालने तक का आदेश था। स्त्री तथा पुरुष में कहीं भी भेदभाव नहीं रखा जाता था और न ही स्त्रियों की उपेक्षा की जाती थी।

भगवान महावीर नारी के प्रति इतने उदार एवं स्नेहशील थे कि कभी उसे अपमानित होते नहीं देख सकते थे। उनका कथन था यदि कि कोई स्त्री किसी कारण वश अपनी चारित्रिक गरिमा से गिर जाती है तो उसके लिये

स्त्री को नहीं वरन् उस पुरुष को दण्ड देना चाहिये जो नारी को कलंकित करने का मूल कारण है क्योंकि स्त्री स्वभावतः सरल और निश्छल होती है और पुरुष ही उसे बहकाता है। इस मन्त्र में कहा जाता है, कि एक बार एक गृहस्थ ने एक सुन्दर साध्वी की भिक्षाटन को जाते हुये देखा। उस पुरुष के साथ उसका मित्र भी था जिसकी पत्नी का निधन हो चुका था। उस गृहस्थ ने अपने मित्र से कहा कि यह साध्वी तुम्हारी पत्नी बनने योग्य है। तुम इसे किसी तरह तैयार कर लो। मित्र के मन में विकार आ गया। एक बार जब वह साध्वी भिक्षा हेतु उसी मित्र के द्वार पर पहुँची तो उसने अपने पुत्रों से साध्वी के चरण-स्पर्श करने के लिये कहा और यथोचित भिक्षान्न देकर उसका सत्कार किया। इसी तरह वह जब भी उस द्वार भिक्षा के लिये पहुँचती, मित्र के पुत्र वैसा ही करते और मित्र साध्वी को आवश्यकता से अधिक वस्तुयें भिक्षा में देकर उसका आदर-सत्कार कर अपने घर में ही निवास करने का प्रलोभन देता। मधुर व्यवहार और यथेष्ट आदर-सत्कार पाकर अतः साध्वी उसके प्रलोभन में आ गयी। फलतः वह गर्भवती हुई। इसका समाचार जब भगवान महावीर तक पहुँचा तो उन्होंने कहा—इसमें उस साध्वी का क्या दोष? दंड उस पुरुष को ही मिलना चाहिए जिसने उसके सरल हृदय को बहकाया है।

भगवान महावीर का नारी जाति के प्रति करुण भाव का एक अन्य उदाहरण साध्वी चंदना के साथ मिलता है। कहा जाता है कि जब वह नन्हों वालिका ही थी तब डाक उसके माता-पिता को मारकर उसे उठा ले गये थे और बाद में उसे एक श्रेष्ठि को बेच दिया था। श्रेष्ठि ने बड़े स्नेह से उसे पाला। जब वह युवा हुई तो उसकी रूप-राशि को देखकर श्रेष्ठि की पत्नी के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि कहीं श्रेष्ठि उसे अपनी पत्नी बनाने के लिये तो नहीं पाल रहे हैं? सन्देह सर्प ने उसके विवेक को डस लिया और वह चंदना को धीरे-धीरे यातनायें देने लगी। एक बार चंदना भुक्त कर गृह-कार्य कर रही थी जिससे उसकी केश राशि बिखरकर घरती का स्पर्श करने लगी। श्रेष्ठि ने यह देखा तो स्नेह वश उसकी केशराशि को समेट कर

गर्दन में लपेट दिया। श्रेष्ठि की पत्नी यह देखकर क्रोधित हो उठी और उसने चंदना के हाथ पैरों में बेड़ी डलवाकर उसे एक कोठरी में बंद करवा दिया। भगवान महावीर ने उसका उद्धार किया और उसे अपनी शिष्या बना लिया। इस घटना से वे इतने दुखी हुये कि परतंत्र शोषित नारी को पूर्ण स्वाधीन बनाने की दिशा में कृतसंकल्प हो गये। उन्होंने इसी चंदना को लेकर नारी-मुक्ति अभियान का शुभारम्भ कर दिया। चंदना नारी सघ की प्रथम संवालिनी बनकर स्त्रियों को साध्वी बनाने की दिशा में अग्रसर हुई। उनका यह अभियान अत्यन्त सफल रहा।

भगवान महावीर स्त्रियों को सदैव आदर की दृष्टि से देखते थे। “बृहत्कल्प भाष्य पीठिका” में यह उल्लेख मिलता है कि एक बार राजा को अपनी रानी के चरित्र पर सन्देह हुआ और उसने प्रतिशोध लेने के लिये रानी के अन्तःपुर में आग लगवा दी जिससे रानी उसमें जीवित ही जलकर मर गई। भगवान महावीर ने जब सुना तो दुःखित होकर उस राजा से कहा तुम भी उस अग्नि में क्यों नहीं जल कर मर गये? तुम्हें धिक्कार है। जैन सूत्रों में स्त्रियों को चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में गिना है। “बृहत्कल्प भाष्य” के अनुसार जल, अग्नि, चौर तथा दुष्काल का संकट उपस्थित होने पर सर्वप्रथम स्त्रियों की रक्षा करनी चाहिये। इस तरह यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्शन में स्त्रियों को बहुत सम्माननीय स्थान प्राप्त था।

इस तरह नारी के प्रति भगवान महावीर की करुणा, समता, स्नेह और उदारता इतनी कल्याणमयी सिद्ध हुई कि नारी ने पुरुषों के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त किये। वह पुरुष की सम्पत्ति की भी उत्तराधिकारिणी बनी। नारी जाति की यह एक ऐसी महान् उपलब्धि थी कि पारिवारिक एवं सामाजिक धरातल पर उसने अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा स्थापित की। समस्त नारी जाति के लिये एक महान् उदारचेता उद्धारक के रूप में भगवान महावीर युग-युग तक श्रद्धेय एवं वदनीय हैं।

मनीषा भवन, चोपड़ा कालोनी,
अम्बिकापुर (सरगुजा) मध्यप्रदेश

रिषभ प्रतिमा का एक विशेष चिन्ह : जटारूप केशराशि

□ श्री रतनलाल कटारिया, केकड़ी (राजस्था)

तीर्थंकरों के दाहिने पैर में जो विशेष चिन्ह होता है वही उनकी प्रतिमाओं में संबंधवहार के लिए प्रसिद्ध किया गया है। चिह्नों का प्रयोग करीब षवी शती में प्रारम्भ हुआ है। दाहिने पैर में होने से ये चिह्न प्रतिमाओं के पाद-पीठ (चरण-चोकी) पर अंकित किये जाते हैं। शास्त्रों में २४ तीर्थंकरों के २४ भिन्न-भिन्न चिह्न बताये गये हैं। ये चिह्न ऐसे हैं जिन्हें देखकर अशिक्षित भी तीर्थंकर प्रतिमा की पहचान कर सकता है। ये चिह्न तीर्थंकरों के वाहनरूप या ध्वजारूप नहीं हैं किन्तु सिर्फ प्रतिमा की पहचान के लिए कायम किये गये हैं।

तिलोयपण्णत्ती आदि ग्रंथों में प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ का चिह्न वृषभ (बैल) बताया गया है।

(१) तीर्थंकर जब माता के गर्भ में आते हैं तो माता निद्रा में अपने मुख के अन्दर प्रवेश करता हुआ हाथी देखती है। २३ तीर्थंकरों के चरित्र में ऐसा ही बताया गया है किन्तु ऋषभदेव की माता मरुदेवी ने हाथी के बजाय मुह में वृषभ प्रवेश करता हुआ देखा था।

(२) युग के आदि में ऋषभ ने वृषभ (बैल) से कृषि-विद्या का उपदेश दिया था जिससे वे कुलकर कहलाये थे।

(३) 'ऋषभ' और 'वृषभ' एकार्थवाची हैं। अतः इनके नाम में भी इनका चिह्न गभित है।

इस प्रकार प्रथम (आदि) तीर्थंकर का चिह्न वृषभ प्रसिद्ध है।

भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा लेते ही ६ माह की समाधि ले ली थी। समाधि पूरी होने पर जब वे आहार के लिए उतरे तो कहीं भी शास्त्रानुसार आहार का योग नहीं मिला। इससे उन्होंने फिर ६ माह की और समाधि ग्रहण कर ली। इस तरह एक वर्ष तक समाधि में लीन रहने से उनके दीर्घ जटायें बढ गईं। इसका उल्लेख

निम्नांकित ग्रंथों में इस प्रकार पाया जाता है :

(१) जं ज उवणेइ जणो, त त नेच्छइ जिणो विगयमोहो।

लबत जडा भारो, णरवइ भवण समणुपत्तो ॥८॥

—पउमचरिय (विमलमूर्तिकृत) अ० ४.

अर्थ—जो जो वस्तु मनुष्य लाते, वह वह मोहहीन भगवान् को अच्छी नहीं लगती। वे ऋषभदेव जिनकी लंबी जटाओं का भार था राजा श्रेयास के महल के पास पहुँचे।

(२) पउमचरित (रविषेणाचार्यकृत) —

क. स रेजे भगवान् दीर्घ जटाजाल हुताशुमान् ॥५॥ पर्व ४

ख. वातोद्धता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्त्तयः ॥२८८॥ पर्व ३

ग. प्रलबितमहाबाहुः प्राप्तभूमि जटाचयः ॥२८९॥ प. ११

अर्थ—भगवान् ऋषभदेव के दीर्घ तपस्या के कारण जटायें इतनी बढ गई थीं मानो वे भूमि को ही छूने लग गई थीं।

(३) हरिवंशपुराण (जिनसेनाचार्यकृत)—

स प्रबल जटाभारभ्राजिष्णुजिष्णुगबभौ ॥२०४॥ सर्ग ९

(४) महापुराण (जिनसेनाचार्य द्वितीयकृत) पर्व १८
सस्कारचिह्नात्केशा जटीभूतास्तदा विभो ॥७५॥

मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूर प्रणम्य पवनोद्धताः ॥७६॥

विर तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभूवरा ॥८॥ पर्व १

(५) पउमचरित (स्वयभूकृत) सधि २, कडवक ११

छद ६ :—

पवणद्धयउ जडाउ रिमह हो रेहति विसालउ ॥

(६) दोलतराम जी कृत भजन—

देखो जी आदीश्वर स्वामी, कैसा ध्यान लगाया है।

श्यामलि अलकावलि शिर सोहे, मानों धुआं उड़ाया है ॥

(७) आदितीर्थंकर ऋषभदेव (कामताप्रसाद जी कृत) पृ० १२७ :—

इस केश-जटा के कारण ही भगवान् “केशी” नाम से प्रसिद्ध हुए ।

(८) अर्हदासकृत—“पुरुदेव चम्पू” सर्ग ८, पृ. १५७ —

जटीभूतः केशाविभुशिरसि संस्कारविरहा,

त्रदानी ध्यानाग्निप्रतपनविशुद्धस्य बहुधा ॥३॥

(९) वत्तीसुवरास मुणीसरह कुडिला उचियकेस ॥

—महापुराण (पुष्पदत्तकृत) ३७, १७

इसी भाव को आधार बनाकर प्राचीन मूर्तिकारों ने ऋषभ प्रतिमा के कंधों पर लंबे लंबे केश प्रदर्शित किये हैं । कुषाणकाल (२-३ शती) से लेकर आधुनिक युग तक इसका प्रचलन रहा है । ऐसी हजारों प्राचीन प्रतिमाये पाई जाती हैं । बघेरा क्षेत्र पर भी ऐसी ८-१० प्रतिमाये हैं ।

इन सब में अनेक पर प्रशस्ति-लेख भी पाये जाते हैं जिन्हमें ऋषभदेव का स्पष्ट नाम भी दिया हुआ है । किसी पर वृषभ चिह्न भी है । किसी पर न नाम है, न चिह्न है फिर भी कंधों पर की केशराशि से वे निश्चित ऋषभदेव की ही हैं ।

चउपण्ण-महापुरिस-चरिय (शीलाकाचार्यकृत), त्रि-शष्टिशलाका-पुरुष-चरित (हेमचन्द्राचार्यकृत) आदि श्वेतांबर ग्रंथों में कही भी भगवान् की जटाओं का वर्णन नहीं है । इससे यह भी एक दि० श्वे० भेद रहा मालूम देता है । अतः जिन प्रतिमाओं के कंधों पर केशराशि हो, वे निश्चित रूप से एकमात्र दिगंबरी ऋषभ प्रतिमा ही मानी जानी चाहिए क्योंकि ऐसी श्वे० प्रतिमायें उपलब्ध भी नहीं होती ।

जिम तरह केशराशि से ऋषभ प्रतिमा पहचानी जाती है उसी तरह ३, ७, ११ फणावली से पाश्वर्क प्रतिमा और १, ५, ९ फणावली से सुपाश्वर्क-प्रतिमा एवं पावों में लिपटी बेल से बाहुवली-प्रतिमा की पहचान की जाती है । ये ही इनके विशेष चिह्न-स्वरूप हैं ।

सभी जैन प्रतिमायें ध्यानस्थ योगी-मुद्रा में होती हैं । चाहे वे पद्मासन हो या खड्गासन, सभी कायोत्सर्ग अवस्था में ही होती हैं, जो वीतराग स्वरूप की द्योतक है । इन्हें मुकुट पहिनाना, इनके आँखें लगाना, अंगियां रचना,

वस्त्राभरण पहनाना, गले में फूल माला डालना, हाथों में फूल चढ़ाना, चन्दन-केसर लगाना—यह सब योगिमुद्रा की विडम्बना है, वीतरागता का अवर्णवाद है ।

जटाजूट वाली ऋषभ प्रतिमा का उल्लेख प्राचीन साहित्य में भी काफी पाया जाता है । प्रमाण के लिए देखिये :—

१-आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउड सेहरिलपाओ ।

पडिमो परिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥२३०

पुप्फिद पंकज पीडा कमलोदर सरिसवण्णवरदेहा ।

पढम जिणप्पडिमाओ भरति जे ताण देति णिब्बाणं ॥२३१

—तिलोयपण्णत्ती (यतिवृषभाचार्यकृत) अ. ४

अर्थ— वे आदि जिनेन्द्र की प्रतिमायें जटामुकुटरूपी शेखर से युक्त हैं । उन प्रतिमाओं के ऊपर गंगा नदी मानों अभिषेक करती हुई गिरती है । फूले हुए कमलों का जिनके आसन—पादपीठ है, सुन्दर देह वर्ण से युक्त हैं, ऐसी प्रथम जिनेन्द्र की प्रतिमाये हैं । जो इनकी सेवा पूजा करता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है ।

२-सिरिगिह सीसठियंबुजकणिय सिहासणे जडामउलं ।

जिणमभिसित्तुमणा वा ओदीण्णा मत्थरा गगा ॥५६०॥

—तिलोयसार (नेमिचन्द्राचार्य कृत)

३-पडमु जिणवरणाविव भावेण जड मउड विहूसिउ ॥

—सुकुमालचरित (अपभ्रंश)

४-विवेश चिन्तयन्नेव भवनं तन्मनोहरं ।

सत्फुल्लवदनाभोजो ददर्श च जिनाधिपं ॥६४॥

हुताशनशिखागौर पूर्णचन्द्रनिभानन ।

पद्मासनस्थित तुगं जटामुकुटधारिणं ॥६५॥

—पद्मचरित (रविवेणाचार्यकृत), पर्व २८

५-दीहजडामउडकयसाहं (दीर्घजटामुकुटकृतशोभं) ॥३६॥

—पउमचरिय (विमलसूरिकृत), पर्व २८

अर्थ— प्रसन्न वदन वाले राजा जनक ने सुन्दर जिनालय में प्रवेश किया और वहाँ अग्निशिखा के समान पीतवर्ण वाली, पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर गोल मुख मण्डल वाली, जटा मुकुट से युक्त, विशाल और पद्मासन से स्थित आदि जिनेन्द्र की प्रतिमा के दर्शन किये ।

इन प्रमाणों से भी सिद्ध है कि कंधों पर बिखरी

केशराशि वाली प्रतिमायें ऋषभदेव ही की होती हैं। फिर भी, कुछ दूसरे कारणों से भूल-भ्राति का शिकार होकर साधारण लोगों ने ही नहीं किन्तु पुरातत्त्वज्ञ-मूर्तिविज्ञान-विशेषज्ञ विद्वानों तक ने ऐसी प्रतिमाओं को महावीर आदि अन्य तीर्थङ्करों की मान ली है। इन गलतियों का जितनी जल्दी सशोधन हो उतना ही श्रेयस्कर है ताकि सही इतिहास अक्षुण्ण रह सके। इसी सदुद्देश्य से नीचे ऐसी प्रतिमाओं का समीक्षात्मक परिचय प्रस्तुत किया जाता है :—

१. जयपुर में गोपालजी के रास्ते में काला डेहरा के महावीर जी का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। उसमें भव्य प्राचीन कलापूर्ण एक खड्गासन, करीब ८ फुट ऊँची लाल काले पाषाण की प्रतिमा है। उसके कंधों पर केशराशि बिखरी हुई है, किन्तु नीचे चरणचौकी पर दो सिंह मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इससे लोगों ने उसे महावीर स्वामी की प्रतिमा मानकर मन्दिर को महावीर स्वामी के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है। इस प्रतिमा पर स० ११४८ खुदा है। आगे का सारा प्रशस्ति लेख घिसा हुआ है।

यह प्रतिमा वास्तव में ऋषभदेव भगवान् की है, जैसा कि उसके कंधों पर बिखरी केशराशि से प्रमाणित होता है। नीचे जो दो सिंह मूर्तियाँ हैं वे महावीर स्वामी के चिह्न रूप में नहीं हैं किन्तु सिंहासन नाम को सार्थक करने की दृष्टि से मूर्तिकार ने उत्कीर्ण की है। अगर एक मूर्ति होती तो 'सिंह चिह्न' रूप में कदाचित् मानी जा सकती थी। लोग भूल-भ्रान्ति में नहीं पड़ें इसी से मूर्तिकार ने २ सिंहों को और वह भी मूर्ति-आकार रूप में उत्कीर्ण किया है, न कि रेखामय चिह्न रूप में (मूर्ति उभरे आकार रूप में होती है और चिह्न सिर्फ रेखारूप में चित्रित होता है। यह मूर्ति और चिह्न में खास अन्तर है।) फिर भी लोग भूल-भ्राति में पड़ ही गये। अब तक उस और किसी का लक्ष्य नहीं जा पाया है, यह और भी खेद की बात है।

इस प्रतिमा का फोटो अब की 'महावीर जयती स्मारिका ७६' के शुरू में छपा है। जब मेरी दृष्टि इस और गई तो मैं जयपुर गया और प्रतिमा के अच्छी तरह दर्शन

किये। जिससे मुझे दृढ़ विश्वास हो गया कि यह प्रतिमा ऋषभदेव ही की है, महावीर स्वामी की नहीं।

सारी बातें मैंने श्रीमान् पं० भंवरलाल जी पोल्याका, श्री पं० भवरलाल जी न्यायतीर्थ, श्री पं० कस्तूरचन्द जी कासलीवाल एवं श्री पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ, जयपुर को बताईं तो उन्होंने भी मेरी बात को स्वीकार करते हुए इस पर एक लेख लिखने की प्रेरणा की। तदनुसार यह निबंध प्रस्तुत किया गया है।

ऐसा मालूम होता है कि उक्त प्रतिमा के प्रशस्ति लेख में कहीं ऋषभनाथ का नाम था, जब कि लोगों ने दो सिंहमूर्ति से इस प्रतिमा को महावीर स्वामी की कायम कर ली थी। ऐसी हालत में यह नाम स्पष्ट बाधा डालता था। अतः तत्काल सारी प्रशस्ति को ही घिस दिया गया, सिर्फ "सं० ११४८" रहने दिया गया।

इस प्रतिमा के आजू-बाजू में, सामने और दोनों आड़े पार्श्वभागों में कुल मिलाकर ४ खड्गासन प्रतिमायें और विराजमान हैं जिनके भी पादपीठ पर २-२ सिंह मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। किन्तु इनमें की ३ प्रतिमाओं के सिर पर फणावलियाँ भी हैं जिनसे वे स्पष्टतया पार्श्व या सुपार्श्व की प्रतिमायें हैं। अगर दो सिंह वाली मूर्ति के होने से किसी प्रतिमा को महावीर स्वामी की मानी जाए तो इन सब प्रतिमाओं को भी महावीर स्वामी की ही मानना होगा, जबकि इनके सिर पर फणावली होने से ये निश्चित ही पार्श्व-सुपार्श्व की प्रतिमायें प्रमाणित हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि दो सिंहमूर्तियाँ महावीर का चिह्न नहीं हैं किन्तु वे सिंहासन की प्रतीक हैं।

कालाडेहरा मन्दिर, जयपुर की प्रबंधकारिणी कमेटी से सादर निवेदन है कि वह इस मसले पर शांति और गम्भीरता के साथ विचार करे और शीघ्र ही सशोधनात्मक समुचित कदम उठाये ताकि सही इतिहास का लोप न हो और वास्तविक तथ्य सामने आए।

२. केकड़ी से १५ मील दूर सावर ग्राम में नेमि प्रभु का एक चैत्यालय है, जिसमें काले पाषाण की एक पद्मासन प्रतिमा है जिसके कंधों पर केशराशि है जिससे कि वह निश्चित रूप से ऋषभदेव की है, किन्तु यहां के बन्धुओं ने उसे नेमिनाथ स्वामी की कायम कर रखी है और उन्होंने

के नाम पर मन्दिर भी नेमि चैत्यालय के नाम से प्रसिद्ध कर रखा है।

चम्पू क्लब, सावर द्वारा सन् १९७६ में प्रकाशित 'श्री नेमि स्तवन' पुस्तिका में लिखा है कि—“नीव से प्राप्त होने के कारण इस प्रतिमा का नामकरण श्री नेमिनाथ किया गया तथा प्रतिमा की प्रशस्ति देखने से ज्ञात होता है कि यह वीर निर्वाण संवत् २११ की प्रतिष्ठित है। अतः यह २३०० वर्ष प्राचीन है।”

समीक्षा—नीव से प्राप्त होने के कारण प्रतिमा को नेमिनाथ की मानना बिल्कुल गलत है। नीव से तो हजारों-लाखों प्रतिमाये निकलती है। क्या वे सभी नेमिनाथ स्वामी की है? अगर नहीं तो यह हेतु अकार्यकारी और मिथ्या है। नेमि का अर्थ नीव भी नहीं होता और न इस प्रतिमा पर कहीं नेमि प्रभु का चिह्न शिखर दिया हुआ है। प्रशस्ति में भी कहीं नेमिनाथ नाम नहीं लिखा हुआ है। तब बिना किसी आधार के इस प्रतिमा को नेमिनाथ की मानना स्पष्टतया भूल भरा है।

गत फाल्गुन में इस मन्दिर का मेला था। तब मैं सावर गया था। मैंने वहाँ इस प्रतिमा के अच्छी तरह दर्शन किये और प्रशस्ति लेख पढ़ा तो निम्नांकित तथ्य अवगत हुए—

(१) प्रतिमा के कंधों पर केशराशि होने से यह निश्चित रूप से ऋषभदेव प्रतिमा है।

(२) प्रशस्ति लेख में भी “ऋषभनाथ परमेष्ठिन्” पढ़ने में आता है। इससे स्पष्ट है कि यह प्रतिमा ऋषभदेव की ही है।

(३) प्रशस्ति लेख में 'स० ११२१' से स्पष्ट चार अक्षर दिये हुए हैं। फिर भी लोगो ने प्रतिमा को अति प्राचीन बताने के लिए तीन ही अक्षर (२११) कायम कर रखे हैं। इसके सिवाय प्राचीनता में और भी वृद्धि करने के लिए संवत् को वीर निर्वाण संवत् बता दिया है। इससे पाँच सौ वर्ष और बढ़ा दिये हैं। इस तरह नौ सौ वर्ष प्राचीन प्रतिमा को २३ सौ वर्ष प्राचीन कर दी गई है। यह सब अति मोह का परिणाम है।

सावर के बधुओं से नम्र निवेदन है कि वे इस पर पुनर्विचार करें और यथाशीघ्र विशेषज्ञों से परामर्श कर

समुचित संशोधन करें। अगर मेरी बात उन्हें ठीक प्रतीत हो तो वे प्रतिमा और मन्दिर को ऋषभदेव का प्रकट करें, जिससे सही इतिहास सामने आए।

३. वीर प्रेस, जयपुर में इसी प्रसंग पर मैं पं० भंवरलाल जी न्यायतीर्थ से चर्चा कर रहा था तो उन्होंने वहीं टगे कुंडलपुर (दमोह) के बड़े बाबा की प्रतिमा के चित्र की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया। इस चित्र पर महावीर स्वामी लिखा हुआ था। इसमें भी पादपीठ पर दो सिंह मूर्तियाँ दी हुई हैं, इससे इसे लोगों ने महावीर स्वामी की प्रतिमा समझ लिया है। किन्तु इसमें कानों के नीचे लटकती केशराशि चोतित की है, इससे यह स्पष्ट ही ऋषभदेव की प्रतिमा ज्ञात होती है। दो सिंह तो सिंहासन के प्रतीक हैं, चिह्न रूप नहीं। इसके सिवाय इस प्रतिमा के आजू-बाजू में जो यक्ष-यक्षिणी हैं, वे आशाघर-प्रतिष्ठापाठ के अनुसार, ऋषभदेव, ही के हैं महावीर के नहीं।

इस तरह कुण्डलपुर (दमोह) की यह प्रसिद्ध मनोज्ञ प्रतिमा भी महावीर स्वामी की नहीं है, ऋषभदेव (बड़े बाबा) की ही है। आज तक लोग इसे बराबर महावीर स्वामी की ही प्रतिमा प्रचारित करते आ रहे हैं। इस ओर भी संशोधन के लिए शीघ्र ध्यान दिये जाने की जरूरत है।

४. अभी वीर निर्वाण रजत शती महोत्सव के अवसर पर वीर-प्रचार की धुन में अनेक प्राचीन मूर्तियों को, जो ऋषभदेव की हैं, पाद-पीठ पर दो सिंह होने से उन्हें महावीर स्वामी की चोतित कर दिया है, जो स्पष्ट भूल है। उदाहरण के लिए देखिए इन्दौर से प्रकाशित अप्रैल, ७६ के सन्मति-वाणी (मासिक पत्र) का मुख पृष्ठ। इस पर खजुराहो की एक प्राचीन मूर्ति का चित्र दिया है और उसे महावीर जिनमूर्ति लिखा है, जबकि यह मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है, क्योंकि इसके कंधों पर केशराशि उत्कीर्ण है एवं कंधों के ऊपर दोनों बाजू में वृषभ भी अंकित है। इससे स्पष्टतः यह ऋषभ प्रतिमा है। पाद-पीठ में दो सिंहों के अंकन से भूलभ्रांतिवश इसे महावीर मूर्ति लिख दिया गया है।

चांदसेड़ी, देवगढ़, गोलाकोट, चंदेरी आदि क्षेत्रों की

कतिपय ऋषभ प्रतिमाओं की भी ठीक यही हालत है। उन्हें भी इसी प्रकार महावीर की मान लिया गया है।

५. अनेकांत, वर्ष २४, किरण १ में जबलपुर हनुमान ताल के बड़े जैन मन्दिर की एक कलचुरि कालीन प्राचीन प्रतिमा को, जो खिले कमल पर विराजमान है, लेखक ने पद्मप्रभु की बताई है, किन्तु वह भी ऋषभनाथ की ही है, क्योंकि उसके भी कंधे पर केशराशि विकीर्ण है। यहां कमल आसन के रूप में दिया है चिह्न के रूप में नहीं। 'तिलोपपण्णत्ती', अ० ४, गाथा २३१ (यह गाथा इसी लेख में पीछे उद्धृत है) में ऋषभ प्रतिमाओं को 'पुष्पिद-पंक-जपीठा' अर्थात् खिले हुए कमलों के आसन पर विराजमान बताया है। तदनुसार ही जबलपुर की उक्त प्रतिमा निमित्त हुई है।

कारीतलाई से उपलब्ध ३॥ फुट ऊँची एक ऋषभ प्रतिमा रायपुर संग्रहालय में है। उसके पादपीठ पर सिंह युग्म के साथ हस्तियुग्म भी उत्कीर्ण है। हस्ति के आधार पर, उक्त ऋषभ प्रतिमा को अजितनाथ की नहीं माना जा सकता। बहुत-सी प्रतिमाओं के आसन पर हिरण उत्कीर्ण है। हिरण के आधार पर उक्त प्रतिमाये शातिनाथ की नहीं मानी जा सकती।

यह सब सिंह, कमल, गज, मृगादि का अंकन सिंहासन, कमलासन, गजासन मृगासन के रूप में है, तीर्थङ्करों के चिह्न रूप में नहीं।

अतः आसनो पर के अंकन के आधार पर प्रतिमा का निश्चय नहीं होना चाहिए। किन्तु उसके दूसरे साधारण या विशेष चिह्नों के आधार पर ही प्रतिमा का निर्णय होना चाहिए, तभी वास्तविकता की उपलब्धि हो सकेगी।

ऋषभदेव केशरियानाथ के नाम से भी प्रसिद्ध है। यह नाम इनके केशर चटाई जाने की अपेक्षा केशर-जटाधारित्व अर्थ में ज्यादा सुसंगत है। केश-केशर जटा एकार्थवाची है। केशों की विशेषता से ही सिंह केशरी कहलाता है।

ऋषभदेव के केशी और कपर्दी=जटाजूट रूप (कपर्दी-स्य जटाजूट - अमरकोष) का उल्लेख वैदिक ग्रंथों में भी पाया जाता है देखिए :—

(१) कपर्द्वे वृषभो युक्त आसीद्,

अवावचीत् सारथिरस्य केशी ।

दुर्वैर्युक्तस्य द्रवत् सहानस,

ऋच्छति मा निष्पदो मुद्गलानी ॥

(ऋग्वेद १०, १०२, ६)

(२) केश्यग्निं केशी विषं, केशी विभति रोदसी ।

केशी विश्व स्वर्दृशे, केशीद ज्योतिरुच्यते ॥

(ऋग्वेद १०, १३६, १)

(३) गगनपरिधानः प्रकीर्णकेशः परागवलम्बमान कुटिलजटिलकपिशकेशभूरिभारः ऋषभः ।

(भागवतपुराण ५, ६, २८-३१)

प्रश्न जैन साधुओं के २८ मूल गुणों में केश लौच भी १ मूल गुण है। २ मास का केश लौच उत्कृष्ट, ३ मास का मध्यम और ४ मास का जघन्य माना जाता है। ज्यादा से ज्यादा ४ मास में तो केश लौच करना ही पड़ता है। तब ऋषभदेव ने १ वर्ष तक केश लौच क्यों नहीं किया जटा क्यों बढ़ाई ?

समाधान—तीर्थंकरों के लिए केशलौच का कोई नियम (समयावधि) नहीं है। दीक्षा लेते वक्त उन्हें केशलौच अवश्य करना होता है फिर वे इच्छानुसार जब चाहे तभी कर सकते हैं। उनके शरीर में बाहर निगोद जीव प्रतिष्ठित नहीं होते। उनके नीहार नहीं होने से उनके शरीर में कभी पसीना आदि मल स्राव नहीं होता, जिससे उनके केशों में सम्मूच्छन जीवों की उत्पत्ति भी नहीं होती एवं उनमें वीतरागता की उत्कटता होने से केशों में श्रृंगार-शोभा के भाव का भी अभाव होता है। अतः उनके जटा-रूप केश किसी तरह दोषास्पद नहीं माने गये हैं।

प्रश्न—लंबी जटाओं वाली ऋषभ प्रतिमायें अरिहतावस्था की हैं या मुनि अवस्था की ? अरिहतावस्था में तो लंबी जटाये नहीं होती, अतः ऐसी प्रतिमाओं में पूज्यता की दृष्टि से क्या कोई कमी है ?

समाधान ऋषभ-प्रतिमा की लंबी जटायें उनकी दीर्घकालीन तपस्या की सम्मारक हैं। जिस तरह बाहुवली-प्रतिमा की पैरों में लिपटी बले उनके एक वर्ष के दुर्घर तप और निश्चल ध्यान की परिचायक हैं एवं पार्श्व-प्रतिमा पर की फणाकृति उन पर हुए घोर उपसर्ग की परिसूचक

है। इसी तरह मुपाश्व-प्रतिमा की फणाकृति भी उनके विशेष इतिहास की द्योतक है।

इन सब बातों का उक्त प्रतिमाओं में अंकन उन महापुरुषों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं को बताने के लिए किया गया है।

इन कायोत्सर्ग अवस्था (ध्यान) में लीन प्रतिमाओं को हम चाहे मुनि अवस्था की भी मानें तो भी वे पंच-परमेष्ठी में गभित होने से परम पूज्य ही है। वैसे ये सब प्रतिमाएँ जो अग्रिहत हुए हैं उन्हीं की बनाई गई है।

शास्त्रों में केवली के भेदों में सोपसर्ग केवली भी बताये गये हैं, जबकि केवली अवस्था में उपसर्ग नहीं होता। उपसर्ग-युक्तों को केवली कहना जिस तरह (भूत या भावी) नैगमनय से निर्दोष है, उसी तरह इन प्रतिमाओं को भी अग्रिहत की कहने या मानने में कोई दोष नहीं है।

सभी जैन प्रतिमाएँ कायोत्सर्ग अवस्था में लीन होती हैं इनमें से अनेक अष्ट प्रातिहार्यादि से युक्त भी होती हैं। इसी कारण इन्हे समवशरण कालीन बताना सगत नहीं है, क्योंकि समवशरण में केवली पद्मासन से ही विराजमान रहते हैं, जब कि अष्टप्रातिहार्यादि से युक्त प्रतिमाएँ खड्गासन में भी पाई जाती हैं। अतः यह अष्टप्रातिहार्यादि भी तीर्थंकरों के अतिशय को द्योतित करने की दृष्टि से ही अंकित किये जाते हैं। अनेक प्रतिमाएँ सामान्य केवलियों की और सिद्धों की भी होती हैं। उनके समवशरण और अष्टप्रातिहार्य होते ही नहीं हैं।

स्वामी समन्तभद्राचार्य ने लिखा है : -

देवागमनभोगान चामरादि विभूतयः ।

मायाविश्वपि दृश्यते नातस्त्वमसि तो महान् ॥

अर्थात्—देवताओं का आना और चमर डोरना, आपका आकाश गमन में आदि अतिशय तो मायावियों (चक्रवर्तियों) में भी पाये जाते हैं, इसी से आप महान् नहीं हैं।

बहुत-सी तीर्थंकर-प्रतिमाएँ भी अष्टप्रातिहार्यादि से रहित पाई जाती हैं। (उनके तीर्थंकरत्व की पहिचान उनके चिह्नों से होती है)। आजकल की तो सभी प्रतिमाएँ प्रायः अष्टप्रातिहार्यादि से रहित ही होती हैं। ये भी सब पूज्य हैं और अग्रिहत की ही हैं।

प्रश्न—जटाकेश वाली ऋषभ प्रतिमा और फणा-मण्डप वाली पार्श्व प्रतिमा का सही आसन क्या है? जब ऋषभदेव ध्यान में बैठे और पार्श्व प्रभु पर जब उपसर्ग हुआ तब वे पद्मासन या खड्गासन जिस आसन में थे वही सही आसन उनकी ऐसी प्रतिमाओं में होना चाहिए। किन्तु उनकी ऐसी प्रतिमाएँ दोनों ही आसनों में पाई जाती हैं। अतः दोनों आसनों में से कोई एक आसन वाली गलत है, अवास्तविक है।

समाधान—(१) प्रतिमा सब अग्रिहतों की है। इसी से दोनों आसनों में बनाई गई है। जटा और फणा-मण्डप का अंकन भूतकालिक जीवन की विशिष्ट घटना के स्मारक रूप में है।

(२) २४ तीर्थंकरों के शरीर का जैसा आकार (लंबाई-चोड़ाई) तथा रंग था, वही जब प्रतिमाओं में नहीं है फिर भी वे उन्हीं की वास्तविक मानी जाती हैं तो आसनों के अन्तर से अवास्तविकता नहीं हो सकती।

(३) अगर ये जटा और फणा-मण्डप किसी एक खास आसन से ही सम्बन्ध रखते, दूसरे आसन से संभव नहीं हो सकते होते, तब फिर भी अवास्तविकता की बात होती। किन्तु ऐसा है नहीं। इनके होने में कोई आसन बाधक नहीं है; जैसे बाहुबली स्वामी की प्रतिमा खड्गासन में ही होती है। खड्गासन में बेलों आदि का अंकन ठीक हो जाता है, पद्मासन में नहीं। इसी से बाहुबली प्रतिमा पद्मासन में नहीं पाई जाती। बाहुबली कोई तीर्थंकर नहीं हुए हैं, अग्रिहत अवश्य हुए हैं, फिर भी इनके जीवन की दुर्घर तपस्या को प्रदर्शित करने की दृष्टि से ही इनकी प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं।

ये सब दिगम्बर कायोत्सर्गावस्था में होती हैं। अतः परम पूज्य हैं।

हम नित्य देव दर्शन करते हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य वीतराग-स्वरूप दिगम्बर कायोत्सर्ग मुद्रा की ओर ही होना चाहिए, तभी दर्शन की सफलता है। प्रतिमा संग-मरमर की है या रत्नों की, पीतल की है या सोने की, काली है या सफेद, खड्गामन है या पद्मासन, अष्टप्रातिहार्ययुक्त है या रहित, ऋषभनाथ की है या महावीर की, छोटी है या बड़ी, सोने के छत्र-भामंडलादियुक्त है या

रहित, सुन्दर मुस्कराती है या सामान्य, प्राचीन है या अर्वाचीन, मनोहर मन्दिर वेदी में है या अन्यत्र इत्यादि सब विकल्प गौण हैं।

वस्तुतः जैन-प्रतिमा-निर्माण का उद्देश्य दि० कायो-त्सर्ग ध्यानमुद्रा को ही सिर्फ बताना रहा है। अतः वे समस्त सांसारिक विषयों से विमुख, रागद्वेषरहित, बीत-राग-स्वरूप होती हैं। उनके शरीर पर शस्त्रास्त्र, वस्त्रा-भूषण, केश-सज्जा, फूल, शृंगार, मुकुट, कुण्डल, वाद्यादि नहीं होते; स्त्री, पुत्र, भाई, आदि, परिकर, अंगरक्षक, वाहन आदि भी वे धारण किये हुए नहीं होती। ये सब चीजें

जैन प्रतिमा में उसकीर्ण नहीं होती, फिर भी ऊपर से उन्हें किसी भी तरह शृंगारित-भूषित करना दूषण है। अगर जैन प्रतिमा किसी सामान्य पुरुष रूप में बनाई जाती, तो फिर भी ऊपर से उस पर इच्छानुसार शृंगारादि सम्भव हो सकता था, किन्तु वे तो बनाई ही निर्गन्ध ध्यान-मुद्रा में जाती हैं। अतः ऊपर से उन्हें शृंगारित-सरागी करना उनकी विडम्बना है। यह सब एक तरह की असंगत विकृत प्रक्रिया है।

केकड़ी (अजमेर) राजस्थान



(पृ० ७ का शेषांश)

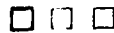
मूर्ति क्रमांक २०८ व २०९ में पार्श्वनाथ व ऋषभनाथ अंकित हैं। दोनों काले स्लेटी पाषाण से निर्मित हैं। ये दोनों प्रतिमायें उज्जैन से ही उपलब्ध हुई थीं। यहां संगृहीत १० प्रतिमायें सर्वतोभद्र महावीर की हैं, जिन पर पारदर्शी वस्त्र है। सभी में तीर्थंकर पद्मासन में ध्यानमग्न मुद्रा में हैं। ये भी उज्जैन से ही प्राप्त हुई थीं।

मंडला जिले के शहपुरा, कुकरमिठ एवं बिभीली नामक स्थलों से भी जैन प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं। शहपुरा-निवास मार्ग पर, निवास तहसील से २ मील की दूरी पर एक वृक्ष के नीचे भगवान् शांतिनाथ की एक कलात्मक एवं पूर्ण सुरक्षित प्रतिमा है। डिन्डोरी तहसील के निकट कुकरमिठ नामक ग्राम के प्राचीन देवालय के सामने पार्श्वनाथ एवं ऋषभनाथ की प्रतिमायें रखी हुई हैं।

शहपुरा से प्राप्त ऋषभनाथ एवं पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ सम्प्रति जिला संग्रहालय, मंडला में संरक्षित हैं। पार्श्वनाथ की प्रतिमा पद्मासन में ध्यानमग्न है। ४८" × ३०" आकार की इस प्रतिमा के पैर खंडित हैं। सिर पर सप्त-फणों का धितान एवं त्रिछत्र है। पादपीठ के दोनों ओर सबसे नीचे पूजक एवं बिद्याधर अंकित हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्य-काल में मध्यप्रदेश के विस्तृत भूभाग में अन्य धर्मों के साथ-साथ जैन धर्म का भी अच्छा प्रचार एवं प्रभाव था। इन जैन प्रतिमाओं की मध्यप्रदेश की संस्कृति को अभूत-पूर्व देन है।

व्याख्याता, शासकीय महाविद्यालय,
डिन्डोरी (मण्डला), मध्यप्रदेश



सात तत्त्व

□ श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

ससार में हमें क्या-क्या जानना जरूरी है ? जंमे बीमार आदमी को यह जानना जरूरी है कि मेरे रोग किम कारण से हुआ है, अब रोग मिटने का क्या उपाय है और रोग होने से मेरी क्या दशा हुई है और निरोग होने पर मैं कैसा हो जाऊंगा ? इसी प्रकार, व्यक्ति को यह जानना जरूरी है कि मैं कौन हूं, मेरी ऐसी दशा क्यों हुई है और यह दशा कैसे मिट सकती है, फिर मैं कैसा हो जाऊंगा; अथवा यों कहना चाहिए दुःख का कारण और सुख का कारण, क्या है यह जानना जरूरी है। इस बात को हम भिन्न रूप से भी रख सकते हैं। मैं कौन हूं—जीव हूं, मेरे साथ जिसका सम्बन्ध है, वह अजीव है—अजीव में जीवपने की मान्यता अथवा जीव में अजीवपने की मान्यता यह दुःख है—दुःख का कारण आश्रव है और बन्ध है। अजीव से भिन्न जीव का अपने रूप में रहना मोक्ष है अथवा सुख है उस सुखका कारण संवर और निर्जरा है। तब यह कि हमको (१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) बंध, (५) संवर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष इन सात तत्वों को जानना जरूरी है, क्योंकि जीव मैं हूं, अजीव के साथ सम्बन्ध हो रहा है इसलिए जीव को जानना भी जरूरी है और अजीव को जानना भी जरूरी है। आत्मा से कर्मों का बन्ध हुआ है इसलिये दुःखी है। इसलिए आश्रव-बन्ध दुःख के कारण है। मोक्ष सुख रूप है और संवर-निर्जरा सुख का कारण है। 'पर' में अपनापना मानना सो तो मोह और राग द्वेष का जनक अर्थात् आश्रव-बन्ध है और ठीक इससे उल्टा याने निज में निजपना मानना यह अज्ञानता का अभाव है और संवर और निर्जरा का कारण है।

आश्रव—कर्म के आने का द्वार।

बन्ध—कर्म का आत्मा के साथ बन्ध जाना-दुःख का कारण।

संवर—कर्मों को आने से रोकने की डाट।

निर्जरा—इकट्ठे हुए कर्मों का नाश होना-सुख का कारण।

मोक्ष—आत्मा का कर्मों में छूट जाना-अनन्त सुख।

इनको भी दो प्रकार से समझना है, एक द्रव्य रूप और दूसरा भाव रूप। ज्ञानावरणादि कर्मों का आना द्रव्य आश्रव और आत्मा के वे परिणाम जिनकी वजह से ज्ञानावरणादि कर्म आते हैं, उन परिणामों को भाव आश्रव कहते हैं। असल में जीव का पुरुषार्थ प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) रूप में कर्मों के साथ नहीं है परन्तु हम तो अपने परिणामों में पुरुषार्थ करते हैं जिससे कर्म आने बन्द हो जाते हैं। इसलिये उन परिणामों की पहचान होना जरूरी है जो कर्म के आने के कारण हैं और जिन परिणामों को भावाश्रव कहते हैं। यही बात अन्य के बारे में है। बन्ध भी दो प्रकार का है—एक द्रव्य बन्ध और दूसरा भाव बन्ध। द्रव्य बन्ध कर्मों का आठ प्रकार का बन्ध है। भाव बन्ध आत्मा के वे परिणाम हैं जिनसे द्रव्य कर्म बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। छोड़ना तो परिणामों को है इसलिए उन भावों को समझना जरूरी है जिनसे कर्म बन्धते हैं। वे भाव कितने हैं ? यह बताया है कि (१) मिथ्यात्व रूप याने 'पर' में अपनापना मानना, अपने को 'पर' रूप मानना अथवा अपने आप को नहीं पहचानना अथवा जैसी वस्तु है उसको उम रूप में मानकर अन्यथा रूप मानना, यह एक मूल कारण है और इसका अभाव हुए बिना बाकी के अन्य कारणों का अभाव नहीं हो सकता। अन्य कारण (२) अमति, (३) कषाय और (४) योग है। इनमें प्रधान कारण मिथ्यात्व है। उसका अभाव होने पर बाकी के कारण जल्दी जेबड़ी के माफिक रह जाते हैं। पहले इसी कारण के अभाव करने का वास्तविक पुरुषार्थ करना होता है। ऊपर-नीचे रखे हुए षडों में अगर पहले नम्बर का धड़ा सीधा हो जाता है तो बाकी तो अपने आप सीधे हो जाते हैं। इसके बाद का कारण कषाय है। कषाय में अमति भी आ जाता है और प्रमाद भी आ जाता है। मिथ्यात्व के गए बिना कषाय का अभाव नहीं हो सकता।

यह समझना जरूरी है कि राग-द्वेष बंध के कारण हैं। जितने अंश में राग होगा उतने अंश में बंध जरूर

होगा। राग से संवर और निर्जरा नहीं हो सकती। जो कर्म आने का कारण है वही कर्म रोकने का कारण नहीं हो सकता, अन्यथा विपरीतता हो जाएगी। कही पर ऐसी अवस्था भी होती है जहां मिश्रित भाव होता है वहां जितना निर्मलता का अंश है वह संवर-निर्जरा का कारण है, जो मलिनता का अंश है वह तो बंध का ही कारण है। जहां कही इस मिश्र अवस्था को संवर का कारण लिखा है, वहां ऐसा समझना चाहिए कि राग से संवर नहीं, राग से तो बंध ही है, परन्तु साथ रहने वाली निर्मलता से संवर-निर्जरा है, इसलिए उपचार से, राग घटने की मुख्यता से, कथन किया गया है। दो गलतियां जीव से होती हैं—पहली 'पर' में अपनापना और दूसरी अपने ठहरने में आत्मबल की कमी। पहली गलती मिथ्यात्व कहलाती है और दूसरी राग-द्वेष। अपने में अपनापना आ गया, इसलिए मूल संसार का कारण तो छूट गया परन्तु अभी तक आत्मबल की कमी की वजह से 'स्व' में ठहर नहीं सकता, तब 'पर' में परणति होती है। आत्मबल की कमी से 'पर' का आश्रय लेना पड़ता है। यह जो 'पर' का अवलम्बन है वही राग-द्वेष है। इन्हीं को शास्त्रीय भाषा में दर्शन मोह और चारित्र-मोह के नाम से कहा गया है। दर्शन-मोह याने दृष्टि का, समझ का, ज्ञान का मोहित होना अथवा विपरीत होना और चारित्र मोह याने निज में ठहरने के पुरुषार्थ का न होना। इसको इस प्रकार भी समझ सकते हैं। जब तक अपने में अपनापना नहीं आता तब तक अपने में ठहरने का पुरुषार्थ भी कैसे हो सकता है, और जब दोनों प्रकार का कार्य हो जाता है, याने निज में निजपना आ जाता है और फिर निज में ठहर जाता है तो अन्तर्मूहूर्त काल में, अन्तःकाल का पड़ा हुआ जो 'पर' में रमण करने का पुरुषार्थ है वह टूट जाता है। इसलिए पहले यह समझना जरूरी है कि अन्तर में होने वाला 'पर' से एकपना और राग-द्वेष येही बंध के कारण है। इसके विपरीत अपने में अपनापना संवर का कारण है और क्योंकि राग-द्वेष बंध का कारण था, इसलिए उससे विपरीत वीतरागता निर्जरा का कारण है।

मोक्ष मार्ग में दो कार्य एक-साथ होते हैं—वर्तमान निर्मल परिणामों से नया कर्म नहीं आता और दूसरा,

जो पुराना कर्म अस्तित्व में पड़ा है उसका स्थिति-अनुभाव कम हो जाता है। जितनी-जितनी निर्मलता बढ़ती है पहले बंध हुए कर्म का स्थिति-अनुभाव कम होता जाता है, और जब वह उदय में आता है उस समय जितने अनुभाव को लेकर बंधा था उतना अनुभाव उदय काल में नहीं रहता; जैसे, हो सकता है कि ६० प्रतिशत अनुभाव वाला कर्म जब उदयको प्राप्त हो तब ४० प्रतिशत अनुभाव को लेकर आवे। इसलिए ऐसा तो नियम है कि उदय के अनुसार परिणाम होंगे और परिणामों के अनुसार बंध होगा, परन्तु बंध के अनुसार उदय होगा ऐसा नियम नहीं है। निज में निजपना आने के बाद जितना निज में ठहरने का पुरुषार्थ करता है, वह व्यवहार है और जितना निज में ठहरता है वह परमार्थ है जिससे कर्मों का अभाव होकर आत्मा शुद्ध हो जाती है। जब निज ठहरने की चेष्टा करता है तो उतने मात्र से कर्म ढीले होने लगते हैं। बाहर से देखने वाला कहता है कि इसने कर्म काटे हैं, शरीर मन-वचन-काय का निरोध किया है और राग-द्वेष को मिटाया है। अमल में भीतर से देखें तो यह समझ में आता है कि इसने तो निज में ठहरने का पुरुषार्थ किया है, ऐसा करने पर बाहर में राग-द्वेष भी मिटे हैं, योग का अभाव भी हुआ है, कर्म भी कटे हैं। इसलिए मूल बात सात तत्वों में यही रही कि जीव को जीव रूप समझें, अजीव को अजीव रूप समझें और फिर अजीव से हटकर जीव में ठहरने का पुरुषार्थ करें।

इसको फिर इस प्रकार समझना है। पहले द्रव्य और भाव रूप सात तत्वों को जानें। शास्त्र के आधार पर जान लेने से मात्र आश्रव-बन्ध के बारे में तो जानकारी होगी परन्तु अभी भी आश्रव-बन्ध को जानना बाकी रह जाएगा। इनके बारे में जानना शास्त्र से होता है। परन्तु इनको जानना अपने में पहचानने से होता है। इसलिए इन सातों का शास्त्र से जानना तो इनके बारे में जानना है और इनको अपने में जानना सो वास्तव में इनको जानना है। इसलिए इनके बारे में जान लेने पर भी इनका जानना बाकी रह जाता है और इनके जाने बिना सम्यक्दर्शन नहीं होता। इस प्रकार मुख्य तो इनको जानना है। यहा पर भी दो दृष्टियां हैं—एक आश्रव-बंध-संवर-निर्जरा को

जानना है और एक उसको जानना है जो आश्रव-वध-संवर-निर्जरा-मोक्ष रूप परिणमन कर रहा है। परिणमन करने वाला वही है और परिणमन अलग अलग है; जैसे नाटक में पार्ट करने वाला वही है परन्तु पार्ट कई प्रकार के कर रहा है। पार्ट को जानना एक दृष्टि है। जहाँ ऐसा बनता है यह वह नहीं जो पहले था। परन्तु पार्ट करने वाले पर दृष्टि जाती है तो यह बनता है कि यह वही है जो पहले अन्य रूप परिणमन कर रहा था। इस प्रकार दो बातें हैं, एक यह निश्चय करना है कि वह जीव कहाँ मिलेगा—या तो आश्रवरूप, वधरूप अवस्था में मिलेगा या संवर-निर्जरा रूप अवस्था में मिलेगा, या संसार में मिलेगा, या मोक्ष में। दूसरी यह कि उन-उन स्थानों में स्वयं जीव को खोजना है; जैसे किसी किसान को पकड़ने के लिए यह जानना जरूरी है कि वह कहाँ-कहाँ मिलेगा और उस जगह का ज्ञान उसको खोजने के लिए जरूरी है। परन्तु उस जगह का ज्ञान उस किसान को पकड़ने के लिए है। उस जगह को नहीं पकड़ना है, पकड़ना उस जगह रहने वाले किसान को है। इसलिए सात तत्त्वों का जानना भी जरूरी है। परन्तु उनमें भी पकड़ना उस जीव तत्त्व को है जो सात रूपों में जाते हुए भी अपने एकत्वपने को नहीं छोड़ता। तब तो सात तत्त्वों का ज्ञान सच्चा ज्ञान कहलावेगा, अन्यथा अगर जीवतत्त्व को नहीं पकड़ा तो सात तत्त्वों का ज्ञान भी बाहरी-बाहरी रह जायेगा।

इन सात तत्त्वों के ज्ञान में देव-शास्त्र गुरु का स्वरूप भी आ गया, क्योंकि राग वध का कारण है, इसलिए हेय है। वीतरागता संवर-निर्जरा का कारण है इसलिए उपादेय है, अथवा राग दुःख का कारण है, दुःख रूप है, वीतरागता सुख का कारण है, सुख रूप है। जिसने ममस्त राग का नाश करके, पूर्ण वीतरागता को प्राप्त कर लिया वही हमारा ध्येय है, लक्ष्य है, परमात्मा है। जो वीतरागता की साधना में लगा है वह साधु है और जो वीतरागता की प्राप्ति के मार्ग को बतलाता है वह शास्त्र है। इसलिए जिसने यह जाना कि राग हेय है, उसके हृदय में राग और रागी दोनों के प्रति उपादेयता, भक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि उसके हृदय में

राग और रागी दोनों के प्रति उपादेयता, भक्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि उसके हृदय में रागी के प्रति अनुराग नहीं रहता। अगर रहता है तो समझना चाहिए कि अभी राग में उपादेयपना है और राग में उपादेयपना है तो अभी तत्त्व को विपरीत मान रखा है। राग का छूटना देरी से हो सकता है, परन्तु राग में उपादेयपना नहीं रह सकता। अगर राग से संवर-निर्जरा मानता है तो राग में उपादेयता आने से तत्त्व विपरीत हो जाता है। मद राग की मूमिका में वीतरागता का पुरुषार्थ किया जा सकता है परन्तु इससे स्वयं राग उपादेय नहीं हो जाता।

यह बात तो ठीक है कि जीव का मात्र एक ही पुरुषार्थ है; वह यही है कि सर्व प्रकार से चेष्टा करके, निज आत्म स्वरूप का निर्णय करे और फिर उसी में रमण कर जाए और ऐसा रमण कर जाए कि बाहर आने की कोई जरूरत ही नहीं रहे और परीपह, उपसर्ग आने पर भी उससे विचलित न हो, तो अन्तर मुहूर्त काल में परमात्म पद को प्राप्त कर ले। वस इतना ही पुरुषार्थ है और इतना ही करने योग्य कार्य है, इसके अलावा जो कुछ है वह तो कर्म का कार्य है; उसमें हमारा पुरुषार्थ चल ही नहीं सकता। लोग मानते हैं कि हमारा पुरुषार्थ उसमें है परन्तु यह मात्र भ्रान्ति है। जिनको निज पुरुषार्थ की खबर नहीं है वे ही ऐसा मानते हैं। परन्तु सबाल यह पैदा होता है कि जब तक निज स्वरूप की प्राप्ति न हो मकं तब तक हमारी स्थिति क्या होनी चाहिए? उसका यह उत्तर है कि अगर वाकई में हमें निज स्वरूप का रुचि हुई है, हम निज स्वरूप को प्राप्त करना चाहते हैं, तो यह निश्चय है कि हम ऐसा ही उपाय करेंगे कि जो निज स्वरूप के जानने वाले हैं, उनके निकटवर्ती हो, निज स्वरूप को जिन्होंने प्राप्त किया, उनके प्रति विनयपने की प्राप्ति हो; निज स्वरूप के कथन करने वाले शास्त्रों का अध्ययन करे और जहाँ पर निज स्वरूप का निषेध होता हो वहाँ से बचें, हटें। यदि कोई व्यक्ति धन को प्राप्त करना चाहता है तो वह यह जानने की चेष्टा करेगा कि पहले किस-किस ने धन को प्राप्त किया है। उसके जीवन को जानना चाहेगा, उन्होंने कैसे प्राप्त किया यह ममभंगा,

उनके निकटवर्ती होने की चेष्टा करेगा और उनके प्रति विनय को प्राप्त होगा। अगर ऐसा नहीं होता तो समझना चाहिए कि अभी उसके निज तत्त्व की अभिरुचि भी नहीं हुई है, वास्तविकता नहीं आई है। सच्ची रुचि होने पर जब तक निजतत्त्व को प्राप्त न कर ले तब तक जिन उपायों से निज तत्त्व की पुष्टि होती है उन सभी के प्रति उसका सद्भाव रहेगा। जैसे अपने पुत्र से दूर रहने वाली स्त्री अपने पुत्र की फोटो के प्रति भी पुत्रवत् प्रेम का व्यवहार करती है; उसी प्रकार निज तत्त्व की खोज करने वाला, जिन लोगों ने निज तत्त्व को प्राप्त किया उनकी स्थापना के प्रति भी विनय को प्राप्त होगा। यदि उसकी निज तत्त्व के प्रति वाकई में रुचि हुई है तो यह उसकी पहचान है। धन की रुचि वाला धनिक के नजदीकवर्ती होगा, गरीब के नहीं। वैसे ही निज स्वरूप को प्राप्त करने वालों के ही वह नजदीकवर्ती होगा, जो निज स्वरूप से बाधक है उनके नहीं। निज स्वरूप की प्राप्ति में जो रुकावट होंगे उनसे परहेज करेगा, यह स्वाभाविक है, और ऐसे निज स्वरूप की रुचि का होना ही वास्तविक शुभ भाव है।

इसी प्रकार, जब वह निज स्वरूप में नहीं ठहर सकेगा तो बाहर आयेगा। तब 'पर' में तो आया परन्तु वहाँ 'पर-पर' में भेद करेगा। एक 'पर' वह है जहाँ से आगे छलाग निज स्वरूप में लगाई जा सकती है, जैसा ऊपर बता चुके हैं, निज स्वरूप को प्राप्त करने वालों के निकटवर्ती होकर। एक जगह वह है जहाँ निज स्वरूप का निबेध बसता है, जहाँ से निज स्वरूप में छलाग नहीं लगाई जा सकती। वहाँ स्थिरता न करके इस पहले वाली भूमि पर ही ठहरना है। परन्तु इसकी भी निज घर तो नहीं मानना है।

हमारे जीवन परिवर्तन में पहला सवाल है कि चेतना बाहर की तरफ बह रही है कि अन्तर की तरफ, दृष्टि बाहर 'पर' के ऊपर है कि अन्तर में 'स्व' के ऊपर—महिमा 'पर' की आ रही है कि 'स्व' की—रस 'पर' में आ रहा है कि 'स्व' में—सभी बातों का एक ही उत्तर है और सभी एक ही सवाल है। अगर धन की, शरीर की, महिमा आ रही है तो इस 'पर' की महिमा में 'स्व' का तिरस्कार

है, इसमें निज स्वभाव का तिरस्कार है। अगर हम एक बड़े आदमी के खड़े रहते एक मामूली आदमी का आदर करते हैं तो उस बड़े आदमी का तिरस्कार हो जाता है, अगर भगवान् चैतन्य स्वभाव के रहते 'पर' का, धन का, वैभव का, शरीर का, कर्म का, पुण्य का, आदर आ रहा है, उसकी महिमा आ रही है तो समझना चाहिए कि तूने भगवान् चैतन्य का अपमान किया है, और 'पर' में रस आ रहा है तो समझना चाहिए भगवान् चैतन्य का रस तेरा बिरस हो गया है। अगर तेरी चेतना बाहर बह रही है तो भीतर में तू खाली है, दरिद्री है। जो भीतर का दरिद्री होता है, खाली होता है, वही उस खालीपन को बाहर से, 'पर' से, भरने की चेष्टा करता है। 'पर' से वास्तव में भरा नहीं जा सकता परन्तु अपने को भ्रम में डाल लेता है। अगर दृष्टि बाहर 'पर' पर जा रही है, तो तेरी दृष्टि व्यभिचारिणी है, पर-पुरुष पर दृष्टि रखने वाली स्त्री की तरह, परधन पर दृष्टि रखने वाले चोर की तरह। तेरी दृष्टि अगर बाहर में है तो भीतर से तू अन्ध्रा है। तो भाई अगर अन्तर दृष्टि की प्यास लगी तो तू कहां जा सकता है? अगर बाहर गया भी तो वही तक जाएगा जहाँ से निज वस्तु में फिर पुरुषार्थ जागृत हो सके।

इसलिए अगर भीतर से बाहर आया है तब भी, और बाहर से भीतर जाना है तब भी, तेरा ठहराव अगर वास्तविक निज स्वरूप में है तो निज स्वरूप को साक्षात् प्राप्त करने वाला भगवान् सर्वज्ञ, निज स्वरूप का कथन करने वाली उनकी वाणी, और निज स्वरूप की साधना में लगे साधु को छोड़कर कहा जाएगा? उनकी ही महिमा आयेगी, उनके प्रति ही विनय को प्राप्त होगा। इसी को शुभ भाव कहते हैं, यही वास्तविक पुण्य है, क्योंकि योगसार में लिखा है कि जो आत्मा को स्वाधीन बनावे उसे पुण्य कहते हैं और आत्मा को पराधीन बनाये उसे पाप कहते हैं। उपर्युक्त स्थिति ही आत्मा की स्वाधीन बनाने वाली है। जो धन, वैभव, भोग-सामग्री कर्म से मिलती है वह तो आत्मा के लिए पराधीनता का कारण है, वह आत्मा के लिए हितकारी कैसे हो सकती है।



पुरातत्वीय स्रोत तथा भगवान महावीर

□ प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर

भगवान महावीर के जीवन-काल में उनकी चन्दन की प्रतिमा निमित होने के उल्लेख कतिपय जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। अनुश्रुति के अनुसार, भगवान महावीर की चन्दन की प्रतिमा सिधुसीवीर के शासक उद्दायण (रुद्रायण) के अधिकार में गई। बाद में उनसे उसे उज्जैन के शासक प्रद्योत ने ले लिया और मूर्ति को विदिशा नगरी में रखा। उसकी एक प्रतिकृति बनवाकर बीतभयपट्टन नामक नगर में रखी गई। देवयोग से भारी तूफान आने के कारण यह प्रतिकृति नीचे दब गई। उसके दबने से सारा नगर नष्ट हो गया। श्री हेमचन्द्राचार्य के अनुसार, गुजरात के प्रसिद्ध शासक कुमारपाल ने इस प्रतिकृति को निकलवाकर उसे अणहिलपाटन नगर में प्रतिष्ठापित कराया।

भगवान महावीर की इस चन्दन प्रतिमा के आधार पर कालान्तर में अन्य मूर्तियों का निर्माण हुआ होगा। कलिंग के प्रसिद्ध शासक खारवेल का एक अभिलेख भुवनेश्वर के समीप हाथीगुफा में मिला है। इस लेख में लिखा है कि कलिंग में तीर्थंकर की एक प्राचीन मूर्ति थी जिसे मगध के शासक नंद अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गये। लेख में आगे लिखा है कि खारवेल ने पुनः इस प्रतिमा को मगध से कलिंग में लाकर उसकी प्रतिष्ठापना की। इस उल्लेख से इसी पूर्व चौथी शती में तीर्थंकर प्रतिमा के निर्माण का पता चलता है।

यहां जीवन्तस्वामी-प्रतिमा का परिचय दे देना आवश्यक है। तपस्या करत हुये महावीर स्वामी की एक संज्ञा 'जीवन्तस्वामी' हुई। कुछ ग्रन्थों के अनुसार, यह संज्ञा उनकी प्रारम्भिक अवस्था की द्योतक है, जब वे मुकुट तथा अन्य विविध आभूषण धारण किये हुये थे। अकोला से इस स्वरूप में भगवान की एक अत्यन्त कलापूर्ण प्रतिमा मिली थी। यह मूर्ति कासे की है और अब बड़ोदा के संग्रहालय में प्रदर्शित है। भगवान् ऊँचा मुकुट तथा अन्य अनेक आभूषण पहने हैं। उनके मुख का शांत, प्रसन्न भाव दर्शनीय है। मूर्ति पर इसी छठी शती का ब्राह्मी लेख खुदा है, जिसके अनुसार यह जीवन्तस्वामी की प्रतिमा है।

मथुरा से कंकाली टीला से तथा कौशाम्बी आदि अन्य स्थानों से गुप्तकाल के पहले की तीर्थंकर-मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। भगवान् महावीर के अतिरिक्त आदिनाथ, पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा मुनिमुव्रत की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका पता कतिपय विशिष्ट चिन्हों तथा उन पर अंकित लेखों से चलता है। अनेक प्रारम्भिक मूर्तियों पर लाँछनों का अभाव है। लाँछनों का प्रयोग गुप्तकाल के बाद व्यापक रूप से मिलने लगता है।

मथुरा तथा कौशाम्बी में पत्थर के बने हुए वर्गाकार या आयताकार 'आयाग-पट्ट' मिले हैं। पूजा के लिये इनका प्रयोग होने के कारण इन्हें 'आयागपट्ट' कहा जाता था। अनेक पट्टों पर बीच में ध्यानमुद्रा में पद्मासन पर अवस्थित तीर्थंकर मूर्ति है। उसके चारों ओर अनेक सुन्दर अलंकरण तथा प्रशस्ति चित्र बने हैं। आयागपट्टों का निर्माण इसी पूर्व प्रथम शती से प्रारम्भ हुआ। उन पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि उनमें से अधिकांश का निर्माण महिलाओं की दानशीलता के कारण हुआ। मन्दिरों, विहारों तथा मूर्तियों के निर्माण में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक रुचि लेती थीं। प्राचीन शिलालेखों से इस बात की पुष्टि होती है।

कुषाण-काल (ई० प्रथम-द्वितीय शती) से जैन 'सर्वतोभद्रिका' प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ। इन पर चारों दिशाओं में प्रत्येक ओर एक-एक जिन-मूर्ति पद्मासन पर बैठी हुई या खड्गासन में खड़ी हुई मिलती हैं। ये तीर्थंकर प्रायः आदिनाथ (ऋषभनाथ), पार्श्वनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर हैं।

मध्यप्रदेश के छुबेला-संग्रहालय में एक अत्यन्त सुंदर सर्वतोभद्र-मूर्ति है, जो पूर्व मध्य काल की है। उस पर उक्त चारों तीर्थंकरों के चिह्न भी अंकित हैं, जिससे उनके पहचानने में कोई सदेह नहीं रह जाता।

सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा की परम्परा मध्य काल के अन्त तक जारी रही। मथुरा से प्राप्त अनेक सर्वतोभद्रिका मूर्तियां अभिलिखित हैं और मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व की हैं।

गुप्त युग तथा मध्यकाल में निर्मित भगवान महावीर की मूर्तियां बड़ी संख्या में पायी हुई हैं। कुछ ऐसे शिला-पट्ट गुप्तकाल से उपलब्ध होने लगते हैं, जिन पर चौबीसों तीर्थंकरों का एक साथ अंकन मिलता है। गुप्त युग तथा विशेष कर मध्यकाल में तीर्थंकर प्रतिमा के अगल-बगल या ऊपर-नीचे अनेक देवी-देवताओं एवं यक्ष, सुपर्ण, विद्याधर आदि के चित्रण भी मिलते हैं। ये भगवान् के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित करते हुए अंकित मिलते हैं।

महावीर की गुप्तकालीन कतिपय मूर्तियां भारतीय कला के सर्वोत्तम उदाहरणों में गिनी जाती हैं। भगवान् की शांत, निश्चल मुद्रा को प्रदर्शित करने में कलाकारों ने अत्यधिक सफलता प्राप्त की। मूर्तियां अधिकतर पद्मासन में मिलती हैं। सिर पर कुचित केश तथा वक्ष पर वयं मानक्य' चिन्ह मिलता है। अग्र-प्रत्यंगों की गठन बड़ी सुगठ होती है।

तीर्थंकर महावीर स्वामी के मन्दिरों का निर्माण कब से प्रारम्भ हुआ, यह एक विवादग्रस्त बात है। प्राचीन जैन ग्रंथों में प्रायः तीर्थंकर-मन्दिरों का उल्लेख नहीं मिलता। महावीर स्वामी अपने भ्रमण के समय मन्दिरों में नहीं ठहरते थे, बल्कि 'चैत्यो' में विश्राम करते थे। इन चैत्यों को टोकाकारों ने 'यक्षायतन' (यक्ष का पूजा-स्थल) कहा है। भारत में यक्ष पूजा बहुत प्राचीन है। यक्षों के मन्दिरों या धानों में उनकी पूजा होती थी। भगवती सूत्र नामक जैन ग्रंथ के अनुसार भगवान महावीर ने 'पृथिवी-शिलापट्ट' के ऊपर बैठकर एक वृक्ष (शाल) के नीचे तप किया, जहां उन्हें सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति हुई। भगवान् बुद्ध ने पीपल-वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था। बुद्ध के उस आसन का नाम 'बोधिमंड' प्रसिद्ध हुआ। उसका अंकन प्रारम्भिक बौद्धकला में बहुत मिलता है, जिसकी पूजा का बड़ा प्रचार हुआ। बोधिमंड तथा बुद्ध से संबंधित बोधिवृक्ष, धमेचक, स्तूप आदि की ही प्रारम्भ में पूजा होती थी। बुद्ध की मानुषी मूर्ति का निर्माण बाद में शुरू हुआ। उसके पहले जैन तीर्थंकरों की मानुषी प्रतिमाएँ अस्तित्व में आ चुकी थीं।

चैत्य-वृक्ष की पूजा जैन धर्म का भी एक अंग बन गई। विभिन्न तीर्थंकरों से संबंधित चैत्य वृक्षों के विवरण जैन साहित्य में उपलब्ध हैं। ऐसे तस्वरों में कल्पवृक्ष,

शाल, आम्र आदि महत्वपूर्ण वृक्ष माने जाने लगे और इनका प्रदर्शन तीर्थंकर प्रतिमाओं तथा उनके शासन-देवताओं के साथ किया जाने लगा। चैत्य वृक्ष ही मन्दिरों के प्रारम्भिक रूप मान्य हुए। यद्यपि आधुनिक अर्थ में प्राचीनतम जैन-मन्दिरों के स्वरूप का स्पष्ट पता हमें नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि अनेक मन्दिर ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व अस्तित्व में आ चुके थे।

वैशाली के ज्ञात कुल में वैशाली नगरी के समीप कुड ग्राम में (आधुनिक 'वासुकुड') में ई. पूर्व ५६६ में भगवान महावीर का जन्म हुआ। उनके पिता सिद्धार्थ इस कुल के मूलिया थे। महावीर की माता त्रिशला विदेही वैशाली के चेटक नरेश की बहन थी। प्राचीन जैन ग्रंथों में महावीर स्वामी को 'विदेहमुकुमार' तथा 'वैशालिक' नाम भी दिए गए हैं। उन्होंने दक्षिण बिहार पर्वतीय तथा जाग-लिक प्रदेश में अनेक वर्ष बिताये। इससे यह स्वभाविक था कि वह क्षेत्र महावीर स्वामी के उपदेशों का विशेष पात्र होता। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, राजगृह महावीर स्वामी को सबसे अधिक पसंद था। उन्होंने चौदह वर्ष-वास राजगृह तथा नालन्दा में किये। राजगृह में महावीर के पूर्वज तीर्थंकर मुनिमुत्त का जन्म हुआ था। मुनि-मुत्त का नाम मथुरा से प्राप्त द्वितीय शती की प्रतिमा पर सर्वप्रथम उत्कीर्ण मिलता है।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, भगवान महावीर का निर्वाण बहत्तर वर्ष की आयु में पावापुरी में हुआ। अनेक विद्वान् बिहार प्रदेश के वर्तमान नालन्दा जिले में स्थित पावा को प्राचीन पावापुरी मानते हैं। परन्तु इसे प्राचीन नगरी मानने में एक कठिनाई यह है कि यहाँ बहुत प्राचीन पुरातत्त्विक अवशेष नहीं मिले हैं। विद्वानों का दूसरा वर्ग प्राचीन पावापुरी की स्थिति उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में मानता है। इस जिले के फाजिलनगर तथा साठियाव नामक गावों के मध्य आसमानपुर और उसके समीप अनेक प्राचीन टीले हैं। इन टीलों से ठीकरी, सिक्की, मूर्तियों आदि के रूप में पुरातत्त्व की प्रचुर सामग्री मिली है। जैन साहित्य के भौगोलिक तथा अन्य विवरणों के आधार पर देवरिया जिले के इस स्थल को ही प्राचीन पावा मानना ठीक प्रतीत होता है।

—मध्यक्ष, पुरातत्त्व विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश

भगवान पार्श्व के पंचमहाव्रत

□ श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम० ए०, दिल्ली

दिगम्बर मान्यतानुसार जैन आगमों की वर्तमान शृंखला, युग के आदिनेता तीर्थंकर ऋषभदेव से अविच्छिन्न रूप में जड़ी हुई है। ऋषभदेव द्वारा प्रदर्शित मार्ग को सभी तीर्थंकरों ने समान रूप में प्रवर्तित किया है। इसके मुख्य कारण ये भी हैं कि—

१—सभी तीर्थंकर सम-सर्वज्ञ थे अर्थात् सबका ज्ञान पूर्ण सदृशता को लिए था।

२—सभी की देशनानिरक्षरी थी।

३—सभी की सर्वज्ञावस्था की प्रवृत्ति मन के विकल्पों से रहित थी। उसमें हीनाधिक वाचन को स्थान [विकल्पों के अभाव में] नहीं था।

तीर्थंकरों ने साधुओं के मूलगुण २८ आचार्यों के ३६ और श्रावकों के व्रत १२ ही बनवाए। इन सबकी सख्या में और सभी के लक्षणों में कोई भेद नहीं किया। इसी प्रकार धर्म १०, पाप ५, और सजा ४ की सख्या और लक्षणों में भी उन्होंने कोई भेद नहीं किया। ऐसी स्थिति में यह कहना कि 'भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्ग्राम का उपदेश दिया' 'बीच के बार्हम तीर्थंकरों के समयों में भी चार ही महाव्रत थे'—आदि, उपयुक्त नहीं जँचता। और ऐसी घोषणाओं से तत्कालीन लोगों की बुद्धि तीव्र या मंद थी या वे सरल और कूटिलता के भेद को लिए हुए थे' आदि

कारण बताता भी उचित प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक मैं समझता हूँ 'चातुर्ग्राम' की मान्यता की स्पष्ट घोषणा श्वेताम्बर आगमों की है। इसी के अनुरूप समय के प्रसंग में दिगम्बरों में भी एक उल्लेख पाया जाता है। दिगम्बरों की ओर से चातुर्ग्राम की कई बार कई विद्वानों ने पुष्टि की है। जैसे—

१—'पार्श्वनाथ ने चातुर्ग्राम का उपदेश दिया था।'

२—'चातुर्ग्राम रूप धर्म के मस्थापक पार्श्वनाथ थे यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।'

३—भगवान पार्श्वनाथ के द्वारा संस्थापित चातुर्ग्राम धर्म के आधार पर ही भगवान महावीर ने पंच महाव्रत रूप निर्ग्रन्थ मार्ग की स्थापना की।' आदि

जहाँ तक मुझे स्मरण है—इन्दौर से प्रकाशित तीर्थ-कर-मासिक' के 'राजेन्द्रसूत्र-विशेषांक में भी दो विद्वानों के लेखों में ऐसी ही बातें दुहराई गई थी। इस समय मेरे समक्ष अंक न होने से उद्धरण नहीं लिख पा रहा हूँ। यदि दि० विद्वानों की चातुर्ग्राम सबकी बात को माना जाय—जैसा कि होना भी चाहिए तो निम्न प्रश्नों पर बिचार कर लेना आवश्यक है—

१ 'महावीर देह में भी विदेह थे उन्हीं की 'निरक्षरी' वाणी की अनुगूँज वातावरण में है।'

—समणसुत्त, भूमिका पृ० १६

'गणघर—जो अहंनोपदिष्ट ज्ञान को 'शब्दबद्ध' करते हैं।

—वही, पर० शब्दकोष पृ० २६४।

—समणसुत्त—'यह एक सर्व सम्मन प्रातिनिधिक ग्रन्थ है।'

—वही, भूमिका पृ० १८

२. 'चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचमिक्खिए।

देसिओ वड्डमाणेस पासेण य महामुणी ॥

(उत्तरा० २३/१२)

पुरिमा उज्जुज्झाउ वक्कज्झाउ पच्छिमा।

मज्झिमा उज्जुपन्नाउ नेण धम्मो दुहा कए ॥'

(उत्तराध्ययन, २३।२६)

३. 'बावीस तिस्थयरा सामायिय सज्ज उवदिसति।

छेदुवठावणिय पुण भगव उसहो य वीरो य ॥'

(मूला० ७।१३३)

पुरिमा य पच्छिमा विहु कप्पाकप्प ण जाणति ॥'

(मूला० ७।१३५)

४. 'युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।'

- १—बि० साम्यता में चातुर्याम स्वीकार करने पर साधुओं के २६ मूलगुणों की संख्या कैसे पूरी होगी ? क्योंकि ब्रह्मचर्य अपरिग्रह में गभित होने से महाव्रतों में एक कम करना पड़ेगा ।
- २—क्या कहीं साधुओं के मूलगुण २७ होने का उल्लेख है ?
- ३—आचार्यों के मूलगुणों में ३६ के स्थान पर ३५ की ही संख्या रह जायगी (एक महाव्रत तो कम हो ही जायगा) पर ब्रह्मचर्य धर्म का अन्तर्भाव (महाव्रतों की भाँति) आकिचन्य में करना अनिवार्य हो जायगा । इस आपत्ति का निराकरण कैसे होगा ?
- ४—क्या कहीं आचार्य के मूलगुण ३५ होने का उल्लेख है ?
- ५—क्या चातुर्याम और पंचमहाव्रत की विभिन्न साम्यताओं में तीर्थंकरों की देशना को विशेष ध्वनि रूप या अनक्षरी मानने में बाधा उपस्थित न होगी ?
- ६—क्या विभिन्न स्वभाव और विभिन्न बुद्धि के लोगों की अपेक्षा से हुई ध्वनि में मन का उपयोग न होगा ?
- ७—क्या कहीं उन पापों की संख्या चार मानी गई है जिनके परिहार रूप चातुर्याम होते हैं ? यदि बाईस तीर्थंकरों ने चार पाप बतलाए हों तो उल्लेख दुंदुना चाहिए । शायद कहीं कुशलो को परिग्रह में सम्मिलित कर दिया हो ?
- ८—संज्ञायें चार के स्थान में कहीं तीन बतलाई हैं क्या ? (यतः मैथुन परिग्रह के अन्तर्भूत हो जाएगा)
- ९—महावीर ने दीक्षा के समय चातुर्याम धारण किए या पंचमहाव्रत ? यदि पंचमहाव्रत धारण किए तो वे २२ तीर्थंकरों की परम्परा में कैसे माने जाएंगे ? यदि चातुर्याम में दीक्षित हुए तो आदि के तीर्थंकर की धर्म परम्परा में कैसे माने जायेंगे ?
- १०—क्या कहीं १० धर्मों के स्थान पर, ब्रह्मचर्य को आकिचन्य में गभित किया गया है और धर्मों की संख्या ६ बतलाई गई है ?
- ११—'स्त्री को परिग्रह में गिनाया गया है या नहीं ?

यदि गिनाया गया है तो संख्या के परिमाण की दृष्टि से अथवा भोग की दृष्टि से ?

इसी प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रश्न उपस्थित हो जायेंगे । ऐसे प्रश्नों के निराकरण के अभाव में समस्त आगम ही सावरण (सदोष) हो जायेंगे । अतः दि० विद्वानों से मेरा निवेदन है कि वे पुनर्विचार करें । मेरी बुद्धि में तो ऐसा है कि सभी तीर्थंकरों के उपदेश समान रहें हैं । कहीं भी किंचित् भी अन्तर नहीं आया है । जो भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है, वह सब आचार्यों की देन है : जो उन्होंने समय समय पर लोगों की दृष्टि से किया है ।

(१) यदि हम श्वेताम्बर परंपराओं के उल्लेखों पर विचार करें तो हमें वहाँ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि पार्श्व से पूर्व भी पंचमहाव्रतों का चलन रहता रहा है । आचार्य हेमचन्द्र जी पार्श्वनाथ द्वारा दिए उपदेश को जिस भाँति बतलाते हैं उससे ब्रह्मचर्य को अपरिग्रह में गभित नहीं माना जा सकता । अर्थात् पार्श्वनाथ द्वारा ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को एक किया गया हो, ऐसा सिद्ध नहीं होता । यथा—

'सद्धिघा सर्वविरति देशविरति भेदतः ।

सयमादि दशविधो अनगाराणां स आदिमः ॥'

(त्रि० श्र० पु० च० पर्व ६, सर्ग ३)

यह पार्श्वनाथ का उपदेश है । इसमें मुनिधर्म, संयम आदि के रूप में दश प्रकार का बतलाया है । ब्रह्मचर्य का अन्तर्भाव अपरिग्रह में नहीं किया गया । यदि तीर्थंकरों को दोनों में से एक ही रखना इष्ट होता तो वे दश के स्थान पर नौ का ही विधान करते । आगमों में जो संयम कहे हैं वे हैं :—

'खंती य महुव अज्जव, मुत्ती तव मज्जे य बोधव्हे ।

सच्चं सोयं आकिचणव बंधं च जइ धम्मो ॥'

(२) पार्श्व से पूर्व तीर्थंकर नमिनाथ ने वरदत्त को जो उपदेश दिया है उससे भी पंच महाव्रतों की पुष्टि होती है । उन्होंने 'सावद्य योगविरति' को चारित्र कहा । और अवद्यो (पापों) की संख्या सदा पांच

रही है। अतः पंच पापों की पृथक् पृथक् विरति पंच महाव्रतों को ही सिद्ध कर सकती है। श्लोक इस प्रकार है—

‘सावद्य योगविरतिश्चारित्रं मुक्तिकारणम् ।

सर्वात्मना यतीन्द्राणां, देशतः स्यादगारिणाम् ॥

(त्रि० श० पु० च० पर्व ८ सर्ग ६)

- (३) दीक्षा ग्रहण करने समय तीर्थंकर पाचों पापों के सर्वथा त्याग की घोषणा करते हैं। परिग्रह गभित अन्नह्य जैसे चार के त्याग की घोषणा नहीं करते और न कहीं पापों की चार संख्या का विधान ही किया गया है। तीर्थंकरों की घोषणा है—

‘मव्वं मे अकरणिज्ज पावं कम्मं ।’

- (४) तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय में ब्रह्मचर्य की गणना स्वतन्त्ररूप से होती रही है—अपरिग्रह में नहीं, ऐसे भी प्रमाण मौजूद है। उस समय भी पूर्ण ब्रह्मचर्य की बात (मूनि अवस्था में) पृथक् रूप से निदिष्ट होती रही है। विवाह के प्रसंग में (जब नेमिनाथ राजकुल में विवाह नहीं करना चाहते तब राजघराने की) अन्य रानिया नेमिनाथ से कहती है—

‘समये प्रति यद्येथा ब्रह्मापि यथारुचिः ।

गार्हस्थ्ये नोचितं ब्रह्म, मंत्रोद्गार इवाशुची ॥’

(त्रि० श० पु० च० पर्व ८।१०५ हैमचन्द्राचार्य)

- (५) तीर्थंकर नेमिनाथ की एक भविष्यवाणी में भी ब्रह्मचर्य की बात स्पष्ट है और अपरिग्रह से उसे नहीं जोड़ा गया है। इससे भी ज्ञात होता है कि ब्रह्मचर्य पृथक् रूप से स्वतन्त्र रूप में माना जाता रहा है :—

‘पुरा नमिजिनेनोक्तं नेमिर्हन् भविष्यति ।

कुमार एव सन्नेव, नार्थो राज्यश्रियास्यतत् ॥ ३५॥

प्रतीक्षमाणः समय जन्मतो ब्रह्माचार्ययम् ।

अदास्यते परिव्रज्यां मान्यथा कृष्ण, चिन्तय ॥ ३६॥

उक्त प्राकाशवाणी है, जो अरिष्टनेमि के सबंध में २१वें तीर्थंकर नेमिनाथ द्वारा कभी (पहिले) की गई भविष्यवाणी को इंगित करती है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मचर्य की महिमा २१वें तीर्थंकर के समय में भी पृथक्

रूप से गाई जाती रही है, अपरिग्रह गभित रूप में नहीं।

- (६) भगवान् पार्श्वनाथ से पहिले के तीर्थंकर अरिष्टनेमि ने थावर्चापुत्र को दीक्षा देकर अपना शिष्य बनाया और उन्हें १००० शिष्यपरिवार वाला करके बिहार की आज्ञा दी। थावर्चापुत्र अपने शिष्यों के साथ बिहार करते करते सौगन्धिका नगरी में पहुँचे। उस नगरी में सुदर्शन नामक सेठ रहता था। उस सेठ ने पहिले कभी किसी ‘शुक’ नामक मन्यासी से साख्यमत का उपदेश सुना था और वह साख्यमत का श्रद्धालु हो गया था। जब उसे थावर्चापुत्र के आगमन की बात मालुम हुई तो वह उनके पास गया। थावर्चापुत्र को देखकर सुदर्शन सेठ ने पूछा कि आपका धर्म कैसा है? तब थावर्चापुत्र ने धर्मोपदेश में “पंचमहाव्रत रूप धर्म का उपदेश किया। यदि बीच के तीर्थंकरों के समय में चातुर्याम ही थे तो बाईसवें तीर्थंकर के साक्षात् शिष्य ने पंचमहाव्रतों को धर्म क्यों कहा? वे चातुर्याम रूप में ही उनका व्याख्यान करते। इसका निष्कर्ष तो यही निकलता है कि पंचमहाव्रतों का पूर्व सभी तीर्थंकरों के समय में एक जैसा चलन ही रहा है। प्रसंग का मूल इस भाँति है—

‘तत्तेण थावच्चापुत्ते अणगारे अरहधो अरिट्ठ नेमिस्स

तहारूवाण थेराण अतिए सामाइयमाइयार चोइसपुब्बाइ अहिज्जति अहिज्जति बहूहि जाव चउत्थ बिहरति ॥ २६॥

‘तत्तेण अरहा अरिट्ठनेमी थावच्चापुत्तस्स अणगारस्स तं इब्भाइयं अणगार सहस्सं सीसत्ताए दलयति ॥ ३० ॥
..... [जाताधर्मकथा, सेलगराजपि अध्यायन ५, पृ० २४४ श्री अमोलक ऋषि, मिर्कद्रावाद प्रकाशन]

सुदर्शन का थावच्चापुत्त से प्रश्नोत्तर—

‘तुम्हाणं किं मूलए धम्मे पण्णत्ते? तत्तेण थावच्चापुत्ते सुदमणेण एवं वुत्ते समाणे सुदंसणं वयासी—सुदंसणा विणयमूले धम्मे पण्णत्ते। सेविय विणए दुविहे पण्णत्ते त जहा—आगार विणएय अणगार विणएय। तत्थणं जे से आगार विण सेवय पच्च अणुव्वयाइं सत्त सिक्खायाइ, एक्कारस उवासम पडिमाआत्तो। तत्थणं जे से अणगार विणए सेणं पच्च महव्वपाई तं जहा—सब्बाओ

पाणाइवायाओ वेरमण, सव्वाओ मुसावायओ वेरमणं,
सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण, सव्वाओ मेहुणाओ वेर-
मणं. सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण... ॥४१॥

(वही पृ० २५०)

(७) यद्यपि अभिधान राजेन्द्रकोष में जहाँ परिग्रहों (बाह्य परिग्रहों) का संकेत है वहाँ उनमें 'द्विपद' का उल्लेख है—स्पष्ट रूप में स्त्री का उल्लेख नहीं है यथा—'घनं घान्यं क्षेत्र वास्तु रूप्यं सुवर्णं कुप्यं 'द्विपदः' चतुष्पदाश्च ।' तथापि यदि यथाकथंचित् स्त्री की द्विपद रूप परिग्रह माना जाता है तो वह मात्र संख्या-परिमाण की दृष्टि से ही माना जा सकता है। मिथुन संबंधी भाव या कर्म से संबन्धित नहीं माना जा सकता। यह परिमाण की बात परिग्रह परिमाण नामक श्रावक व्रत के अतीचारों का वर्णन करने वाले सूत्र से भी पूर्ण स्पष्ट हो जाती है। उस सूत्र में आचार्य ने 'प्रमाणातिक्रमः' पद देकर "संग्रह-मर्यादा" को ही इंगित किया है। अभिधान राजेन्द्र कोष में एक स्थान पर ऐसा भी लिखा है—'णानामणिकणगरयण महरिहपरिमल "सपुत्तदार" परिजन दासीदास..... ।'

उक्त पद में आए 'सपुत्तदार' शब्द का विश्लेषण करते हुए कोषकार लिखते हैं—'सपुत्रदाराः सुतयुक्तकल-त्राणि ।' इससे भी "परिमाण" को ही बल मिलता है। जैसे किसी ने एक दासी या दास का परिमाण रक्खा तो वह उसके परिमाण में रहने के लिए 'सुतयुक्तदासी' को नहीं रख सकता। क्योंकि यदि वह रखेगा तो उसकी एक संख्या रूप परिमाण में दोष आ जायगा। यतः दासी के साथ रहने के कारण उसका पुत्र भी दास कार्य में सहायक सिद्ध होगा और व्रती के व्रत-भंग का कारण होगा।

इन प्रसंगों से स्पष्ट है कि जिस भाव में ब्रह्मचर्य है वह भाव अपरिग्रह से अछूता है। अतः एक में दूसरे का समावेश नहीं हो सकता। हाँ, यदि खींचतान करके समावेश माना ही जाय तो चोरी आदि पाप भी परिग्रह में गभित किए जा सकते हैं अथवा एक अहिंसा महाव्रत में भी सभी व्रत सम्मिलित हो सकते हैं। पर, ऐसा किया नहीं गया। सभी महाव्रत आदिनाथ युग से महावीर युग

तक चलते रहे हैं। अतः चातुर्थांश धर्म पार्श्व का है' ऐसा कथन निर्मूल बैठता है।

श्री तत्त्वार्थ राजवातिक में प्रथम अध्याय के सातवें सूत्र की व्याख्या में आया "चतुर्थांशभेदात्" पद भी बिचारणीय है कि इसका समावेश कब और कैसे हुआ। हो सकता है बाद के विद्वानों ने (चातुर्थांश धर्म पार्श्वनाथ का है ऐसी धारणा में) मूल पद संशोधन की चेष्टा की हो अन्यथा, प्राचीन ताडपत्रीय प्रतिलिपियों से तो ऐसा सिद्ध नहीं होता। व्यावर, श्रवणवेलगोला और भूडवित्री की ताडपत्रीय प्रतियों में 'चतुर्थमभेदात्' के स्थान में 'चतुर्थंति भेदात्' पाठ है।

(८) अब आती है केशी-गौतम संवाद की बात। सो, यह विचारणीय है कि वे केशी पार्श्व परंपरा के वे ही केशी हैं जिन्होंने प्रदेशी राजा को संवोध दिया था या अन्य कोई केशी है? वे केशी चार ज्ञान के धारक थे और पार्श्व की शिष्य परम्परा के पट्टधर आचार्य थे। उन्होंने गौतम से प्रश्न किया हो यह बात जैची नहीं। यतः संवाद के (कथित) समय तक गौतम और केशी दोनों समान ज्ञान धारक ही सिद्ध हो सकते हैं।

केशी के ज्ञान के संबंध में रायपसेणी में लिखा है—'इच्चेए णं पदेसी ! अहं तव "चउविवहेणं नाणेणं" इमे-यारुणं अब्भत्थियं जाव समुप्पलं जाणमि ।' भगवती सूत्र से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस संबंध में पाठकों के विचारार्थ अधिक कुछ न लिखकर यहां एक उद्धरण मात्र दिया जाना ही उपयुक्त है।

'भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बड़े ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मतिश्रुत एवं अवधिज्ञान के धारक थे। पार्श्व संवत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है। आपने ही अपने उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया। आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्वाण संवत् ११६ से २५० तक अर्थात् ८४ वर्ष तक आचार्य पद पर रहे और अन्त में 'मुक्त हुए।' इसप्रकार भगवान् पार्श्वनाथ

के चार पट्टघर भगवान् पार्श्वनाथके निर्वाणवाद के २५० वर्षों में मुक्त हुए ।... इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशी और गौतम गणघर के साथ संवाद करने वाले केशीकुमार श्रमण एक न होकर अलग अलग समय में दो केशी श्रमण हुए हैं ।

‘आचार्य केशी जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टघर और प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गए हैं उनका काल ‘उपकेशगच्छ पट्टावली’ के अनुसार पार्श्वनिर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है । यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्या तक का ही हो सकता है । इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशीकुमार श्रमण और गौतम गणघर का समिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है । इस प्रकार प्रथम केशी श्रमण का काल महावीर के छद्मस्थकाल तक का ठहरता है ।’

‘इसके अतिरिक्त रायवसेणी सूत्र में प्रदेशी प्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है तथा जिन केशी श्रमण का गौतम गणघर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उनके उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है [केशीकुमार समणे, विज्जाचरणपारगे ओहिनाणसुए उत्तरा, अ० २३] ।

ऐसी दशा में प्रदेशी प्रतिबोधक चार ज्ञानधारक केशी-श्रमण जो महावीर के छद्मस्थ काल में हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के १५ वर्ष बाद तीन ज्ञान के धारक रूप में गौतम के साथ मिलना किसी तरह युक्ति सगत और संभव प्रतीत नहीं होता ।’

—जैनधर्म का भौतिक इतिहास आ० हस्तीमल जी महाराज । पृ० ३२८-३१

इसमें सदेह नहीं कि निर्ग्रन्थों का अस्तित्व बुद्ध से पूर्व विद्यमान था । और जैसी कि कई इतिहास अन्वेषियों की धारणा है कि म० बुद्ध ने पार्श्वनाथ के धर्म को स्वीकार किया था, और बाद को छोड़ दिया । सो यह भी ठीक हो सकता है । पर यह कहना नितान्त अमपूर्ण है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम को अपनाया था । यह तो संभव है कि बुद्ध को अहिंसा आदि के स्रोत (जिन्हें चातुर्याम

कहा जा रहा है) पार्श्व से मिले हों पर, यह कैसे कहा जा सकता है कि जो पार्श्व के थे वे सभी बुद्ध ने अपना लिए या जान लिए हो । हो सकता है और जैसा देखा भी जा रहा है कि बौद्धों में चार संख्या की भरमार रही है । अतः उन्होंने पार्श्व के धर्म को भी चार की अपेक्षा में देखा हो और पार्श्व के धर्म को चातुर्याम नाम दे दिया हो । अन्यथा वस्तुतः तो इसका स्पष्टीकरण ‘चातुज्जाम सवर संजुत्तो’ प्रसंग में जैसा हो रहा है, वैसा स्वीकृत होना चाहिए ।

अज्ञात शत्रु ने बुद्ध का बतलाया कि वह स्वयं निग-ठनाथपुत्त (महावीर) से मिले और महावीर ने उनसे कहा कि—निर्गन्ध ‘चातुर्याम सवर सवृत’ होता है । अर्थात् वह (१) जल के व्यवहार का वारण करता है, (२) सभी पापों का वारण करता है (३) सभी पापों का वारण करने से धुनपाप होता है (४) सभी पापों का वारण करने में लगा रहता है । अतः वस्तुस्थिति यह भी हो सकती है कि चातुर्यामसवर के स्थान में लोग ने ‘सवर’ शब्द छोड़ दिया हो और कालान्तर में ‘चातुर्याम’ से अहिंसा आदि को जोड़ दिया हो । अन्यथा ‘चातुर्यामसवर’ के स्थान पर ‘चतु. सवर’ ही पर्याप्त था । ‘याम’ का कोई प्रयोजन ही नहीं दिलाई देता । अतः फलित होता है कि ऊपर कहे गए ‘चातुर्यामसवर’ के अतिरिक्त अन्य कोई चातुर्याम नहीं थे ।

बौद्ध ग्रन्थों में अनेक प्रसंगों में चार की संख्या उपलब्ध होती है । कई में तो [कथित-प्रसिद्ध किए गए] चार यामों से पूर्ण पूरी समता भी दृष्टिगोचर होता है । जैसे ‘चार कर्मक्लेश’ ‘चार पाराजिक’ और चार आराम पसन्दी इत्यादि ।

(१) चार कर्मक्लेश—इनका वर्णन ‘दीपनिकाय’ के सिलो-गवाद सुत्त ३८ में किया गया है । वहां चारों के नाम इस प्रकार गिनाए गए हैं—१. प्राणिमारना २. अदत्तादान ३. झूठ बोलना ४. काम ।

(२) चार पाराजिक—इनका वर्णन ‘विनयपिटक’ में इस प्रकार है—१. हत्या, २. चोरी ३. दिव्यशक्ति (अविद्यमान) का दावा, ४. मैथुन ।

(३) चार आराम पसन्दी—इनका वर्णन ‘दीपनिकाय’ (श्लो १० २८ पर)

जिन दर्शन

□ श्री बाबूलाल जैन, दिल्ली

जिनदर्शन का बहुत महत्व है। वास्तव में जिनदर्शन क्या है, इसका विचार करना है। जिनदर्शन का अर्थ मूर्ति का मात्र दर्शन करना नहीं। पहली बात तो यह है कि जो लोग भगवान को कर्त्ता-सृष्टा मानते हैं उनके जिन दर्शन हो ही नहीं सकता। जैन दर्शन को कुछ लोगो ने नास्तिक बताया है। कहा गया है कि जैनी लोग भगवान को कर्त्ता नहीं मानते इसलिए नास्तिक है। परन्तु धीरे-धीरे ऐसा रूप हुआ कि जैनी लोग भी भगवान को कर्त्ता-सृष्टा मानने लगे और इसी प्रकार का रूपक चल पड़ा। फल यह हुआ कि वास्तविक अध्यात्मिक रूप हमारे हाथ से छूट गया। जैन दर्शन वह दर्शन है जिसमें कि हरेक व्यक्ति को अपना भाग्य विधाता बताया गया है, वह

अपने अच्छे-बुरे का आप ही मालिक है। कोई ईश्वर ऐसा नहीं जो उसकी प्रेरणा करता हो, उसको फल देता हो, उसका अच्छा-बुरा करता हो, या वह उसके अधीन हो। लोग ज्यादातर भगवान की भक्ति करते हैं। वह इसी अभिप्राय को लेकर करते हैं कि भगवान प्रसन्न होने से हमें धन-वैभव देगा और नाराज होने से नरक में डाल देगा। इसी भय और लोभ के कारण भगवान की सत्ता बनी हुई है। जिस रोज यह भय और लोभ हट जाएगा उस रोज शायद भगवान की सत्ता भी न रहे। समूचे धर्म, समूची पूजा, समूचे आचरण का आधार एक मात्र नरक का डर और स्वर्ग का लोभ है।

(पृष्ठ २७ का शेषांश)

पासादि सुत्त में है—भ० बुद्ध कहते हैं कि—१. कोई मूर्ख, जीवो का वध करके आनंदित होता है २. कोई झूठ बोलकर आनंदित होता है ३. कोई चोरी करके आनंदित होता है ४. कोई पांच भोगों से सेवित होकर आनंदित होता है। ये चार आराम पसन्दी निकृष्ट है।

उक्त सभी प्रसंग चातुर्याम से पूर्ण मेल खाते हैं और यह मानने को बाध्य करते हैं कि चातुर्याम पार्श्वनाथ के नहीं अपितु भगवान बुद्ध के ही सकते हैं जो 'चातुर्यामसंवर रूप में कहे गए हैं। जो भी हो उक्त स्थिति में इसी बात को बल मिलता है कि पार्श्व के पंच महाव्रत थे, चातुर्याम नहीं।' विद्वान् विचार करें।

वीर सेवा मन्दिर,

२१, दरियागज, नई दिल्ली-२

□ □ □

इसलिए सबसे पहली बात यह है कि भगवान में कर्त्तापना नहीं होना चाहिए। अगर कोई जिनेंद्र को कर्त्ता मानकर पूज रहा है तो वह जिनेंद्र की मूर्ति पूजते हुए भी रागी देव का पूज रहा है, क्योंकि उसने अपनी मान्यता में उसे रागी माना है। एक कपड़े का धागा रखने पर अगर वह जिनेंद्र प्रतिमा नहीं रहती तो कर्त्तापना रहन पर वह जिनेंद्र प्रतिमा कैसे रह सकती है? जिनेंद्र को कर्त्ता मानने वाले ने जिनेंद्र की स्तुति नहीं की है, उसकी निन्दा की है। वीतरागी को रागी कहना स्तुति कैसे हो सकती है? यह तो निन्दा है। इसलिए सबसे जरूरी बात यह निर्णय करना है कि भगवान मेरा कुछ नहीं कर सकता। वास्तविक रूप से देखा जावे तो भगवान जो शुद्ध आत्मा है वह तो सिद्धशिला पर विराजमान है और अपने अनन्त आनन्द में मग्न है। अगर वह पर की चिन्ता करने जाय तो उसका अनन्त आनन्द नष्ट हो जावे। सामने वेदी में हमने पाषाण पर उनके स्वरूप की स्थापना

१. 'जहां तक हम जानते हैं कि पार्श्व और महावीर धर्म के उक्त भेद की चर्चा का दिग्गम्बर जैन साहित्य में कोई राकेत तक नहीं है।'

—जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० २७६ (प्रथम संस्करण),

अपने अवलम्बन के लिए कर रखी है। वह भगवान हमारा भला-बुरा कर दे यह सवाल पैदा ही नहीं होता, चाहे वह चांदनपुर का महावीर स्वामी हो, चाहे और कोई हो।

सवाल पैदा होता है कि इस प्रकार की स्तुतिया बड़े-बड़े विद्वानों ने और आचार्यों ने बनाई है। वे क्या गलत है? उसका उत्तर है कि वे स्तुतिया गलत नहीं है, वे स्तुतिया व्यवहार दृष्टि से की गई है; जैसे अगर हम शिखर जी के पहाड़ पर जावें और रास्ता भूल जावें और वहां कोई निशान हो अथवा कोई आदमी खड़ा हो, वह हाथ का इशारा कर रहा हो, उस इशारे को देखकर अगर हम रास्ता समझ ले और उस रास्ते से नीचे अपने घर में आ जावें, तब हम कहते हैं कि उस आदमी ने हमें घर पहुंचा दिया और उस व्यक्ति का उपकार भी मानते हैं। वस्तुतः वह आदमी हमको कंधे पर उठाकर नहीं लाया है। हम अपने पैरों से चलकर आए हैं, परन्तु कहते यही हैं कि उमने हमें घर पहुंचा दिया। इसी प्रकार ये हम जब जिनेन्द्र का गुणानुवाद गाते हैं, उसमें हमारे परिणामों में मरलता आती है, जिससे पाप-प्रकृति का नाश होकर पुण्य प्रकृति का उदय आता है। तब हम कहते हैं कि हे भगवान, आपने हमारा भला कर दिया अथवा अमुक काम कर दिया। वहां पर हमें वस्तु को ठीक से समझ कर अर्थ करना चाहिए। व्यवहार में आदमी बड़ा हो जाता है परन्तु कहते यही हैं कि कपड़ा छोटा हो गया। वहां तो हम उसका अर्थ ठीक समझते हैं कि कपड़ा छोटा नहीं हुआ, पहनने वाला बड़ा हुआ है। अगर वहां पर मोघा अर्थ करके यह समझें कि कपड़ा छोटा हो गया तो विपरीतता हो जाएगी। वैसी ही बात यहां पर है - यहां पर हम मोघा अर्थ करके अनर्थ को प्राप्त हो जाते हैं। तब सवाल उठता है कि ऐसी स्तुति क्यों की? इसका उत्तर है कि तत्त्वज्ञानी तो कोई-कोई होता है, वह तो ऐसी स्तुति करने पर भी अर्थ ठीक समझ जाएगा और अज्ञानी कम-से-कम कर्त्ता समझकर भी इसमें लगेंगे तो आगे चलकर तत्त्व समझकर इसको ठीक समझ लेंगे, ऐसा मन में अवधारण कर व्यवहार दृष्टि से स्तुति की गई है।

दूसरी बात यह है कि स्तुति कुछ शरीर आश्रित की जाती है, कुछ बाहरी पदार्थों के आश्रित की जाती है, कुछ आत्म आश्रित गुणों के आधार की जाती है। यहां पर सभी बातों को आत्मा की मान लें तो असमान जातीय दो द्रव्यों में एकत्व-बुद्धि होकर मिथ्यात्व की पुष्टि हो जाती है। इसी स्तुति को पढ़ते हुए, करते हुए, यह समझना चाहिए कि यह तो आत्मा का गुण है और यह 'पर' के संयोग को लेकर कथन है, वह आत्मा का गुण नहीं है; जैसे किसी राजा का कथन करने हुए यह कहा जाता है यह गुणवान है, दयालु है, न्यायप्रिय है। यह तो उसके गुणों का कथन है। परन्तु उसके शहर की सुन्दरता का वर्णन करना, बाग-बगीचों का कथन करना, वह राजा का कथन नहीं परन्तु उससे साबित यह होता है कि राजा कलाप्रिय है। ऐसा ही अर्थ भगवान की स्तुति में लेना चाहिए। कही शरीराश्रित कथन है, कही मा-बाप के आश्रित कथन है, कही समोशरण के आधार कथन है, ये सब भगवान की आत्मा के गुण नहीं हैं। इस प्रकार स्तुति-पूजा करते हुए ठीक से समझकर करें तो ठीक है। भगवान की मूर्ति के द्वारा हमें उस मूर्तिवान को देखना है जो सिद्धशिला पर विराजमान है और शक्ति रूप में इस शरीर में विराजमान है; जैसे चील उड़ती आकाश में है परन्तु लक्ष्यभेद करती जमीन पर है, इसी प्रकार देखना है मूर्ति को और लक्ष्यभेद करना है अपने में जहां चैतन्य विराजमान है। इस मूर्तिदर्शन के द्वारा आत्मदर्शन करना है। अगर आत्मदर्शन न करके मूर्तिदर्शन ही करता रहा तो कार्य की सिद्धि नहीं होगी।

हम मन्दिर में मूर्ति पूजने नहीं आते, हम तो जिनेन्द्र बनने को आते हैं। भोक्ता मांगन को नहीं आते। मूर्ति के सामने खड़े होकर जिन रोज हम कहेंगे कि भगवान ? हम भी भगवान बनकर रहेंगे, उसी राज वास्तविक दर्शन होगा। वह कहता है कि हे भगवान ! फिर दर्शन देना। यहां पर बात यह है कि फिर दर्शन की जरूरत ही न रहे। जब तक अंग्रेजों को कहते रहे कि हमें स्वराज्य दे दो, उन्होंने नहीं दिया। परन्तु जब यह कहा कि हम स्वराज्य लेकर रहेंगे, उस रोज स्वराज्य मिल गया। यहां भगवान सर्वज्ञ कहते हैं कि परमात्मा होना तेरा जन्मसिद्ध अधिकार है,

तू परमात्मा हो सकता है। परन्तु वह मान रहा है कि नहीं महाराज ! मुझे तो आपकी सेवा ही करनी है। जो भगवान होना चाहता है, उसके हृदय में स्वाभाविक भक्ति भगवान के प्रति होगी ही, परन्तु भिखमगापना नहीं रहेगा। यहां तो यह कहा जा रहा है कि मैं भगवान बन कर रहूंगा वहां भीख मागना नहीं है।

मूर्ति के सामने जब हम जाते हैं तब जैसे किसी का छाता देखकर या चश्मा देखकर हमें अपना छाता या चश्मा याद आ जाता है और फिर हम उपकान से उसको कहते हैं कि तुमने मुझे अपना चश्मा याद दिला दिया। वस्तुतः देखा जाए तो वह कहता है कि मैंने क्या किया ? मैं तो अपना चश्मा लेकर जा रहा था, उसको देखकर अगर तुम्हें अपना चश्मा याद आ गया अथवा तुमने अपना चश्मा याद कर लिया तो इसमें मेरा क्या है ? इसी प्रकार, हम भी उस मूर्ति को देखकर अपने स्वरूप को याद कर लें तो उपकार से कहते हैं कि हे भगवन् ! आपने मुझे अपना स्वरूप याद दिला दिया। इसलिए रोज दर्शन करना जरूरी है जिससे उनका स्वरूप देखकर अगर अपने स्वरूप की याद आ जावे तो सम्यक्दर्शन हो जावे। जितने भी बाहरी निमित्त होते हैं वे कार्य कर दे यह उनकी सामर्थ्य नहीं होती, उनको निमित्त बनाकर हम कार्य कर लें ऐसा वस्तुतत्त्व है। हमें सांचना है कि स्त्री ने राग करा दिया अथवा स्त्री का आश्रय लेकर हमने राग कर लिया है। दोष स्त्री का है कि हमारा ? इस बात को जिस रोज समझेंगे तब पुरुषार्थ जागृत होगा। यहा निमित्तपन का निषेध नहीं, परन्तु गलती निमित्त की नहीं, हमारी है। इसलिए निमित्त से राग-द्वेष अथवा उसको भला-बुरा कहने का कोई प्रयोजन नहीं है। गलती हमारी है, हमने उसका निमित्त बनाया है, यह हमारा चयन है, चुनाव है। हम किसको निमित्त बनावें यह हमारी स्वाधीनता है, पराधीनता नहीं। यही बात देवदर्शन में है। हम उसका आत्मदर्शन में निमित्त बनावें अथवा अन्य किसी कार्य के लिए। सम्यक्दर्शन तभी होगा जब हम आत्मदर्शन में उसको निमित्त बना-येंगे। बनाना हमें पड़ेगा। लकड़ी है, उसका महारा लेकर

हम चल भी सकते हैं और उससे किसी को मार भी सकते हैं, उसको जला भी सकते हैं। ये सब शक्तियां उस वस्तु की उसमें हैं, यह हमारा चुनाव है कि हम उसे किस कार्य में निमित्त बनाते हैं।

भगवान की मूर्ति आत्मा का शुद्ध स्वरूप है और हमारी आत्मा अशुद्ध स्वरूप है। जैसे कसीटी पर एक अमली सोने की लकीर लगाई जाती है, एक मिलावटी की और जोहरी यह नक्की करता है कि इसमें कितना बड़ा है। बड़ा माने खोट, जो ग्रहण करने योग्य नहीं है और अगर वह खोट निकाल दी जावे तो दोनों लकीरें समान हो जाएंगी। ऐसी मूर्ति के सामने जाकर हमें देखना है कि हमारे में कितना बड़ा है ? जिस रोज वह बड़ा समझ में आ जाएगा, भेद विज्ञान हो जाएगा। सोने से खोट वही दूर कर सकता है जिसने पहले सोने और खोट के भेद को जान लिया है।

एक वृक्ष पर एक पका आम लगा है और एक कच्चा आम लगा है। कच्चा आम कह रहा है पके आम को कि तुम और मैं एक ही वृक्ष के, एक ही जाति के आम है, तुम भी पहले कच्चे थे और कच्चे से ही पके आम हुए हो और मुझमें भी पका आम होने की शक्ति है। पका आम होकर रहूंगा। यहा भक्त भगवान को कह रहा है कि आपकी और मेरी एक ही जाति है, आप में और मुझमें क्या फर्क है ? द्रव्य दृष्टि से वस्तुतः तो कोई फर्क नहीं, गुणों की अपेक्षा भी कोई फर्क नहीं। आप भी अनन्त गुणात्मक है, मैं भी अनन्त गुणात्मक हूँ; आप से मेरे में एक गुण भी कम नहीं हूँ; आप भी असंख्यात प्रदेशी है और मैं भी असंख्यात प्रदेशी हूँ। आप में और मुझ में फर्क मात्र इतना है कि आपके गुणों का पूर्ण विकास हो गया है, आपकी पर्याय शुद्ध रूप हा गई है, मेरे गुणों का पूर्ण विकास हुआ ही नहीं है, मरी पर्याय अशुद्ध है। परन्तु मुझमें भी अपनी पर्याय को शुद्ध करने की शक्ति है और मैं भी अपनी पर्याय शुद्ध करके रहूंगा। आपमें और मुझमें समय की अपेक्षा से मात्र एक अंतर्मुहूर्त का फर्क है। अगर मैं अपना पूरा पुरुषार्थ करूँ तो एक अंतर्मुहूर्त में अशुद्ध पर्याय से शुद्ध पर्याय कर सकता हूँ। इस प्रकार से जो कोई भगवान के द्रव्य-गुण-पर्याय के साथ अपना मिलान

करता है, वह भेद विज्ञान को प्राप्त होता है। जब शेर और हाथी का जीव भगवान पार्श्वनाथ और महावीर हो सकते हैं तो हम अगर भगवान महावीर बन जावें तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

ये पंच परमेष्ठी हमें अपने आत्मतत्त्व की खबर देने वाले हैं। इनके प्रति जो हमारी भक्ति है, वह वास्तव में इनके प्रति नहीं, परन्तु अपनी चेतन आत्मा के प्रति ही भक्ति है। जब हनुमान सीता की खबर लेने गये और खबर लेकर आये तब उनका प्रसन्न मुख देखकर राम समझ गये कि खबर लग गई है। तब राम बैठे नहीं रह सके, उठकर आगे चले और जाकर हनुमान को छाती में लगा लिया। यहाँ पर यह अनुराग हनुमान के प्रति नहीं था, परन्तु यह अनुराग सीता के प्रति था और हनुमान उसकी खबर लाया था, इसलिए यह हनुमान के द्वारा व्यक्त किया जा रहा था। जैसे कोई पहले कलकत्ते से राजस्थान जाना था तो गांव में कई रोज तक वे लोग जिनके सम्बन्धी कलकत्ते रहते थे उसको अपने घर बुलाते थे और उसका बड़ा आदर-सत्कार करते थे। वास्तव में वह आदर-सत्कार उसका नहीं था बल्कि उनके प्रियजन की खबर का था। इसी प्रकार ये पंच परमेष्ठी हमें अपने चैतन्य स्वभाव की खबर देने वाले हैं, उनमें भक्ति दिखाकर उनके माध्यम में हम अपने चैतन्य के प्रति ही अनुराग प्रगट कर रहे हैं।

भगवान की मूर्ति को अगर अच्छे ढंग से देखा जाए तो यह पंच महाव्रत के स्वरूप को दिखा रही है। वह कह रही है कि जो व्यक्ति अंतरंग में अपने निज स्वभाव में रमण करता है उसके बाहर में इस प्रकार का रूप रहता है। कोई हिमालय मन-वचन-काय की क्रिया नहीं रहती। जो वास्तविक सत्य, त्रिकालक सत्य स्वभाव में रमण करता है, उसके बाहर सत्य और असत्य रूप कोई व्यापार नहीं रहता, वह दोनों से ऊँचा उठ जाता है। जो निज स्वभाव में ठहरता है, उसके बाहर में 'पर' छूट जाता है। जो निज ब्रह्म की चर्या को प्राप्त होता है उसके बाहर अब्रह्म नहीं रहता, वह उत्कृष्ट ब्रह्मण्य को प्राप्त होता है और जो निज आत्मनिष्ठ हो जाता है उसके बाहर में 'पर' का ससर्ग नहीं रहता। इस प्रकार, अंतरंग

और बहिरंग दोनों प्रकार के पंच महाव्रत के स्वरूप को अगर एक दृष्टि में समझना हो तो वह इस मूर्ति में समझ सकता है। इसको समझने में कोई भाषा की जरूरत नहीं; जैसे मोटर में जाने हुए अगर भोपू का निशान लगाकर वहाँ पर फास लगाया गया है तो हरेक व्यक्ति उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेता है कि यहाँ भोपू बजाना मना है। उसे समझने के लिए किसी भी भाषा के ज्ञान की जरूरत नहीं है। ऐसे ही यत् जिनेन्द्र की मूर्ति के दर्शन से, जो भाषा का जानकार नहीं है वह भी पंचमहाव्रत के स्वरूप को—दशलक्षण धर्म के स्वरूप को निश्चय और व्यवहार रूप एक साथ समझ सकता है। कहा जाता है कि भगवान उमास्वामी कट्टी ग्राहार लेने गये थे। वहाँ दीवार पर लिखा था दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः। आचार्य ने उसके आगे सम्यक् शब्द जोड़ दिया। जब श्रावक घर आया तो उस श्रुति को देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उस साधु को खोजने जंगल में गया। वहाँ दोपहर के समय भगवान उमास्वामी पांच सौ शिष्यों के बीच बैठे दोपहर की सामयिक कर रहे थे। उन्हें दूर से देखकर, यद्यपि उमास्वामी शब्दों में कुछ नहीं कह रहे थे, उनके स्वरूप को देखकर, उनकी आकृति में ही अन्तरंग सम्यक्-दर्शन का स्वरूप समझ में आ गया। इस प्रकार, अपने निज स्वभाव को जानकर जब आत्मा, आत्मा में अन्तर दृष्टि को प्राप्त होता है तो बाहर में ऐसा रूप रहता है। जब वह श्रावक इस बात को आकृति देखकर समझ सकता है तो हम जिनेन्द्र की मूर्ति की आकृति देखकर रत्नत्रय के स्वरूप को क्यों नहीं समझ सकते।

मूर्ति की नायाग्रदृष्टि है, वह बहिरंग दृष्टि नहीं है। वह दृष्टि बना रही है कि बाहर में कुछ नहीं, बाहर में आनन्द नहीं, बाहर से सुख आने का नहीं। परन्तु जब यह आत्मा शरीर में भिन्न, शरीर से दृष्टि हटाकर अपने आप में दृष्टि लगातार है तो अनुल आनन्द को प्राप्त होता है। अगर हम अपनी कमौटी पर दुनिया के सभी भगवानों को कसकर देखें और हम दृष्टि से देखें कि हमें ऐसा बनना है क्या, तो हम अपने आप जवाब मिल जाएगा। सुख का वास्तविक स्वरूप समझना है तो यह मूर्ति बताती है कि जब स्व का आश्रय लेकर, बाहर से दृष्टि हटा कर,

अन्तर में मग्न होता है तो यह आत्मा अनन्त मुख का भोक्ता होता है। असल में यह परम आनन्द की मूर्ति है।

आत्मा बाहर से हटकर, अन्तरदृष्टि होकर, निज से निजस्वरूप को वेदता है तब यह रत्नत्रय की एकता को प्राप्त होता है, अन्तर में, स्वरूप में मग्न होता है, बाहर में 'पर' से हटता है। यही बात दण्डवत् धर्म की है। उत्तम क्षमा-मार्दन-प्रार्थन प्रादि का प्रारम्भ स्वात्मीय से समझना ही तो इस मूर्ति को देखना होगा। वही व्यक्ति उत्तमक्षमादि धर्म को प्राप्त हो सकता है जो भीतर में इस प्रकार अपने आप में मग्न होता है। इसके बाहर में न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है।

मूर्ति यह कह रही है कि हे संसार के प्राणी! अगर तुझे मेरा जैसा अनन्त सुख चाहिए तो मेरी तरह 'पर' से हटकर, बाहर से हटकर, अपने आप में मग्न हो जा। मात्र मेरे पूजने में काम नहीं चलेगा। मेरी वास्तविक पूजा तो यही है कि तू मुझे देखकर मेरी तरह अन्तरमग्न हो जा; जैसे अगर हम एक लकड़ी को ऊँची जगह रख लें और उसके आगे दीप-धूप जलाते रहे तब भी हमें चलना नहीं आ सकता, हम अपने इष्ट स्थान को प्राप्त नहीं हो सकते। उसकी जगह अगर हम लकड़ी का सहारा लेकर चलने का उपाय करें तो चल सकते हैं। लकड़ी कहती

है कि मेरी असली पूजा तो यही है; तू मेरा सहारा लेकर चल और फिर मेरे सहारे की भी जरूरत न रहे। परन्तु हमने जहाँ मूर्ति के द्वारा आत्मदर्शन करना था वहाँ उसकी मात्र पूजा करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली। यह ग्रीक है जो बैसा बनना चाहता उसके भीतर उसकी भक्ति तो पैदा होगी ही, परन्तु मात्र भक्ति करने वाला बैसा नहीं बन सकेगा।

भगवान का दर्शन करते हुए यह वर्तमान हीन पर्याय अपने चैतन्य स्वभाव से कहती है कि हे चैतन्य, जो पर्याय तेरे सम्मुख होनी है वह दुःख रूप से, हीनता से, बदली होकर उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाती है। असल में भगवान की जो स्तुति है वह भगवान के सम्मुख होकर, अपने चैतन्य स्वभाव की स्तुति वर्तमान पर्याय करती है और वह कहती है कि जो तेरा याने निज स्वभाव का आश्रय लेता है, उसकी पर्याय दुःख रूप नहीं रहती, सुख रूप हो जाती है। भगवान के माध्यम से स्तुति तो निज स्वभाव की ही करनी है।

पहले 'दापो अहम्' होता है, फिर 'दा' चला जाता है 'सो अहम्' रह जाता है। यह अहम् 'पर' में नहीं, निज स्वाभाविक अहम् होता है। □ □ □

सम्मति विहार, दरियागंज, दिल्ली।

वातरशना मुनियों की परम्परा

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद (१०, १३६, २) में न केवल मुनियों का उल्लेख है किन्तु उनको, या उनकी एक विशेष शाखा को, वातरशना मुनि कहकर उनकी वृत्तियों का विवरण भी दिया गया है। ये मुनि मलधारी अर्थात् शरीर को पसीने आदि से मलिन होते हुए भी स्नानादि के प्रति उदासीन थे जिससे वे पिशंग, पिगलवर्ण दिखाई देते थे। वे वायु 'श्वामोच्छ्वास को प्राणायाम द्वारा' रोककर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते थे। मर्त्यलोक उनके बाह्य शरीर मात्र को देख पाते थे, अंतरात्मा को नहीं। मुनियों के साथ 'वातरशना' विशेषण, ऋषि-पृथक् वैराग्य, अनासक्ति मौनादि वृत्तियों वाले मुनियों को विशेष अर्थ देना है। वातरशना (वान=वायु, रशना=मेखला) से अर्थ है जिनका वस्त्र वायु हो अर्थात् नग्न। वातरशना जैन परम्परा के लिए नितान्त परिचित शब्द है। जिनसहस्रनाम में उल्लेख आता है—

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रन्थेजोनिरम्बरः।

—महापुराण २५, २०४

वस्तुतः वातरशना, दिग्वासा, निर्ग्रन्थ और निरम्बर पर्यायवाची शब्द है, और नग्न या दिग्म्बर स्वरूप को प्रकट करते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना के समय दिग्म्बर मुनि परम्परा विद्यमान थी और ऐसे मुनियों की ऋषि सम्प्रदाय में इतनी प्रतिष्ठा थी कि वे देवता तुल्य माने जाते थे और इन्द्रादि देवों के समान उनकी स्तुति व वंदना की जाती थी।

—डा० हीरा लाल जैन (जैनजन्म यू एजेज)

साहित्य-समीक्षा

१. साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो—पं० उदय जैन ।
प्रकाशक—श्री जैन शिक्षण संघ, कानोड (उदयपुर)
राजस्थान । पृष्ठ संख्या : २४४, प्रकाशन वर्ष १९७६;
मूल्य : पाच रुपया ।

इस ग्रन्थ में जानेमाने समाजसेवी, अनुभवी अध्यापक एवं प्रबुद्ध विचारक पं० उदय जैन के धर्म, समाज एवं शिक्षा से सम्बन्धित चालीस लेखों का उत्कृष्ट संकलन है । उनके इस संचयनगत प्रायः सभी लेख विभिन्न जैन पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं । इन लेखों में रूढ़िगन परम्परा एवं चिन्तन के प्रति विद्रोह, सम्प्रदायातीत समाज की स्थापना एवं आग्रह और रूढ़िमुक्त मंगलकारी समाज का स्वप्न निहित है । इन लेखों में एक ओर तो जैनों की परस्पर मंत्री, उनके सामाजिक और वैयक्तिक चरित्रोत्थान तथा सुधारोन्मुख चेतना के स्वर विद्यमान हैं, वहाँ ऐसे लेख भी निबद्ध हैं जिनका चिरन्तन और शाश्वत महत्व है, और यशस्वी रचनाकार की बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं । भागो नहीं, पढ़ो; स्त्री मुक्ति . एक यथार्थ निर्वाण शताब्दी वर्ष की इतिथी; साम्प्रदायिकता से ऊपर उठो, जैसे लेख निश्चय ही पं० उदय जैन की कान्ति-धर्मिता के द्योतक हैं ।

भ या सरल, प्रवाहमय एवं प्रभावोत्पादक है । पुस्तक का मूल्य उचित है । —गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक

२. नेमिनाथ महाकाव्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)—
मूल रचनाकार—खरतर-गच्छाचार्य श्री कीर्तिरत्न सूरि,
सम्पादक-अनुवादक—डा० सत्यव्रत; प्रकाशक श्री अग्रचन्द
नाहटा, बीकानेर एवं नाहटा ब्रह्म, ४ जगमोहन मल्लिक

लैन, कलकत्ता—७; पृष्ठ २४६; प्रकाशन वर्ष : १९७५;
मूल्य दस रुपया ।

१५वीं शती में रचित यह संस्कृत महाकाव्य १२ सगौं में विभक्त है । इससे पूर्व भी यह हर्ष विजय की सरलार्थ प्रकाशिका टीका के साथ विजय घनचन्द्र सूरि ग्रन्थ माला से तथा यशो विजय जैन ग्रन्थ माला से प्रकाशित हो चुका है, किन्तु अब ये प्रकाशन अप्राप्य हैं । इस दृष्टि से भगवान महावीर के २१००वें निर्वाण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित यह ग्रन्थ इस प्रकाशन के अभाव की पूर्ति करता है ।

यह महाकाव्य कविवर कीर्तिरत्न सूरि के लोकानुभव की व्यापकता और अपूर्व साहित्यिक प्रतिभा का परिचायक है तथा इसमें कविवर के जीवन काल की सबत् १५०२ में लिखित महिमा भक्ति ज्ञान भण्डार, बीकानेर की प्रति के आधार पर, प्रामाणिक सशोधित पाठ दिया गया है । साथ ही पुस्तक के अन्त में, मार्ग-क्रम से हिन्दी अनुवाद भी दे दिया गया है । इसके अतिरिक्त पुस्तक के आरम्भ में डा० सत्यव्रत ने इस महाकाव्य का व्यापक ३८ पृष्ठों में निबद्ध समीक्षात्मक विश्लेषण भी दिया है, तथा सुप्रसिद्ध मनीषी श्री अग्रचन्द नाहटा ने आचार्य रत्न का जीवन परिचय और उनकी रचनाओं के नमूने दिए हैं । इसी प्रकार, पुस्तक के अन्त में इस महाकाव्य गत सुभाषित संग्रह और प्रकाराधिक्रम में पद्यानुक्रमणिका दी गई है । इस सब मामलों के कारण इस ग्रन्थ की उपयोगिता एवं उपादेयता में प्रतीव वृद्धि हुई है ।

— गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक

महौषधि दान

ऋग्वेद में शिव को भेषज एवं औषधिदाता कहा गया है । वृषभ को जैन शास्त्र-पुराणकारों में जन्म-जरा-मृत्यु आदि सांसारिक व्याधियों से पीड़ित जीवों को धर्मरूपी औषधि प्रदान करने वाला कहा गया है । यहां तक कि महापुराण के अनुसार, जब उनका निर्वाण हुआ तब यह अनुभव किया गया कि एक महौषधि का वृक्ष मनुष्यों के जन्मादि रोगों को नष्ट कर पुनः स्वर्ग में चला गया ।

— डा० हीरालाल जैन (जनिज्म थू एजेज)

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत व प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। संव. मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदाम नांग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित।	१-५०
पुस्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-६०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अवणबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	१-२५
अध्यात्मरहस्य : पं. आशाधर की सुन्दर कृति, मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। रचयन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-बोपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	५-००
कसायपाण्डुसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिमूत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	५-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री दरयाबसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग	२५-००
Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)	

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण २

अप्रैल-जून १९७७

सम्पादन-मण्डल
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

सम्पादक
श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य :
१ रुपया ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	पंच परमेष्ठियों का स्वरूप	३३
२.	शुभ राग की हेयोपादेयता—विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	३४
३.	प्राधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में छन्द-योजना —कु० इन्दु राय, एम. ए., लखनऊ	३६
४.	सारस्वत व्याकरण के टीकाकार और मकर- उल-मलिक पुंजराज श्रीमाल—श्री कुन्दन- लाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	४३
५.	महावीर ने कहा था—श्री रमाकान्त जैन, बी. ए., सा. र., त. को., लखनऊ	४८
६.	अनादि मूलमंत्रोऽयम्—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, एम. ए., दिल्ली	५०
७.	रघुसागर के रचयिता कौन ?—श्री बंशीधर शास्त्री, एम. ए., सवाई माधोपुर	५४
८.	अग्रवाल जैन जाति के इतिहास की आवश्यकता —श्री अमरचन्द नाहुटा, बीकानेर	६१
९.	'शात्य' : जैन संस्कृति का पूर्वपुरुष —डा० हरिन्द्र भूषण जैन, उज्जैन	६३
१०.	श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल, दिल्ली —श्री जनेन्द्र कुमार	आ. पृ. २

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों में उद्धृत हमारे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-वृत्ति के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, मानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित।	१-५०
युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-६०
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : मस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	१-२५
अध्यात्मरहस्य : पं. आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। रचयन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रन्थ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
न्याय-दीपिका : आ. अमिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	५-००
कसायपाहुडसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिपुत्र लिखे। सम्पादक पं. हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	५-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
धाकक धर्म संहिता : श्री वर्यार्वसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मूद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग	२५-००
Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)	

त्रैमासिक शोध पत्रिका

अनेकान्त

वर्ष ३० : किरण २

अप्रैल-जून १९७७

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन
डा० प्रेमसागर जैन
श्री गोकुलप्रसाद जैन

सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन
एम.ए., एल-एल.बी.,
साहित्यरत्न

वार्षिक मूल्य ६) रुपये
एक किरण का मूल्य :
१ रुपये ५० पैसे

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ०
१.	पंच परमेष्ठियों का स्वरूप	३३
२.	शुभ राग की हेयोपादेयता—विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	३४
३.	भाषुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में छन्द-योजना —कु० इन्दु राय, एम. ए., लखनऊ	३६
४.	सारस्वत व्याकरण के टीकाकार श्रीर-मफर- उल-मलिक पुंजराज श्रीमाल—श्री कुन्दन- लाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली	४३
५.	महावीर ने कहा था—श्री रमाकान्त जैन, बी. ए., सा. र., त. को., लखनऊ	४८
६.	अनादि मूलमंत्रोऽयम्—श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, एम. ए., दिल्ली	५०
७.	रयणसार के रचयिता कौन ?—श्री बंशीधर शास्त्री, एम. ए., सवाई माधोपुर	५४
८.	अप्रवाल जैन जाति के इतिहास की आवश्यकता —श्री अमरचन्द्र नाहटा, बीकानेर	६१
९.	'व्रात्य' : जैन संस्कृति का पूर्वपुरुष —डा० हरीन्द्र भूपण जैन, उज्जैन	६३
१०.	श्री पन्नालाल जैन अप्रवाल, दिल्ली —श्री जनेन्द्र कुमार	भा. पृ. २

प्रकाशक

वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

श्री पन्नालाल जैन अग्रवाल, दिल्ली

□ श्री जेनेन्द्रकुमार

श्री पन्नालाल जी अग्रवाल व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं। वह विशेषकर दिल्ली के जैन सांस्कृतिक इतिहास के जीते जागते कोष हैं। इस दिशा में उनका काम अत्यन्त मूल्यवान और दलावनीय है। सन् १८७७ की जैन रथ-यात्रा देहली का इतिहास, उन्हीं की खोज के परिणाम स्वरूप उपलब्ध हो पाया है। देहली की जैन संस्थाओं की सूची पूरे विवरण के साथ अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं में अग्र अज प्राप्त है तो उन्हीं के सतत अध्यवसाय के कारण। इसके अतिरिक्त, उनकी एक अत्यन्त उपयोगी कृति है 'प्रकाशित जैन साहित्य'। उसमें उन्होंने जाने कहां-कहां से सूचनाएँ प्राप्त करके यह परिपूर्ण संकलन समाज को प्रदान किया है। शोधकर्ताओं के लिए यह बहुत ही काम का संग्रह है, और इसके लिए उनके श्रम की जितनी स्तुति की जाय थोड़ी है। अनेकानेक जैन एवं जैनोत्तर विद्वानों से श्री पन्नालाल जी ने निरन्तर अपना सम्पर्क रखकर नवीन रचनाओं और निर्माणों की भूमिका प्रस्तुत की है। देश विदेश के विद्वानों एवं पर्यटकों को उन्होंने यथावश्यक सामग्री सुलभ की है और यथोचित मार्गदर्शन में उनके सहायक हुए हैं। आपके सहयोग से वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली; माणिकगढ़ दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला, बम्बई; भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस; चवरे दिगम्बर ग्रन्थमाला, कारंजा; जीवराज ग्रन्थमाला, थोलापुर; मद्रास विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय (हिन्दी परिषद) एवं दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत द्वारा अनेकानेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनके पास उन जैन-भजैन, देशी-विदेशी विद्वानों, लेखकों तथा सुधारकों के सैकड़ों पत्र सुरक्षित हैं जिन्होंने पिछले पचास वर्षों में जैन समाज अथवा साहित्य की सेवा में अपना योग दिया है। बैरिस्टर चम्पतराय जी, जे. एल. जैनी, बाबू भुरजभान वकील, मर्हिपि शिवब्रतलाल

वर्मेन, ब० शीतलप्रसाद, श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी, पंडित नाथूराम जी प्रेमी, बाबू छोटेलाल जी आदि अनेकानेक जैन ऐतिहासिक पुरुषों के पत्रों की उनके पास अमूल्य निधि है जिनसे जैन समाज और जैन जागरण का इतिहास प्रत्यक्ष हो सकता है। दिल्ली के लाल किले में हुए सांस्कृतिक सम्मेलन की साहित्यिक प्रदर्शनी में जैन भण्डारों के कुछ अमूल्य प्राचीन ग्रन्थों और चित्रों का प्रदर्शन उन्हीं के द्वारा सम्भव हुआ। दिल्ली की कई साहित्यिक, सामाजिक तथा शिक्षण संस्थाओं के आप उत्साहशील कार्यकर्ता रहे हैं और अपने कर्तव्यों और दायित्वों का वहां पूरी परायणता से निर्वाह किया है। आप में आत्म प्रदर्शन का भाव एकदम नहीं है और 'गुणिषु प्रमोद' आपका स्वभाव बन गया है। आपके असंख्य लेख, नोट आदि प्रमुख जैन पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। आपके सहयोग और सहायता का उल्लेख तो अनगिनत ग्रन्थों में मिलता है। फुटकर रूप से किमे गए उनके सेवा कार्यों की तो गिनती ही क्या? उनकी सूची देने बैठें तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का ही निर्माण हो सकता है।

आपका जन्म माघ शुक्ला द्वादशी संवत् १९६० को हुआ। पिता ला० भगवानदास जी आपके जन्म के समय नमीराबाई छावनी में थे, पर लालन पालन बचपन से दिल्ली में ही होता रहा। आप निर्लोभ, धर्म परायण और परिवार आदि की ओर से सुखी एवं निर्विघ्न हैं। यशः कामना में प्रसूत न होने के कारण आपकी रचनात्मक प्रवृत्तियों में कभी बाधा नहीं पड़ सकी और अपने युवाकाल के समान आज भी आप साहित्य क्षेत्र एवं साहित्य सेवियों की सेवा में पूर्ववत् तत्पर और दत्तचित्त बने हुए हैं।

□ □ □

ग्रोम् ग्रहम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३०
किरण २

वीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
वीर-निर्वाण सवन् २५०३, वि० स० २०३३

{ अप्रैल-जून
१९७७

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप

अर्हन्त स्वरूप

घण-घाइकम्म-रहिया केवलणाणाइ-परमगुण-सहिया ।

चोत्तिस-अबिसअ-जुत्ता अरिहन्ता एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७१ ॥

घन-घातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि परम गुणों से सहित और चौतीस अतिशयों से युक्त अर्हन्त होते हैं ।

सिद्ध का स्वरूप

णट्टु-कम्मबंधा अट्टु-महागुण-समणिया परमा ।

लोयग-ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७२ ॥

जिन्होंने आठ कर्मों के बन्ध को नष्ट कर दिया है, जो आठ महागुणों से संयुक्त, परम, लोक के अग्रभाग में स्थित और नित्य हैं, वे सिद्ध हैं ।

आचार्य का स्वरूप

पंचाचार-समग्गा पंचिदिय-दंति-दप्प-णिद्दलणा ।

धीरा गुण-गंभारा आयरिया एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७३ ॥

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तप, वीर्य इन पांच आचारों से परिपूर्ण, पांच इन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलने वाले, धीर और गुण-गम्भीर हैं, वे आचार्य हैं ।

उपाध्याय का स्वरूप

रयणत्तय-संजुत्ता जिण-कहिय-पयत्थ-देसया सूरु ।

णिकंखभाव-सहिया उवज्झाया एरिसा होंति ॥ नियमसार, ७४ ॥

जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीन रत्नों से युक्त, जिनेन्द्र के द्वारा कहे गए पदार्थों का उपदेश करने में कुशल और आकाक्षा रहित है, वे उपाध्याय हैं ।

साधु का स्वरूप

वावार-विप्पमुक्का चउव्विहाराण्णासयारत्ता ।

णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति ॥ नियमसार, ७५ ॥

जो सभी प्रकार के व्यापार से रहित हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्य और तपस्व चार प्रकार की आराधना में लीन रहते हैं, बाहरी-भीतरी परिग्रह से रहित तथा निर्मोह हैं, वे ही साधु हैं ।

शुभ राग की हेयोपादेयता

□ विद्यावारिधि डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

गत् १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, कसबा चिलकाना (सुलतानपुर—चिलकाना), जिला सहारनपुर (उ० प्र०) के निवासी अग्रवाल जातीय दिगम्बर जैन पं० ऋषभदास जी एक अछ्छे प्रबुद्ध विद्वान्, सुकवि एवं सुलेखक हो गये हैं। पुराने लोगों से उनकी बहुत प्रशंसा सुनी है। दैव-योग से ३४-३५ वर्ष की अल्पायु में ही उनका निधन हो गया था। हिन्दी और संस्कृत के साथ ही साथ वह उर्दू और फारसी के भी अछ्छे विद्वान् थे, धर्मज्ञ तो वह थे ही। उर्दू में उन्होंने 'मिथ्यात्वनाशक नाटक' नाम की एक बहुत सुन्दर एवं मनोरञ्जक पुस्तक लिखी थी। हिन्दी गद्य एवं पद्य में भी कई रचनाये बनाई जाती हैं। वि० स० १९४३ (सन् १९८६) में उन्होंने अपने पितामह ला० सुखदेव जी, पिता कवि मंगलसेन जी तथा एक अन्य ब्रजुगं पं० सन्तलाल जी की प्रेरणा से सरस हिन्दी पद्य में 'पंचबालयति-पूजापाठ' की रचना की थी। उक्त पाठ की उत्थानिका के रूप में उन्होंने ३१ पद्यों में जैनी पूजा विषयक एक रोचक शका समाधान प्रस्तुत किया है, जो मूलरूप में स्व० आचार्य जुगल किशोर मुख्तार ने 'स्व-सम्पादिन 'अनेकान्त' (वर्ष १३, कि० ६ दिसम्बर १९५४ पृ० १६५-१६६) में प्रकाशित की थी।

प्रथम ३ गोरखों में विद्वान् लेखक ने यह शका उठाई है कि जिनानाम में राग और द्वेष दोनों को ही कर्म-बन्ध का मूल कारण, अतएव त्याग्य कहा है, किन्तु साथ ही जिनपूजा को, जो प्रकट ही 'राग-समाज' अर्थात् बहुलता के साथ रागपूर्ण है, उपादेय एवं कार्य-माधक सिद्धि प्रदाता प्रतिपादित किया है। यह विसंगति एवं परस्पर विरोध क्यों? इसका क्या समाधान है?

आगे के २८ पद्यों में, जिनमें से ८ दोहे हैं और शेष अड्डित छन्द में हैं, एक रूपक द्वारा सुन्दर समाधान प्रस्तुत किया है—

एक वन में एक घने वृक्ष के नीचे बिल में एक चूहा रहता था, जो बड़ा दीर्घदर्शी, विज्ञ, विचक्षण और गुण-ग्राही था। दैवयोग से एक दिन अपने बिल से निकल कर भोजन की खोज में वह वन में यत्र-तत्र फिरने लगा, कि अकस्मात् सामने की ओर से एक बिलाव को आता देख कर चकित-चित्त हो लौटने के लिए मुड़ा, तो देखा कि पीछे से उसकी तान में एक नेवला चला आ रहा है। ऊपर की ओर निगाह की तो देखा कि उसी की घात में एक कौआ लगा है। बड़ी सकटापन्न स्थिति थी—देखा कि अब मरण निश्चित है। सोचने लगा कि किस प्रकार जीवन की रक्षा हो—आगे बढ़ता हूँ तो बिलाव खा जायेगा, पीछे लौटता हूँ तो नेवला भक्षण कर जायेगा। यही टहरता हूँ तो कौआ नहीं छोड़ेगा, कहीं भी कोई शरण-स्थान दिखायी नहीं पड़ता? इस असमंजस में सोचता हुआ चारों ओर दृष्टि दौड़ा रहा है कि देखा कि एक शिकारी ने बिलाव को अपने जाल में फँसा लिया है। अब चूहे ने धैर्य धारण किया और चतुराई से बिलाव के निकट पहुँचा। बिलाव प्रसन्न हुआ और पूछा, 'कहो कैसे आना हुआ?' चूहा बोला, 'हे मार्जार सुन! यद्यपि तुझे जाल में बँधा देखकर मैं प्रसन्न होता और तेरे पास फटकता भी नहीं, किन्तु यदि तू मेरी शर्त स्वीकार करे तो मैं अभी तेरे सारे बन्धन काट दूँ। मेरे शत्रु काग और नेवला मेरी घात में लगे हैं, उनसे तुम्हीं मुझे बचा सकते हो।' मार्जार ने कहा—'चतुर मित्र, उपाय तो बताओ। मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है, मेरी बात का विश्वास करो।' मूषक बोला—'मित्र, जब मैं तेरे पास आऊँ तो तू बड़े हितकारी वचनों के साथ मेरा सन्मान करियो। तेरे ऐसे व्यवहार से वे काग और नेवला मेरी आज्ञा त्यागकर भाग जायेंगे, और मैं प्रफुल्लित मन से तेरे समस्त बन्धन काट दूँगा, विश्वास कर। हम दोनों की

प्राण रक्षा का यही उपाय है।'

बिलाव ने यह सोचकर कि इस चूहे के बिना जीवन रक्षा नहीं है, उसकी बात स्वीकार कर ली, बड़े प्रेम से उसे अपने पास बुला कर उसका आदर सम्मान किया। काग और नकुल भाग गये। चूहा उस ओर से सुरक्षित हुआ, और अब बिलाव का जान काटने लगा, किन्तु फिर उसके मन में आत्मरक्षा के लिए शक्ता जागी कि यह बिलाव तो शेरों जातिविरोधी घोर शत्रु है, स्वयं बन्धन मुक्त होते ही क्या यह मुझे छोड़ देगा?, मार्जार बोला, 'मित्र क्यों शिथिल हो गये? क्या अपना वह वचन भूल गये और मन में द्रोह करने की ठान ली है?' मूषक ने उत्तर दिया, 'आग से कमल भले ही उरान्न हो जाय, तो भी मैं कभी भी द्रोह नहीं ठानूँगा। तुमसे ही मुझे शका है, इसी से काम में ढीला पड़ गया हूँ। मैं सच कहता हूँ, तू धीरज रख, मैं तेरे समस्त बन्धन काट दूँगा।' बिलाव ने कहा—'मैंने तो सौगंध खाकर तुमसे मित्रता की है, फिर भी तेरे मन से शंका नहीं गई। तेरा मन शक्ति रहेगा तो मेरे बन्धन कैसे काटेगा? अतः मेरा कहा मान और अविश्वास तज।'।

इस पर चतुर मूषक ने कहा—'मैंने तो तेरे से प्रयोजनवश-कार्यार्थ प्रेम किया है। निश्चय ही तू मेरा जाति-विरोधी और निर्दय है। सो मेरा कर्तव्य तो आत्मरक्षा है उस प्रयोजन की सिद्धि होने तक ही मेरी-तेरी यह कार्यार्थ प्रीति परिमित है। वैसे, अपने वचन का निर्वाह भी मुझे करना ही है। अतः इस द्विविध विषमता से पार पाने के लिए मैंने यह निश्चय किया है कि एक कठिन बन्धन को छोड़कर तेरे अन्य सब बन्धन तो अभी काट देता हूँ, तुम्हें पकड़ने के लिए जब अधिक आयेगा तो तू मुझे भूलकर अपने संकट से व्याकुल हो जायेगा। उस समय में वह बन्धन भी काट दूँगा। छूटते ही तू भाग जायेगा, और मेरे दुःख का भी अन्त हो जायेगा। अतएव मूषक ने ऐसा ही किया और मार्जार ने भी प्रसन्न हो अपनी स्वीकृति दे दी। उतने में अधिक आया, उसे आता देख अपने-अपने कार्य सिद्धि की आशा से सभी प्रगन्न हुए। जैसे ही शिकारी पकड़ने के लिए निकट आया, बिलाव आसन्न विपत्ति से व्याकुल हो गया। चूहे ने वह

बन्धन भी काट दिया और अपना दाव देख तुरन्त भाग गया।

लेखक कहता है कि—'हे भव्य विचार कर देखो। उक्त प्रश्न का समस्त भ्रान्ति का निरसन करने वाला यह दृष्टान्त ही उत्तर है। इसका भावार्थ है कि यद्यपि सब ही शत्रु त्याज्य है, तथापि उनमें से किसी एक का (जिससे कार्य सध सके) पक्ष ग्रहण करके अन्य सबको तज दे, और जब कार्य सध जाय तो आत्मरक्षा को मुख्यता देकर प्रत्युपकार कर दे, जैसा कि चूहे ने बिलाव के साथ किया। इस सम्बन्ध में बुद्धिमानों के सुनने समझने योग्य जो विशेष है, जिसमें विवाद-बुद्धि छोड़, भ्रम गिरता है, और आत्मा में खोज बुद्धि उत्पन्न होती है, वह कहता है—

मूषक को जीव समझो, जगत को उगका बिल, नकुल को द्वेष और काग को मोह मान लो। मार्जार राग है जो धर्म रूपी जाल में बधा है—पूजा, दागादि उस जाल के बन्धन है। यह जीव गुण भोग की खोज में मनुष्यगति रूपी वन में भटकता है। दो शत्रुओं से डरकर बन्धन में पड़े तीसरे शत्रु का उमने सहारा लिया। पूजादि राग के प्रभाव से द्वेष और मोह का क्षय हुआ गया और उनके साथ ही दुःख, दोष आदि शेष शत्रु भी पलायन कर गये। पुनः जीव सोचता है कि यदि इस शुभराग का भी पूरा विश्वास करूँ तो यह भी पिड नहीं छोड़गा और भववास को और अधिक बढ़ायेगा। मुझ प्रत्युपकार भी करना है, किन्तु तभी जब वह मुझे भवभ्रमर में न डाल सके।

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ यह जीव निश दिन अवसर की ताक म रहता है, और स्वपुरुषार्थ द्वारा पूर्ण ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य को प्राप्त कर लेता है तो (अर्हन्तरूप में) आर्य देश में विहार करता हुआ ससार के प्राणियों को हित—उपदेश देता है, तथा जिन पूजा का अतिशय जग में प्रगट करता है वह नहीं कहता, लोग स्वयं ही जान जाते हैं कि यह अर्हत् पद सातिशय जिन-पूजा का ही प्रभाव है। उक्त प्रशस्त राग के प्रति यही जीव का प्रत्युपकार है।

जो व्युत्पन्नमति है वे इस प्रकार मोक्षपद प्राप्त कर लेते हैं और जो शरुमति है वे राग-द्वेष-मोह के जवड़ों में फँसे रहते हैं। जो लोग जिनपूजादि शुभराग की शरण (शेष पृ० ४२ पर)

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में छन्द-योजना

□ कु० इन्दुराय एम. ए., लखनऊ

महाकाव्य को महत्ता एवं गरिमा प्रदान करने के लिए जैसे भावगत सौंदर्य अपेक्षमान है, वैसे ही उसका कलात्मक वैभव एवं शिल्प-सौष्ठव भी कम अपेक्षणीय नहीं। महाकाव्य के शिल्प को सुष्ठु, सुमेलकृत तथा सुग्राह्य बनाने के लिए भावानुकूल छन्दों का गठन नितांत वांछनीय है। छन्द कविता का परम्परागत एवं अनिवार्य अलंकार मात्र न होकर, काव्यात्मा की एक महत्वपूर्ण सृष्टि है। यह सृष्टि एक मधुर बन्धन की है जो काव्य के प्रवाह को नियंत्रित कर, भावों में सुव्यवस्था का प्रचार करती है। वस्तुतः 'छन्दोवद्धता काव्य का वह गूँथभूत तत्त्व है जो गद्य में उसका व्यावर्तन करता है। अतएव काव्य और छन्द का महत्तम एवं अविच्छिन्न सम्बन्ध है।'

भारतीय साहित्य में 'छन्द' शब्द का प्रयोग नया नहीं है। सच तो यह है कि 'छन्द' शब्द वेद के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है। वेदों के जो छः अंग स्वीकार किए गए हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष, इनमें छन्द भी एक अंग माना गया है। 'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति 'चदि' धातु से निष्पन्न हुई है, जिसे महर्षि पाणिनी ने 'चदेरादेश्छः' सूत्र द्वारा व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में, जो हर्ष और दीप्ति प्रदान करता है वही 'छन्द' है।

हिन्दी काव्य साहित्य के सन्दर्भ में छन्द की परिभाषा व्यक्त करते हुए श्री जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने लिखा है—

मत्त वरण गति यति नियम, अग्रहि नमता बंद।

जा पद रचना में मिले, भानु भनत स्वद छंद॥

अर्थात् जिस पद-रचना में मात्रा, वर्ण, यति, गति का निश्चित नियम हो एवं अंत में तुक साम्य हो अर्थात् अन्त्यनुप्रास हो वही छन्द है।^१ 'भानु' जी की परिभाषा

आज भी सर्वमान्य है, केवल अन्त्यनुप्रास का निर्देश मुक्त एवं अतुकांत छन्दों पर चरितार्थ नहीं होता है।

आधुनिक हिन्दी काव्यों की छन्द योजना का विशद अध्ययन करने वाले विद्वान् डा० पुत्तलाल शुक्ल के शब्दों में—'छन्द वह वैचर्यी ध्वनि है, जो प्रत्यक्षीकृत निरंतर तरंग भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके'^२ तथा 'छन्द नियमित मुख्यध्वनि रचना है'^३। तात्पर्य यह कि प्रत्येक छन्द मनुष्य की सौंदर्यशोष वृत्ति के परिणामस्वरूप सायास रचा जाता है, वह स्वतः उद्भूत नहीं होता।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट हो जाता है कि 'छन्द' काव्य का अलंकरण मात्र नहीं, उसका आधारभूत तत्त्व है। संक्षेपतः छन्द काव्य का अंतरंग पक्ष तथा कविता का सहज माध्यम है। छन्द का नियंत्रण भावावेगजन्य विष्टुःखलता में व्यवस्था का संचार करता है। छन्द के अभिन्न उपकरणों, यति, गति, लय, तुक आदि से ही काव्य में समुचित प्रवाह, शब्द विन्यास में भावाद्बोधन की शक्ति तथा अर्थ में प्राणवत्ता व जीवन्तता उद्भूत होती है।

छन्द दो प्रकार के होते हैं—वाणिक छन्द तथा मात्रिक छन्द। जिस छन्द में केवल मात्राओं की संख्या का विधान हो, अर्थात् चारों चरणों में एक समान मात्रा हो परन्तु वर्ण क्रम एक-सा न हो वही 'मात्रिकछन्द' है। इसके विपरीत, जिस छन्द के चारों चरणों में वर्ण-क्रम समान हो और वर्णों की संख्या भी समान हो वही 'वाणिक छन्द' है।^४ वाणिक छन्दों को वृत्त कहने की प्रथा है क्योंकि 'वृत्त गणों द्वारा क्रमबद्ध हैं जबकि मात्रिक छन्द मुक्त अर्थात् स्वच्छन्द विहारी है'^५।

१. प्रतिमा कृष्णबल—छायावाद का काव्य शिल्प, पृ. ३२

२. जगन्नाथप्रसाद, 'भानु'—छन्द प्रभाकर, पृ.

३. डा० पुत्तलाल शुक्ल—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० २१

४. वही पृ० २३

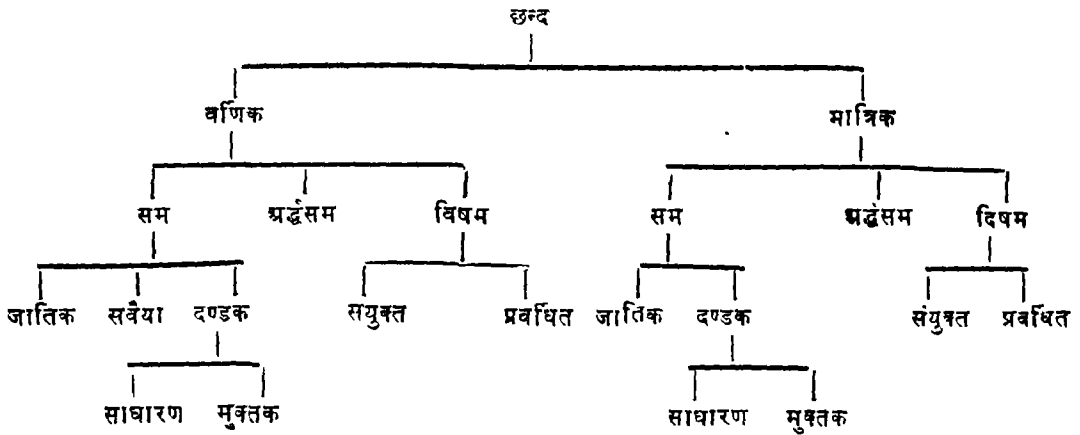
५. क्रम शरु संख्या वरण की, चतु चरणनि सम ज्ञेय।

सोई वाणिक वृत्त है, अन्य मात्रिक होय॥

—जगन्नाथप्रसाद 'भानु'—छन्द प्रभाकर, पृ० ६ (भूमिका)

६. वही पृ० ७ (भूमिका)

वर्णवृत्तों तथा मात्रिक छन्दों के भेद उपभेद है—इन्हें निम्नलिखित तालिका में स्पष्टतः प्रकट किया गया है।^१



छन्द चाहे वर्णिक हो अथवा मात्रिक, सभी का मूल-धार है स्वरों का लघु अथवा गुरु उच्चारण। श्रवणीय स्वर स्पन्दन से लेकर एक-एक निश्चित उच्चारण तीव्रता तक लघु स्वर (।) माना गया है और उसके ऊपर गुरु (ः)। यद्यपि लघु एवं दीर्घ के मध्य निश्चित विभाजक रेखा खीचना कठिन है, तदपि लघु-गुरु के निणय का आधार कालमान या बालभार है। इन्हीं लघु, दीर्घ मात्राओं की गणना द्वारा छन्द के प्रकार का निणय किया जाता है।

आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों की भाँति ही आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में भी वर्णवृत्तों तथा मात्रिक छन्दों दोनों का सफल वा सुष्ठु प्रयोग हुआ है। यह सत्य है कि वर्णवृत्तों का आयोजन मात्रिकों की विपुलात्मक सख्या के समक्ष नगण्यप्राय है; इसका कारण है खड़ी बोली हिन्दी की विशिष्टात्मक वृत्ति। 'संस्कृत की भाँति संश्लिष्ट एवं सन्धिसमासबहुला भाषा न होने के कारण हिन्दी में वर्णवृत्त का क्रम बध नहीं पाता, अतएव उसकी प्रवृत्ति का सहित से व्यवहृत की ओर होना ही वास्तव में, उसमें वर्णिक की अपेक्षा मात्रिक छन्दों के प्रचलन का मूल कारण है।'^२

भाषा की प्रतिकूलता के कारण ही जैन महाकाव्यों

में वर्णवृत्तों की स्वल्प रचना हुई है। कवि अनूप शर्मा ने 'वर्द्धमान' महाकाव्य में आद्योपात्त वृत्तों की सर्जना की है, महाकवि रघुवीर शरण मिश्र ने भी महाकाव्य 'वीरायन' में एकाध स्थलो पर वर्णिक वृत्त का उपयोग किया है। अवशिष्ट हिन्दी जैन महाकाव्यों में केवल मात्रिकों का प्रयोग दृष्टिगत होता है।

वर्णवृत्त

वर्णवृत्त के अध्ययन क्रम में 'गण' का ज्ञान आवश्यक है। तीन अक्षरों के संयुक्त 'त्रिक' को गण कहते हैं। विस्तार भेद की दृष्टि से 'त्रिकल' या त्रिक के आठ रूप हो सकते हैं। इन आठ रूपों को सुविधा की दृष्टि से गण नाम दे दिए गए हैं जो निम्नलिखित हैं :—

मगण(SSS) यगण(SSS) रगण(SSS) सगण(SSS)
तगण(SSS) जगण(SSS) भगण(SSS) नगण(SSS)

किसी छन्द में उद्युक्त त्रिकलों के निश्चित आवर्तन के नियम के अनुकूल ही वृत्तभेद निश्चित किया जाता है।

जैसा कि पूर्वोक्तेय किया जा चुका है, महाकाव्यकार अनूप शर्मा ने १७ सर्गों में निबद्ध अपने महाकाव्य 'वर्द्धमान' में आद्यतः केवल वृत्तों का आश्रय लिया है। 'वर्द्धमान' में समस्त वर्णवृत्तों की कुल सख्या १६६७ है, जिनमें १६२२ वंशस्थ, ७० द्रुतत्रिलम्बित, २ मालिनी (प्रथम

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिए—रघुनन्दन शास्त्री—“छन्द प्रकाश”, पृ० ४३-४७।

२. प्रतिमा कृष्णबल—छायावाद का काव्य शिल्प, पृ. ३२२

सर्ग) एवं ३ शार्दूल-विक्रीडित (अन्तिम, १७वां सर्ग) वृत्त है। इस गणना से सिद्ध हो जाता है कि वंशस्थ वृत्त के प्रयोग में कवि ने नया कीर्तिमान स्थापित किया है। आज तक किसी हिन्दी कवि ने एक ही कृति में इतने अधिक वंशस्थों का उपयोग नहीं किया है।

वंशस्थ

यह १२ आक्षरिक जगती वर्ग का समवृत्त छन्द है, अर्थात् इसके प्रत्येक पाद में १२ अक्षर होते हैं, जिनका गणक्रम है (जगण, तगण, जगण, रगण), यथा निम्न-लिखित उदाहरण में—

ज०	त०	ज०	र०
ISA	S SI	ISA	S IS
प्रभात	के पक्ष	प्रसार	पै चढ़ी
ISIS	S II	S	ISIS
गभस्तियां	ज्यो रवि	को	प्रकाशती
ISA	S SII	SI	SIS
कुमार	की प्रस्तुत	भाव	शैलियां
ISIS	S IIS	ISA	S
विराजती	थी हृदयाभिरूढ़	हो	

यद्यपि वंशस्थ वृत्त करुण, शृंगार एवं शान्त रसों के अनुकूल है परन्तु 'वंशस्थ सिद्ध कवि' अनूप ने नवों रसों के परिपाक का उपकरण वंशस्थ को बनाया है। अन्त्यानुप्रास मुक्त वंशस्थ वृत्तों में कवि ने यति विधान के क्षेत्र में भी स्वच्छन्दता का परिचय दिया है। साधारणतः, आचार्यों ने पाच वर्णों के पश्चात् यति लक्षण निर्दिष्ट किया है, किन्तु महाकवि ने सुविधानुसार कही चार कही पाच तो कही छः वर्णों के बाद यति दी है। निम्नलिखित वृत्त में चार वर्णों पर यति है। इस वृत्त में गुम्फित अन्त्यानुप्रास भी दर्शनीय है—

प्रसन्नता, सुन्दरता, सुभाग्यता,
नृपाल के आगम में प्रफुल्ल थी,
धिमृग्यता, चंचलता, मनस्विता,
कुमार सेवा करती अजस्र थी।^१

साराशतः कवि अनूप ने 'वर्द्धमान' महाकाव्य में

कथावर्णन, प्रकृति चित्रण, दर्शन निरूपण, पात्र सृष्टि, उप-देश कथन, वस्तु व्यञ्जना, रसान्विति सभी के लिए वंशस्थ वृत्त को साधन बनाया है। डा० पुत्तलाल शुक्ल के शब्दों में तो "मूर्तिकार के हाथों में जैसे मृदित मृदु मृत्तिका होती है, वैसे ही अनूप की प्रतिभा के करों में वंशस्थ रहा है।"^२

द्रुतिविलम्बित

(नगण, भगण, भगण, रगण=III, SII, SII, SIS)

द्रुतिविलम्बित वृत्त का प्रयोग वर्द्धमान के प्रत्येक सर्ग में हुआ है। विशेषतः सगन्ति में, छन्द परिवर्तन के महाकाव्यीय लक्षण के दृष्टिकोण से इस वृत्त का आयोजन (प्रथम एवं सत्रहवें सर्ग के अतिरिक्त) सभी सर्गों के अन्त में हुआ है। इस वृत्त द्वारा भावी कथा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त की गई है, यथा—

न. भ. भ. र.
II ISA IS IISA S

इस प्रकार महा अनुराग से

जगत था करता जब प्रार्थना

प्रभु अचंचल चित्त उठे, तथा,

चल दिए लखिए किस ओर ?^३

इसी वृत्त ने महाकाव्य में विश्रामदायी स्थल का दायित्व निर्वाहा है। कवि ने द्रुतिविलम्बित वृत्त का प्रस्तुतीकरण संस्कृत प्रयोगों की भांति केवल दो चरणों तक सीमित न रख, चारों चरणों तक प्रवाहमान रखा है।

शार्दूलविक्रीडित

(मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण, गुरु)

SSS IIS ISA IIS SSI SSI S

सम्पूर्ण महाकाव्य 'वर्द्धमान' में केवल तीन शार्दूल-विक्रीडित वृत्तों का प्रयोग हुआ है। तीनों वृत्त अन्तिम सर्ग के अन्त में स्थित हैं, जिनमें उपसंहार रूप में कथा अन्तिम बार ज्योतिष हुई है—

भय्यो ! है यह मेदिनी शिविर सो जाना पड़ेगा कभी,
भाग्य का पथ ज्ञान है न, इससे सद्बुद्धि आये न क्यो ?

१. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ३५३।

२. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. २५२।

३. सम्पादक डा० प्रेमनारायण टण्डन—अनूप शर्मा :

कृतिया और कला, पृ. २०८।

४. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ५२१।

ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा,
है जेनेन्द्र-पदारविन्द-तरणी संसार-पाथोधि की ।

प्रस्तुत वृत्त में भी 'त्रिकलों' का सम प्रवाह चारों
चरणों में गतिमान है । महाकाव्य में इस वृत्त का उपयोग
अल्प होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है ।

मालिनी—(नगण, नगण, मगण, यगण, यगण)

III III SSS ISS ISS

कवि अनूप ने समीक्ष्य महाकाव्य वर्द्धमान में केवल दो
मालिनी वृत्त आयोजित किए हैं; एक प्रथम सर्ग के मध्य
में विश्राम व नवस्फूर्ति देने के लिए तथा एक प्रथम सर्ग
के अन्त में है, छन्द परिवर्तन के शास्त्रीय लक्षण के अनु-
सार । वस्तुतः कवि की वृत्ति मालिनी वृत्त के प्रयोग में
अधिक नहीं रही है । एक उदाहरण प्रस्तुत है—

II I I II SS S ISS S ISS
जय रति पनि तेरी हो, तुझे सर्वदा ही
कुल गुरु अबलाएं मानती केनि मे है,
पर अब जिस प्राणी को, सखे ! जन्म देगा,
वह विजित तुझे भी भूमि में आ करेगा ।^१

उपेन्द्रवज्रा — (जगण, तगण, जगण, गुरु, गुरु)

ISSI SSI ISI S S

समस्त हिन्दी जैन महाकाव्यों में, केवल कवि रघु-
वीर शरण मित्र ने उपेन्द्रवज्रा का अव्यल्प प्रयोग 'वीरा-
यन' महाकाव्य में किया है । हस्तिनापुर राज्य के पतन
का चित्रण प्रस्तुत वृत्त के माध्यम से हुआ है, यथा—

नृशस स्वार्थी हर ओर छाये
विद्वान जानी पग चूमते थे
विचित्र क्रीड़ा उस राज की थी
गुलाब कार्टों पर भूलते थे ।^२

एकादश अधरों वाले उपेन्द्रवज्रा वृत्तों की कुल
संख्या महाकाव्य 'वीरायन' में केवल तीन है । ये तीन
वृत्त ही विपुल सख्यात्मक मात्रिक छन्दों के मध्य नगीने
की भांति जड़े हुए हैं ।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि आधु-
निक हिन्दी जैन महाकाव्यों में पाँच प्रकार के ही वृत्त-

वृत्तों का प्रयोग हुआ है, शेष सभी छन्द 'मात्रिक' हैं ।

वर्द्धमान महाकाव्य के अतिरिक्त समस्त हिन्दी जैन
महाकाव्यों में मात्रिक छन्दों का विविधात्मक, विपुल
प्रयोग दृष्टिगत होता है । श्री मोतीलाल मातण्ड ऋषभ-
देव कृत 'श्री ऋषभचरितसार' तथा सौराष्ट्र के राजकवि
मूलदास मोहनदास नीमावत् विरचित महाकाव्य 'वीरा-
यन' में गोस्वामी तुलसीदास की अमरकृति (रामचरित
मानस) की छन्द शैली का पूर्णतः अनुसरण करते हुए
दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, वीर हरिगीतिका आदि
छन्दों को ही स्थान दिया गया है । इन छन्द प्रयोगों में
कोई नवीनता नहीं है ।

कवि घन्यकुमार सुवेश ने "परम ज्योति महावीर"
महाकाव्य की रचना केवल चौपाई छन्द में निबद्ध कर दी
है । बहुत प्रयत्न करने पर इन चौपाइयों के मध्य १६
मात्रिक अन्य छन्द ढूँढ़े जा सकते हैं परन्तु कवि का
अभीष्ट छन्द 'चौपाई' ही रहा है ।

कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन ने अपने दोनों महाकाव्यों
'तीर्थङ्कर भगवान महावीर' तथा "पार्श्व प्रभाकर" में
समान छन्द शैली अपनाई है । उभय महाकाव्यों में एक
सर्ग में प्रायः एक ही प्रकार के सममात्रिक छन्दों की
रचना हुई है तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित
कर दिया गया है । सर्गान्त छन्द प्रायः अर्द्धमम मात्रिक
है । "तीर्थङ्कर भगवान महावीर" महाकाव्य के आमुख
में कवि ने लिखा है — "यह भक्ति की ही शक्ति है जिसने
मुझमें मेरे आराध्य के प्रति ११११ छन्द लिखवा लिए"
यह छन्द संख्या विवादास्पद है, क्योंकि गणना करने पर
छन्दों की संख्या ११२२ बैठती है ।

भगवान महावीर के २५ सोबे निर्वाण वर्ष में प्रका-
शित होने वाले, श्री रघुवीर शरण 'मित्र' विरचित 'वीरा-
यन' तथा डा० छैलबिहारी कृत 'तीर्थङ्कर महावीर' महा-
काव्यों में वैविध्यपूर्ण छन्द सृष्टि हुई है । महाकाव्यकारों
ने स्वच्छन्तापूर्वक सममात्रिक, अर्द्ध सममात्रिक, विषम
एवं मुक्त सभी प्रकार के छन्दों का चार प्रयोग किया है,
कही कही नवीन छान्दस् योजनाएँ भी सफलता सहित

१. अनूप शर्मा—वर्द्धमान, पृ. ५८५ ।

२. वही—पृ. ७० ।

३. रघुवीर शरण मित्र—'वीरायन', पृ. ७३ ।

४. वीरेन्द्र प्रसाद जैन—तीर्थङ्कर भगवान महावीर 'आमुख'

प्रयुक्त हुई हैं। 'वीरायन' में कवि ने सर्वाधिक उपयोग मिश्र छन्दों के योग से निमित्त गीतों का किया है, तथा कथा वर्णन हेतु ३२ मात्रिक मत्त सर्वथा छन्द प्रयुक्त किया है। 'तीर्थङ्कर महावीर' महाकाव्य में भी डा० गुप्त ने स्वतन्त्र एवं मार्मिक गीतों की सृष्टि की है जिनमें मिश्र छन्द प्रयोग दर्शनीय है।

साध्वी मंजुला जी ने प्रबन्ध काव्य "बन्धन मुक्ति" में छन्दों का कौशल केवल आठवें (उद्धार) सर्ग में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः सम्पूर्ण कृति में उद्धार सर्ग ही सर्वाधिक मर्मस्पर्शी, काव्यात्मक एवं भाव-गाम्भीर्यपूर्ण है, जिसमें चन्दना सती के दुःखपूर्ण जीवन की मार्मिक कथा एवं भगवान् महावीर द्वारा चन्दना उद्धार की अलौकिक घटना अनुस्यूत की गई है। शेष सर्गों में सिन्धु, रूपमाला, गीतिका, सार एवं वीर आदि सममात्रिक छन्द आयोजित हैं।

विभिन्न हिन्दी जैन महाकाव्यों में मात्रिक छन्दों की योजना का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के पश्चात् इन काव्यों में प्रयुक्त कतिपय छन्द-रूपों का संक्षिप्त विश्लेषण अभीष्ट होगा—

१६ मात्रिक छन्दः—

आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में प्रायः प्रत्येक में १६ मात्रिक छन्दों का विपुलात्मक प्रयोग किया गया है। १६ मात्रिकों में भी चौपाई छन्द सर्वाधिक प्रयुक्त है। चौपाई छन्द का लक्षण निदिष्ट करते हुए आचार्यों ने चरण के अन्त में जगण (ISA) तथा तगण (SSI) का निषेध स्वीकारा है, अतः महाकाव्यकारों ने शास्त्रीय लक्षणानुसार चौपाइयों की सृष्टि की है, उदाहरणार्थ—

वर्द्धमान की बालमुलभ ये।

शुभ चेष्टाएं हृदय मोहती ॥

उनकी तुच्छ क्रियाओं से भी।

मौलिक बातें अमित सोहती ॥^१

चौपाई छन्दों के मध्य कहीं-कहीं अनायास डिल्ला, शृंगार एवं पञ्चटिका आदि छन्दों की सृष्टि हो गई है।

'पार्श्व प्रभाकर' में डिल्ला का प्रयोग दर्शनीय है, जिसके प्रत्येक चरणान्त में भगण (SI) रखा गया है—

जय मानवता के आभूषण

जय उग्रवंश नभ के भूषण

जय विश्वसेन ब्राह्मी नन्दन

जय पार्श्वनाथ शत शत वन्दन ॥^२

इसी प्रकार, शृंगार छन्द चौपाइयों के मध्य आ गए हैं, परन्तु 'तीर्थङ्कर महावीर' महाकाव्य में कवि ने चौपाइयों की प्रपेक्षा १६ मात्रिक शृंगार छन्दों की ही अधिक सर्जना की है। 'शृंगार' का लक्षण है (३+२ मात्राएं तथा चरणान्त में SI=३ मात्राएं) निम्न पद में शृंगार छन्द प्रयोग देखिए—

सुगन्धित पुष्पों का कर लेप

भाल पर तिलक लगाया एक

शीश पर चूड़ामणि फिर बांध

दिया नयनों में काजल आंज।^३

आधुनिक काल में कवियों ने समान मात्रिक दो छन्दों के प्रयोग से एक सममात्रिक छन्द की रचना भी की है। निम्नलिखित १६ मात्रिक छन्द के प्रथम दो चरणों 'चौपाई' के तथा अन्तिम दो चरण 'शृंगार' छन्द के हैं—

चौपाई { उन्हें कुछ ममता कोह न था
 { नही कुछ मन मे राग व्यथा
शृंगार { नही अभिलाषा मिले प्रसिद्धि
 { लक्ष्य बस योग ध्यान की सिद्धि^४

२४ मात्रिक

१६ मात्रिक की भांति ही २४ मात्रा के विभिन्न प्रकार के सममात्रिक एवं अर्द्धसम मात्रिक छन्दों का प्रयोग जैन महाकाव्यों में प्राप्य है। सममात्रिकों में रोला (११, १३ मात्राओं पर यति)—

रोला— ग्यान किरन तें ऋषभ सूर्य अग्यान नसाया।

कोटि कोटि भविजन को भवतें पार लगाया ॥

गुन अतत के नाथ प्रथम तीर्थङ्कर स्वामी।

सुर सुरेन्द्र बंदहि नित तिन्ह पद सीस नमामी ॥^५

१. वीरेन्द्रप्रसाद जैन—तीर्थङ्कर भगवान् महावीर, पृ. ७१।

२. वीरेन्द्रप्रसाद जैन—पार्श्व प्रभाकर, पृ. २२२।

३. डा० छैलबिहारी गुप्त—तीर्थङ्कर महावीर, पृ. २०।

४. वही, पृ. १४५।

५. श्री मोतीलाल मार्टण्ड 'ऋषभदेव'—श्री ऋषभ चरितसार, पृ. ११०।

तथा रूपमाला (१४, १० पर यति, अन्त में ५।) छन्द अधिक दृष्टिगत होते हैं। कवि वीरेन्द्र प्रसाद जैन ने रूपमाला छन्दों का अर्द्ध प्रयोग किया है, अर्थात् छन्द में चार चरणों के स्थान पर केवल दो ही चरणों से एक पूरा छन्द निर्मित किया है, यथा—

हो गया समरस सबेरा फैलता आलोक ।

राग तम छिपना दिखाता, चिर विरती का लोक ।^१

२४ मात्रिक अर्द्धसम छन्दों में सोरठा एवं दोहे का प्रयोग परम्परा से होता चला आया है। जैन महाकाव्यों में भी इनकी स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ है। रघुवीर शरण 'मित्र' जी ने 'दोहा' छन्द को दो प्रकार की लिपि-शैली में प्रस्तुत किया है, प्रत्येक रूप निम्न पंक्तियों में अंकित है—

(१) विविध भाव प्राणी विविध, पूजा विविध प्रकार ।

स्याद्वाद के स्वरों से, अर्चन बारम्बार ॥^२

(२) अपने अपने धर्म है, अपने अपने कर्म ।

धर्म धर्म सब गा रहे, नहीं जानते मर्म ॥^३

आधुनिक काल में सममात्रिक छन्दों का अर्द्धसम प्रयोग अत्यधिक प्रचलित हो गया है। 'वीर छन्द' ३१ मात्राओं का सममात्रिक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में १६, १५ मात्राओं पर यति होती है। आधुनिक कवि यति के स्थान से नवीन चरण प्रारम्भ कर, दो ३१ मात्राओं का प्रस्तार चार चरणों तक कर देता है—

धन्य पिताजी धन्य जननि मम, = १६ मात्राएं

धन्य धन्य आदर्श ललाम । = १५ ,,

धन्य भाग मम मिल आप मम, = १६ ,,

मात पिता अनुपम अभिराम ॥^४ = १५ ,,

ठीक इसी प्रकार डा० गुप्त ने २७ मात्रिक सरसी (१६, ११ पर यति) छन्द का अर्द्धसम प्रयोग किया है, यथा—

राजमहल में करती थी सब == १६ मात्राएं

अपना अपना कार्य == ११ ,,

कोई प्रभु की बनी सेविका == १६ ,,

कोई बनकर धाय^५ == ११ ,,

सारांशतः आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में १२ मात्रा से लेकर ३२ मात्रा तक के सममात्रिक तथा विविध प्रकार के अर्द्धसम मात्रिक छन्दों का सृष्टि कौशल देखा जा सकता है। केवल इतना ही नहीं विषम छन्द, मुक्त छन्द एवं मिश्र छन्द सम्बन्धी नूतन छान्दस् प्रयोग भी विश्लेषणीय है।

हिन्दी काव्यों में मुक्त छन्दों का प्रयोग अधुनातन है, जिस पर विदेशी एवं हिन्दीतर भारतीय भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। बहुत समय तक अतुकात छन्दों को मुक्त छन्द माना जाता रहा, किन्तु यह धारणा पूर्णतः भ्रान्त है। वस्तुतः 'मुक्तछन्द' वह छन्द विशेष है जो मात्रा, गण, गति, यति, तुक आदि के समस्त छन्दशास्त्रीय बन्धनों से सर्वथा मुक्त होता हुआ भी प्रत्येक पंक्ति के रूपगत आंतरिक ऐक्य पर बल देने के कारण संगीतात्मक लय को सुरक्षित रखता है—अतः स्वच्छन्द होते हुए भी वह 'मुक्त छन्द' है। मित्र जी ने 'वीरायन' में तीन चार स्थलों पर क्षिप्र प्रवाह युक्त 'मुक्त' छन्दों की योजना की है। निम्नलिखित उदाहरण दृष्टव्य है—

मस्तक पर ज्योति का तिलक ।

भाल पर उषा की लाली ।

आखों में सारे युग ।

कानों में सबके बोल ।

अधरो पर मोन,

कोन तुम कोन ?^६

'मुक्त छन्द' प्रयोग की भांति आज का कवि नित्य नवीन छान्दस् उद्भावनाएं करने में रत है। जैन महाकाव्यों में भी नूतन छन्द प्रयोगों का अभाव नहीं है। महाकाव्यकारों ने तीन चरणात्मक विषम छन्दों का पर्याप्त आयोजन किया है। इन प्रयोगों के दो स्वरूप प्रस्तुत हैं—

(१) मोन भक्त भगवान रहे,

शब्दों से क्या भला कहे,

चन्दन आज बनी उमला ।^७

१. वीरेन्द्रप्रसाद जैन—तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ. १२३

२. रघुवीर शरण मित्र—'वीरायन', पृ. ४१ ।

३. वही० पृ. १३७ ।

४. वीरेन्द्रप्रसाद जैन, तीर्थंकर भगवान महावीर, पृ. १२२

५. डा० छैलबिहारी गुप्त, 'तीर्थंकर महावीर', पृ. २७-२८

६. रघुवीर शरण मित्र, 'वीरायन', पृ. ३५१ ।

७. साध्वी मजुला, 'बन्धन मुक्ति', पृ. १३४ ।

(२) रो उठा था देख कर आकाश,
बन रहा था मनुज,
धरती के मनुज का दास ।'

इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्यों में भावों की प्रभावोत्पादक शक्ति के वार्धक्य के लिए मिश्र छन्दों के योग से बने स्वतंत्र गीतों की रचना अधिक हुई है। महाकाव्यकारों ने सममात्रिक छन्दों के योग से, सममात्रिक एवं अर्द्धसम मात्रिक छन्दों के योग से अथवा दो से भी अधिक प्रकार के मात्रिकों का उपयोग कर मायिक गीतों की सृष्टि की है। निम्नलिखित गीत में २२ मात्रिक सुखदा छन्द के अर्द्धसम रूप एवं १२ मात्रिक तोमर तथा नित्त छन्दों का मिश्रित प्रयोग दर्शनीय है—

सुखदा	{ धन्य भाग जगे आज	१२ मात्राएं
(एक चरण)	{ धन्य दिवस आया	१० "
तोमर	{ जे जे त्रैलोक्य नाथ	१२ मात्राएं
	{ तुमसे जन हो सनाथ	१२ "
नित	{ दर्जन सोभाग्य मिला	१२ "
	{ पुण्य कमल सहज खिला	१२ "
सुखद	{ दूर हुआ पाप निमिर	१२ मात्राएं
(अर्द्धसम)	{ नव प्रकाश छाया	१० "
	{ धन्य भाग जगे आज	१२ "
	{ धन्य दिवस आया	१० "

'वीरायन' महाकाव्य में कवि ने प्रति चारण समान



(पृष्ठ ३५ का शेषांश)

नहीं लेते वे इस सवार में उक्त राग-द्वेष-मोह आदि शत्रुओं द्वारा कृत नाना प्रकार के क्या-क्या दुःख नहीं सहते ? अतएव, नित्य ही चाव से जिन पूजा करनी चाहिए। मनुष्य गति और श्रावक कुल मिला है तो यह अवसर नहीं चूकना चाहिए।

लघु-धी-सम उत्तर कहा, सशय रहे जू शेष ।
ऋषभदास जिनशास्त्र बहु, देखहु भय विशेष ॥

अस्तु, वर्तमान में निश्चय और व्यवहार या उपादान

मात्राओं का नियोजन कर 'गीत निर्माण', बहुलता से किया है। महाकाव्यकार ने १६, १८, २०, २१, २६ एवं २८ मात्रा प्रति पङ्क्ति वाले अर्द्धछन्द एवं पूर्णछन्द के 'सह-योग' से अनेकानेक गीतों की सृष्टि की है। निम्नलिखित गीत में २८ मात्रिक सार-छन्द के अर्द्ध एवं पूर्ण छन्द क्रमायोजन दृष्टव्य है—

{ आये यहाँ अनार्य देश में सकट आये भारी । २८ मा०
{ एक हाथ में धर्म एक में थी तलवार दुधारी ॥ "
{ शास्त्र जलाने लगे यहाँ के फँस गए पाखण्डी । "
{ चढ़ी रुष्ट हम तुम से चढ़े नए पाखण्डी ॥ "
{ लुटी मडिया लुटी बेटियां टूटे मन्दिर मेरे । "
{ गिन न सकोगे लिख न सकूंगा डाले कितने घेरे ॥ "
{ मूट्टी भर राजा बन बैठे शक्ति बट गई सारी । "
{ आये यहाँ अनार्य देश में सकट आये भारी ॥' "

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात्, निष्कर्ष रूप में, नि-संकोच कहा जा सकता है कि छन्द वैविध्य के कलात्मक उत्कर्ष में आधुनिक हिन्दी जैन महाकाव्य किसी अन्य हिन्दी महाकाव्य से कम गरिमामय नहीं। छन्दों के विभिन्न प्रकारों की सफल प्रस्तुति समीक्षित महाकाव्यों में स्थल स्थल पर प्राप्य है। वस्तुतः जैन महाकाव्य विविध प्रकारात्मक छन्दों के आधार है।

३ सदर बाजार, जैन कुटीर,

लखनऊ-२२०००२.

और निमित्त को लेकर, अथवा जित-दर्शन-पूजन-दान-व्रत आदि शुभरागात्मक क्रियाओं की हेयोपादेयता को लेकर जो भीषण द्वन्द्व चल रहा है, और फलस्वरूप कषायोद्रेक तीव्र से तीव्रतर हो रही है, उसका कितना सुन्दर, सटीक एवं रोचक समाधान एक शास्त्र-मर्मज्ञ ने अबसे लगभग एक शती पूर्व किया था, वह उक्त रचना से स्पष्ट है और यह उसकी इस दृढ़ प्रास्था का परिणाम है कि—

'जिनमत परम अनूप अनेकान्त सत्यार्थ है ।'

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

सारस्वत व्याकरण के टीकाकार और मफर-उल-मलिक पुंजराज श्रीमाल

□ धीकुन्दनलाल जैन, प्रिन्सिपल, दिल्ली

सारस्वत व्याकरण या सारस्वत प्रक्रिया की रचना अनुभूति स्वरूपाचार्य ने सं० १२५० में पं० वोपदेव व्याकरण के बाद की थी। यह व्याकरण अपने समय में इतनी प्रचलित एवं प्रसिद्ध हुई कि लगभग ५३ विद्वानों ने इसकी विभिन्न नामों से टीकाएँ रची। इनमें से लगभग आधे टीकाकार तो जैन विद्वान ही थे। यहाँ हम सारस्वत व्याकरण की सभी उपलब्ध टीकाओं, टीकाकारों एवं उनके रचनाकाल की संक्षिप्त सूची प्रस्तुत कर रहे हैं—

क्रम सं० टीका नाम टीकाकार का नाम रचनाकाल

१.	टीका	क्षेमेन्द्र	वि. सं. १२६०
२.	"	धनेश्वर	" १२७५
३.	"	अनुभूति स्वरूप	" १३००
४.	"	अमृत भारती	" १५५० से पूर्व
५.	"	पुजराज श्रीमाल	" १५५०
६.	"	सत्य प्रबोध	" १५५६ से पूर्व
७.	"	माधव भट्ट	" १५६१ "
८.	"	चन्द्रकीर्ति	" १६००
९.	"	रघुनाथ	" १६००
१०.	"	मेघरत्न	" १६१४ से पूर्व
११.	"	मडन	" १६३२ "
१२.	"	वासुदेव भट्ट	" १६३४
१३.	"	राम भट्ट	" १६३५ के लग.
१४.	ढूढ़िका	मेघरत्न शिष्य विनय- सुन्दर के वृहत्खरतर गच्छीय	" १६४१
१५.	दीपिका	चन्द्रकीर्ति सूरि नागपुरीय तपागच्छके	" १६६४
१६.	सारस्वत धातुपाठ	हर्षकीर्ति, शिष्य चन्द्रकीर्ति के नाग- पुरीय तपागच्छीय	" १६६३

१७.	टीका	काशीनाथ भट्ट	" १६७२ से पूर्व
१८.	सारस्वत के तर्क तिलक	रूपान्तरकार भट्टाचार्य	" १६७२ से पूर्व
१९.	टीका	भट्ट गोपाल	" १६७२
२०.	"	माधव	" १६८०
२१.	ढूढ़िका	तर्क तिलक सूरि	" १६७७
२२.	"	सहजकीर्ति शिष्य हेमचन्द्र के खरतर गच्छीय	" १६८१
२३.	टिप्पणिका	क्षेमेन्द्र शिष्य हरिभद्र के	" १६६२
२४.	सिद्धान्त चन्द्रिका	ज्ञान तिलक	" १७०४
२५.	टीका	ज्ञानतीर्थ	" १७०४
२६.	"	हंस विजयगणि	" १७०८
२७.	"	हर्षकीर्ति	" १७१७
२८.	"	लोकेशकार	" १७४१
२९.	"	रामाश्रम	" १७४१
३०.	"	सदानन्द	" १७६६
३१.	शब्दार्थ चन्द्रिका	हंस विजय शिष्य विजयानन्द सूरि तपागच्छीय के	
३२.	चन्द्रिकोद्धार स्वोपज्ञ	हंस विजय शिष्य विजयानन्द सूरि तपागच्छीय के	
३३.	रूपरत्नमाला	नय सुन्दर शिष्य धनरत्न के	
३४.	न्यास	रत्न हर्ष और हेमरत्न	
३५.	न्यास	जगन्नाथ	
३६.			
३७.	पंजिका	धर्मदेव	
३८.	भाष्य विवरण	भानुचन्द्र गणि तथा उनके शिष्य सिद्धिचन्द्र गणि तपागच्छीय ने इसे राशोधित किया था।	

३६. बृद्ध चिन्तामणि जितेन्दु केवल सूत्रों की टीका
 ४०. सिद्धान्त चन्द्रिका रामाश्रम
 ४१. सुबोधिनी सदानन्द गणि (देखें जिनरत्न कोष ले. डा. वेलंकर पृ. ४३६
 ४२. टिप्पण चन्द्रकीर्ति) देखें जिनरत्नकोष ले. डा. वेलंकर पृ. ४३६ :
 ४३. न्याय रत्नावली दयारत्न
 ४४. स्वावबोधिका अज्ञात
 ४५. सारदीपिका यतीस
 ४६. सिद्धान्त चन्द्रिका रामचन्द्राश्रम
 ४७. टीका अज्ञात
 ४८. सारस्वतोद्धार स्तोत्र नदिरत्न के शिष्य
 ४९. सारसात चन्द्रिका मेघ विजय
 ५०. धातु तरंगिणी या स्त्रीपञ्च प्रमाण अज्ञात
 ५१. धातु पाठ अज्ञात
 ५२. धातु पाठ कल्याण कीर्ति
 ५३. व्युत्पत्ति सागर जितेन्द्रियाजिनरत्न निबंध ग्रन्थकम् ।

उपर्युक्त टीकाकारों में से हमारे इस लेख का मूल उद्देश्य इसी सूची के तारांकित क्रमांक ५ पर अंकित श्री पुंजराज श्रीमाल का जीवन परिचय प्रकट करना है ।

दिल्ली के जैन ग्रन्थ भण्डारों की पांडुलिपियों का विस्तृत सूचीपत्र (Discriptive Catalogue) तैयार करने के लिए जिसकी प्रेस कापी तैयार की गई है, का सर्वेक्षण करते हुए १० जैन पचायती मन्दिर नया मन्दिर धर्मपुरा के सरस्वती भण्डार में पुंजराज श्रीमाल कृत सारस्वत प्रक्रिया की टीका प्राप्त हुई । इसकी एक प्रति जयपुर भण्डार (देखो राजस्थान के जैन ग्रन्थों की सूची भाग २, पृष्ठ २६३ पर) तथा एक प्रति श्री श्रगरचन्द्र जी नाहटा के भण्डार में विद्यमान है । इस टीका के अन्त में पुंजराज से सम्बन्धित २३ छन्दों की एक विस्तृत प्रशस्ति विद्यमान है ।

दिल्ली वाली प्रति आषाढ़ कृष्ण ६ गुरुवार सं० १६४५ में लिपिबद्ध की गई थी । इसकी पुस्तकालय क्रम सं० अर्जन न० १३८ है । यह प्रति पृष्ठ माला में लिखी हुई

है, जिसे साधारण पाठक सरलता से नहीं पढ़ सकता है । मुझे ही प्रेस कापी तैयार करने में पर्याप्त समय लग गया था । पुंजराज श्रीमाल की शोध में अत्यधिक समय और शक्ति खर्च करने के बाद जो कुछ जानकारी एकत्र की जा सकी वह पाठकों की ज्ञानवृद्धि हेतु निम्न प्रकार प्रस्तुत है ।

पुंजराज अपने समय के एक कुशल प्रशासक, अर्थ-शास्त्र के वेत्ता, संस्कृत व्याकरण एवं ध्वनि शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे । अर्थ तंत्र विशेषज्ञ होने के कारण उन्हें मांडू (मालवा) के सुल्तान ग्यासुद्दीन खिलजी (सन् १४६६ से १५०१ ई० तक) ने अपना अर्थमन्त्री नियुक्त किया था । वे जहां लक्ष्मी के स्वामी थे वहां सरस्वती के वरदपुत्र एवं युद्धकला और शासन व्यवस्था में बड़े पटु थे । जैसा कि प्रशस्ति में उल्लिखित "समरसमयस्त्र पुंजराजो नरेन्द्रः ।" वाक्य से स्पष्ट विदित होता है । वे राज्य के प्रति पूर्ण वफादार और प्रजा के अत्यधिक हितैषी थे । वे राज्य के राजस्व को बड़ी सावधानी और भितव्ययता से खर्च करते थे । अपव्यय उन्हें बहुत खलता था, यही निष्ठा और प्रजा वत्सलता ही उन्हें अभिशाप बनकर ले बैठी ।

सुल्तान ग्यासुद्दीन खिलजी का पुत्र अब्दुल कादिर, जिसे नासिरुद्दीन की उपाधि प्राप्त थी, बड़ा अपव्ययी और विलासी था । वह राज्य के राजस्व को अपने भोग-विलास में ही अपव्यय करना चाहता था जो पुंजराज को अभीष्ट न था । उन्होंने अब्दुल कादिर को प्रेम पूर्वक सम्मार्ग पर लाना चाहा पर वह दुराग्रही था । फलतः पुंजराज को सुल्तान ग्यासुद्दीन से शिकायत करनी पड़ी, जिससे बाप-बेटे में खटक गई तथा वह इनका शत्रु बन बैठा । वह इन्हें काफिर कहता था तथा साम्प्रदायिकता उभारने का सदैव प्रयत्न करता रहता था पर पिता के भय से कोई ठोस कार्यकारी पग नहीं उठा पाता था अतः मौन रहता था । इसके अतिरिक्त पुंजराज का भी अपना विशिष्ट प्रभाव था अतः नासिरुद्दीन (अब्दुल कादिर) ने पड़्यंत्र रचा और एक दिन जब पुंजराज राजदरबार से अपने घर लौट रहे थे कि अवसर पाकर दो आदमियों से इनकी हत्या करवा दी ।

सुलतान ग्यासुद्दीन को जब यह दुःखद घटना सुनाई गई तो वह बहुत व्यथित हुआ और उसने अपने पुत्र की इतनी तीव्र भर्त्सना की कि वह राज्य छोड़कर बाहर चला गया और पिता पर आक्रमण के लिए सैनिक तैयारी करने लगा और अक्सर पाकर सन् १५०१ में उसने अपने पिता सुलतान ग्यासुद्दीन पर चढ़ाई कर दी और उन्हें बन्दी बना लिया तथा स्वयं मालवा का शासक बन बैठा। उपर्युक्त घटना 'तारीखे नासिर साही' नामक पुस्तक के पृ० ८-१० तक उल्लिखित है। इसकी फोटो कापी ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में O.R. १८०३ न० पर सुरक्षित है। इसकी नकल जार्ज इलियट ने सन् १८०८ में भोपाल में कराई थी। इसकी मूल प्रति का कोई पता नहीं है। इस प्रति में 'पुंजराज' को 'पुजावकाल' शब्द का प्रयोग किया गया है। वकाल का अर्थ बनिया होना है। जो प्रायः सभी जगह प्रचलित था। पुंजराज भार गोत्रीय श्रीमान जाति के थे। उपर्युक्त प्रति के लिखिकार कोई मौलवी साहब थे जो उर्दू की मीरा के नीचे नुक्ता लगाना भूल गए जिससे पुजा की जगह मुंजा पढ़ा जाता है। यथार्थ में वह पुजा ही है जो हमारे लेख के नायक है।

इसके अतिरिक्त जैन भट्टारक श्रुतकीर्ति (सन् १४१५-६६) ने स्वरचित 'हरिवंश पुराण' एवं 'परमेश्वरीययाससारी' नामक अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थों की प्रशस्तियों में भी पुंजराज का उल्लेख किया है। यथा—

'दहवण सयतेवण गय वासइं पुण विक्कमणि संवच्छरे।
तहसावण मासहुं गुरुपचमि सहं गंय पुण्णु तय सहसतहे।'
'मालव देसइं गढ माडव चलु वहइ साह गयासु महाव्वलु।
साह णसीरुणाम तह णदणु रायवम्म अणरायऊ बहुगुण।
पुंजराजवणमति पहानइं ईसरदाम गयदहं आणइ।'

उपर्युक्त ग्रन्थ सं० १५५३ के आवण शुक्रा ५ गुरुवार को समाप्त किया गया। इस समय मालवदेश के मांडवगढ (मांडू) में सुलतान ग्यासुद्दीन नामक महा-प्रतापी शासक था, उसका पुत्र णसीरुद्दीन था तथा उसके घन (अर्थ) मंत्री पुंजराज प्रजाधर्म में अनुरागी एवं गुणवान् थे।

इस तरह पुंजराज एक ऐतिहासिक पुरुष थे और संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ थे। पुंजराज नाम के एक राजा

का और उल्लेख मिलता है जो ईडर का राजा था और राजपूत था अतः इनसे उसकी कोई संगति नहीं बैठती है। पुंजराज की हत्या सं० १५५८ के लगभग की गई थी और उसी समय दो-चार माह के अन्तर में ग्यासुद्दीन खिलजी की भी मृत्यु हो गई थी, वह सन् १५६६ (सं० १५२७) में मांडू के सिंहासन पर बैठा था और ३२ वर्ष तक राज्य करता रहा। मांडू में खिलजी वंश के केवल चार ही शासक हुए थे—१. मुहम्मद शाह प्रथम, २. ग्यासुद्दीन, ३. नासिरुद्दीन (अब्दुल कादिर), ४. मुहम्मद शाह द्वितीय।

पुंजराज की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. सारस्वत की टीका, २. काव्यालंकार शिशुप्रबोध और ३. ध्वनि-प्रदीप। ये तीनों ही ग्रन्थ अप्रकाशित ही प्रतीत होते हैं। तीनों में उनकी प्रशस्ति विद्यमान है। काव्यालंकार शिशु-प्रबोध की प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

सोऽयं श्री पुंजराज नृतिः परीयकृति कौतुकी।

व्यक्त काव्यालंकार श्रोतृ व्युत्पत्ति मिद्विष ॥१०३॥

इतिश्री श्रीमाल कुंज श्रीकुलमालभार मांडव गण्डना-लंकार श्री जीवनेन्द्र नन्दन मफल मलिक श्री पुंजराज विरचिते शिशुप्रबोधे काव्यालंकारेऽनकाराध्यायोऽष्टमः समाप्त (देखो—Search for Sanskrit M. S. S. 1882 83 by Dr. Bhandarkar P. 199)

इसी ग्रंथ में डा० भण्डारकर ने टिप्पणी करते हुए लिखा है—

'Punj Raj was a son of Jivanendra and is spoken of as an ornament of the Malwa circle and as belonging to the family of Shri-mal. He is therefore the same as an author of the commentary on the Saraswat Prakriya. Punj Raj mentioned another larger work of his entitled Dhvani pradeep (H. Appendix II).

डा० एस. के. बेलवालकर ने अपनी कृति 'System of Sanskrit Grammar by Punj Raj' के पृष्ठ ६६ पर लिखा है—

'Punj Raj belonged to the Shrimal family of malabar which sometimes or other settled in Malwa. The gives his ancestry in the Prasasti. At the end of his commentary,

from which we learn that he was a minister to Gyasuddin khilji of Malwa (1449-1500 A. D.) Punj Raj Seems to have carried on the administration very efficiently collecting round him a band of learned admirer and indulging in numerous acts of charity and relief. The must have lived in the last quarter of the 15th century. He also wrote a work an Alankar called 'शिशु प्रबोध' and another larger work called of ध्वनि प्रदीप ।

सारस्वत प्रक्रिया की टीका के अन्त में दी गई २५-२६ श्लोकों की विस्तृत प्रशस्ति में पुंजराज के पूर्वजों एवं उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है । प्रस्तुत प्रशस्ति में पुंजराज के पूर्वजों में साह देवपाल, सा. कोरा, पोमा, गोवा एवं वनीपक आदि सज्जनों का उल्लेख है । पुंजराज के पितामह वनीपक साहु थे जिनकी पत्नी का नाम पचो था । इनसे जीवन और मेघ नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए थे । ये दोनों सोमसुन्दर सूरि के प्रति अत्यधिक अनुरागी थे, ऐसा मोहनलाल दलीचंद ने अपने ग्रन्थ 'जैन साहित्य नो इतिहास' के पृष्ठ ५०१ पर लिखा है । जब जीवन और मेघ दोनों ही योग्य हुए तो माझू में सुल्तान ग्यासुद्दीन के मंत्री बने, पर जीवन प्रारम्भ से ही वैरागी प्रकृति के थे अतः अपना पद अपने छोटे भाई मेघ को सौंपकर स्वयं सन्यासी बन गए थे, जैसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है—

श्रीविलासमति मडपदुर्गे स्वामिनि खलिचीसाह ग्यासात्
प्राप्य मंत्री पदवी भुवि याभ्यामजितोपाजित परोपकृतश्री,
जीवनोभुवन पावनकीर्तिः मंत्रीभारमनुजे विनिवेश्य
ब्रह्मवित् स जगदीश्वर पूजको कौतुकेन समयं समर्पणीत् ।

निम्न श्लोक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि साह जीवन को ग्यासुद्दीन का अर्थ मंत्रित्व प्राप्त था । वे बड़े दानी, जानी, ध्यानी एवं सन्तोषी थे :—

नमदवनि समर्थस्तत्त्व विज्ञापनार्थः
सुजनविहिततोषः श्रीनिधिर्वीतदोषः
अवनिपति क्षरण्यात् प्रोढ धर्मार्थमन्त्री
मफरल मलिकाख्यं श्री ग्यासादवापः ॥

पुंजराज की माता का नाम मकू था जो कुटुम्ब भर में अत्यधिक आदरणीय थी । पुंजराज का जन्म मांझू में ही हुआ था, इनकी जन्मतिथि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । 'काव्यालंकार शिशुप्रबोध' नामक ग्रंथ की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि मफरल मलिक' की उपाधि पुंजराज को भी प्राप्त थी । ये भारगोत्रीय श्रीमाल (बनिया) जाति के थे । हिन्दी के सर्वप्रथम श्रेष्ठ ग्राम-चरित 'अर्थकथानक' के रचयिता बनारसीदास भी इसी जाति के थे ।

पुंजराज बड़े दयालु ज्ञानवान् पराक्रमी एवं धनवान् थे । उनकी सभा सदा विद्वानों से भरी रहती थी । बड़े-बड़े मण्डलेश्वर राजा उनका सम्मान करते थे । वे विद्या प्रेमी एवं गुणग्राहक भी थे, वे नाट्यकला में भी प्रवीण थे । दुर्मिक्ष एवं संकटकाल में तुलादान जैसे श्रेष्ठ उत्सव कराकर गरीबों व दुखियों की रक्षा किया करते थे । कभी-कभी गरीबों के घर स्वयं जाकर स्वर्णमुद्राओं से भरे लड्डुओं का दान किया करते थे । उनके पराक्रम से भयभीत होकर शत्रु-स्त्रियों की आत्मे सबैव अश्रुपूरित रहा करती थी, इत्यादि उनके व्यक्तित्व एवं विशेषताओं की परिचायिका पूर्ण प्रशस्ति हम नीचे दे रहे हैं । पुंजराज के पूर्वज जैन धर्मावलम्बी थे ऐसा 'जैन साहित्य नो इतिहास' के पृ० ५०१ से प्रतीत होता है ।

पुंजराजकृत सारस्वत प्रक्रिया की टीका की प्रशस्ति—
आदि भाग—

आनन्दैकनिधि देवमंतीराय तमोरविः ।

दयानिलयिनं वदे वरदं द्विरदाननम् ॥१॥

वाग्देवतायाः चरणारविन्दमानन्दसान्द्रे हृदि सन्निधाय
श्रीपुंजराजो कुस्ते मनोज्ञा सारस्वत व्याकरणस्य टीकाम् ॥१२
अन्त भाग—

हिमालयादामलयाचलायाः सशोभयामासमही यशोभिः ।

आसीन्नृपालस्पृहणीय संपद साधु सदेपाल इति प्रसिद्धः ॥१

अयं पुं बर्यः पराकार्यधुर्यः स्मर्यः सता पौरुष राजसूर्यः ।

तस्सुनुरोदार्यं निधिर्बभूव काराभिधो दुहृद्वार्यं धैर्यः ॥२॥

तस्सेवितो ललित लक्षणकान्तमूर्तिराशा प्रभुर्दिनकरः

(रस्वीप्रसादनकरः) सदनकलानाम् ।

जिवातूकः कुवलयः प्रथितोपकारः पामाभिधान

उदयाय ततो नृसोमः ॥३॥

पृथित विपुल श्री श्रीमालान्वय वा विशेषकः,
 सकल जगती जाग्रत्कीर्ति सुधीनर सूयकः ।
 अमित विभवो गोडा साधुस्ततोऽजनि,
 जानकी भाणवरण प्रेमानन्दादुचित सात्त्विकः ॥४॥
 तत्सुतः शोभित संपत् प्रीणितावनि वनीपक आसीत् ।
 विभवैष्यविकृतोभूवि मूर्तिः पुण्यराशिरेव यापच (एव)
 साधुः ॥५॥
 अभूत कुटुम्ब स्थितिभारधारिणी मदीयदीप सहधर्मचारिणी ।
 सदाशदानावृत्तदीक्षयाजन कुशेशयाकारणिया पुपोष या ॥६॥
 तन्नन्दनो समिति (सुभित) साधित पौरषार्थी,
 चापन्निमग्न जनतोद्धरणे समर्थः ।
 ह्यातैर्गुणैः जगति जीवन मेघ सज्ञा,
 वशी वशीकृन्तृपी सत्कृपावभूतम् ॥७॥
 श्रीविलासमति मंडपदुर्गे स्वामिनि खिलचीसाह ग्यासात् ।
 प्राप्य मंत्री पदवीं भुधियाभ्यामजितोऽजित परोपकृत
 (क्षत) श्री ॥८॥
 जीवनोभुवन पावनकीर्तिः मंत्रीभारमनुजे विनिवेद्य ।
 ब्रह्मवित्तमः जगदीश्वरपूजको कौतुकेन समय समर्पणीत् ॥९॥
 नमदवनि समर्थो तत्त्वविज्ञानपार्थः
 सुजन विहिततोपः (तापः) श्रीनिधिर्वीन दोषः ।
 अवनिपति शरण्यान् (त्) प्रौढ धर्मार्थ (धर्ममेव) मत्री
 मकरल मलिकाख्य श्री गयासादवापः ॥१०॥
 पतिव्रता जीवन धर्मपत्नी धन्यामकू नाम कुटुम्बगान्या ।
 श्रीपुजराजाख्यमसूत पुत्र मुजवतस्तैः चरितैः पवित्रं ॥११॥
 जयति मदन शुद्धः सज्जन प्रेम सान्द्रः (साधुः)
 सगुणमणि समुद्रः कीर्ति विद्योत चन्द्रः ।
 नयन विनय निद्रः (नयाना) पुण्य लक्ष्मी समुद्रः
 समरसमयरुद्रः पुंजराजो नरेन्द्रः ॥१२॥
 यस्याः सभाभाति तिररकृतमदः प्रह्ल (भु) द्वि (प्र) भावोद्धुरः ।
 क्षीणी मडित मडलेश्वर महाराज्यमान्यात्विता ।
 विद्यावृन्द विनोदमोद विभवद्रोमांच विद्वद्वचो,
 जाग्रद्रूप सरस्वती निवसति लक्ष्मी विलासायिता ॥१३॥
 अनुजे गुणवत्पुदारचित्ते गुरुदेव,
 द्विजभक्तिभाजि पुजे (मुंजे) ।
 यत्तुपहित (दुपाहित) राजकार्यभारः
 प्रभुता सौख्यनाकुलं विभर्ति ॥१४॥

रसावृसित (रसोल्लसित) या गिरा चतुरचित्त मानन्दयन्,
 सकलामु कलामु यः कलिन केलि केली ।
 कौतुहलो विमत्सरतया दमन्निविन शास्त्र तत्त्वज्ञ (ज्ञा)तां,
 करोति कर्षणाकरो व (घ) न मनोस (वि) न्यनतां ॥१५॥
 प्रतिगृहमभिगम्य स्वर्ण (निष्कानितानां) तिथाविताना
 मुपचित कुनकानां (कनकाना) मोदकाना प्रदानिः ।
 विदलित दुःख (रखै) स्थानाक्षय सस्थान् गृहस्थान्,
 अतुलित महिमा यः क्षयाम (दुभिक्ष) कालेऽभ्यनन्दत् ॥१६॥
 अनिवारित वाञ्छितार्थ दानैरिति
 दुभिक्षतयोदिताना (बुभुक्षयादितानां) ।
 गणशः समुपेयुषो (येवा) जनानामकरोज्जनि
 तरति रक्षण यदेकः (जीवितरक्षणं यदेकः) ॥१७॥
 अनेको (कशो) येन विधीयमानैस्तुनादि
 दानैरुपलब्ध सपत् (स)
 विद्वज्जनो वीथि (दीर्घाति) विवंधमानैः श्री भारनिधि
 शिष्यति (भारतिमन्त्रिभिर्मण्य) सौख्यम् ॥१८॥
 विबुधानमिनदितो विपक्ष क्षितिभूत
 ज्ञातपरो (रा) प्रक्रम्य यस्य ।
 उदयद्युधि वा (व) प (पै) माश्रुशमत्परि (र)
 नारि नरनेपु भूरि वपं. ॥१९॥
 श्रीध्याख्या विशेषान्नयन प्रसगात् श्रीपुजराजो यदिहाभ्यघत्त
 अविस्तर (अविस्त) चारुनिवेशितार्थं (विनिश्चितार्थं)
 सर्व समूलं (समपेक्षित) समधिवितत तत् ॥२०॥
 आत्मयुक्ति बलशालिना ववा विस्तरान्मम विभेति भारती ।
 तेन दुर्नय निवारणोचिते पूर्वं कोविद मने निलयात् ॥२१॥
 गर्वोज्ञान निमीलिततया मानिन्य मर्थेषु ये
 सत्पृष्ठेष्वपि तत्त्वनेन तद्धाकारः परीक्षाविधौ ।
 किन्त्वेते गुणदोषयोः, समदृशो वैराग्य निष्ठा इव,
 श्रेष्ठाः हंत पराकित निष्पृह धियस्तस्मादमीम्यो नमः ॥२४॥
 इति श्री मालभार श्री पुजराज विनिमिता सारस्व-
 तस्य टीका समाप्ता । सं० १६४५ वर्षे आषाढ़ मासे कृष्ण
 पक्षे षष्ठ्यां तिथौ बुधवासरे लिखित मिदम् ।
 नोट—कोष्टक मे पाठभेद लिखा है जो श्री अग्रचन्द जी
 नाहटा की प्रति से प्राप्त हुआ ।

६८ कुन्तीमार्ग, विश्वासनगर,

शाहदरा दिल्ली-३२

महावीर ने कहा था

□ श्री रमाकान्त जैन, बी. ए., सा. र., त. को., लखनऊ

अब से ढाई तहस्र वर्ष पूर्व एक भारतीय सन्त ने मानव को सम्बोधा था, 'सांपेक्खए अप्पगमप्पएण' स्वयं को जानो, स्वयं को पहचानो । उसका कहना था, 'अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य' आत्मा स्वयं अपने दुःख और सुख का कर्ता और भोक्ता है । वह सम-भूता था, 'कत्तारमेव अणुजाई कम्म' कर्म सदैव करने वाले के पीछे-पीछे चलते हैं और यह भी कि 'जहां कंड कम्म तहासि भोए' जैसा कर्म किया जाता है उसका वैसा ही फल भोगना होता है ।

वर्णाश्रम व्यवस्था की जंजीरों से जकड़े युग और समाज में एक क्षत्रिय सामन्त के यहां उत्पन्न सौर सुख-समृद्धि में पला-पुमा वह विचारक जन्मतः वर्ण व्यवस्था मानने को तैयार नहीं था । उसका तो कहना था 'कम्मणा वंभणो होइ, कम्मणा होइ खत्तिआ । वइमो कम्मणा होइ, सुद्धो हवइ कम्मणा ॥' कर्म (अपने आचरण अथवा कार्यों) से ही मनुष्य ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है (जन्म से नहीं) ।

वह सिर मुड़ा लेने मात्र से किसी को ब्राह्मण, वन में रहने मात्र से किसी को मुनि और कुश-चीवर धारण करने मात्र से किसी को तापसी मानने को तैयार नहीं थे । उनका विश्वास था—

समयाए समणो होइ बंभचरेण बंभणो ।

नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥'

व्यक्ति समता अर्थात् सबके प्रति समान भाव रखने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण होता है, ज्ञान से मुनि होता है और तप करने से तापस होता है । और यह कि—

‘जूर्य-मज्ज-मंस-वेसा, पारद्धि-चोर-परयारं ।

हुगइगमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥'

छूत (जुआ), मद्य (शराब) और मांस का सेवन, वेश्या गमन, शिकार, चोरी और पर्यार (पर स्त्री अथवा पर पुरुष) का सेवन ये पाप कर्म दुर्गति प्राप्त होने के हेतुभूत अर्थात् कारण हैं । इसलिए उन्होंने लोगों को इन पाप कर्मों से बचने तथा अपने चरित्र को बनाये रखने पर बल दिया । वह शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने मात्र को चरित्रवान होने का लक्षण नहीं मानते थे । तभी तो उन्होंने कहा—

‘जो पुण चरित्तहीणो कि तस्स सुदेण बहुएण ।’

जो व्यक्ति चरित्रहीन है उसके बहुत से शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से भी क्या लाभ है ? वह तो कहते थे—

‘दया समो न य धम्मो, अन्नदानसमं नत्थि उत्तमंदाणं ।

सच्चसमा न य कित्ति, सीलसमो नत्थि सिगारो ॥’

दया समान धर्म नहीं है, अन्न दान से उत्तम दान नहीं है । सत्य के समान कीर्ति नहीं है और शील (चरित्र) के समान कोई शृंगार नहीं है । अपनी लगभग साढ़े बारह वर्ष की साधना अवधि में उस साधक ने विभिन्न प्रयोगों द्वारा यह अच्छी तरह समझ लिया था—

‘धम्मु ण पडियइं होइ, धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइं ।

धम्मु ण मडिय पएंसि, धम्मु ण मत्था-लुच्चियइं ॥’

बहुत पढ़ लेने से धर्म नहीं होता, पोथियों और पिच्छी को रख लेने से भी धर्म नहीं होता, मठ में रहने से भी धर्म नहीं होता और सिर का केश लोच करने से भी धर्म नहीं होता । अपितु—

‘विणमो धम्मस्स मूलं । धम्मो दया विसुद्धो । ग्रहिसा हि लक्खणो धम्मो, जीवाणं रक्खणो धम्मो ।’

अर्थात् विनय (मान रहित होना) धर्म का मूल है । धर्म दया से बिशुद्ध होता है । धर्म का लक्षण ग्रहिसा है, अतः जीवों की रक्षा करना धर्म है । तथा यह कि—

‘खंती मद्द्व अज्जव लावव तव संजमो अकिचणदा ।

तह्म होइ बम्हचेरं सच्च चागो य दस धम्मा ॥’

क्षमा, मार्दव, आज्ञव, शुचिता, तप, संयम, आकिचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य और त्याग ये धर्म के दस रूप हैं । इसलिए उस धर्मोपदेशक ने अपने अनुयायियों को धर्म के इन रूपों को स्पष्ट किया । वह अपनी धारणा जबरदस्ती किसी पर लादना नहीं चाहते थे । उनकी तो आस्था थी ‘विवेगे धम्ममाहिय’ मनुष्य का धर्म उसके सद् और असद् विवेक में निहित है तथा यह कि धम्मो सुद्धस्स चिट्ठे’ शुद्ध चित्त में धर्म निवास करता है । वह जानते और मानते थे—

‘णाणा जीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवेलद्धी ।

तम्हा वयण विसादं सगवर समएहि वज्जिज्जो ॥’

लोक में अनेक जीव हैं, कर्म भी अनेक प्रकार के हैं और प्रत्येक व्यक्ति की नाना प्रकार की उपलब्धियां होती हैं । अतएव अपने मत अथवा दूसरे मत के मानने वाले किसी भी व्यक्ति के साथ वचन-विवाद (वाद-विवाद) करना उचित नहीं है । मंत्रीपूर्ण सह-अस्तित्व के पोषक उस शास्ता ने ‘यही ठीक है’ के कदाग्रह के कारण संसार में होने वाली अनेक कलहों को मिटाने का उपाय ‘यह भी ठीक हो सकता है’ ऐसा समझने, स्वीकार करने से संभव है, जानकर ‘तस्स भुवणेष्वेकगुरुणो णमो अणेयंत-वायस्स’ लोक के उस एक मात्र (अप्रतिम) गुरु अनेकान्त-वाद को नमस्कार किया ।

उत्तीस वर्ष की अल्प वय में घरबार त्याग देने के उपरान्त अपने निर्वाण पर्यन्त ७२ वर्ष की आयु तक वह कभी प्रमादी बनकर नहीं रहे । आत्मोद्धार और लोकोद्धार के लिए सतत चिन्तन-मनन में लगे रहे और अपने तपःपूत ज्ञान और अनुभव का प्रसाद लोगों को धूम-धूम कर बांटते रहे । उनके अनुभव ने बताया ‘सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स नत्थि भयं’, प्रमत्त (प्रमादी अर्थात् आलसी) व्यक्ति को सब जगह भय है, अप्रमादी (जो आलसी नहीं है) को कहीं भी भय नहीं होता । अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए इस कर्मवीर ने लोगों को उद्बोधित किया, ‘उट्ठिए, णो पमायए’ उठो, प्रमाद मत करो ।

‘हत्थिस्स य कुंथुस्स य समेजीवे’ हाथी और चीटी

समान रूप से जीव हैं और ‘सव्वेसि जीवियं पियं’ सभी को अपना जीवन प्रिय है, ऐसा मानने वाले उस जीव-बन्धु करुणासागर का अपने अनुयायियों के लिए उपदेश था ‘आय तुने पयासु’ सभी प्राणियों को अपने समान समझो, ‘जइ तेण पियं दुक्खं, तहेव तेमिपि जाण जीवाण’ जिस प्रकार तुम्हें दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही अन्य जीवों के बारे में जानो और इसलिए ‘सव्वेहि भूएहि दयाणुकंपो’ सभी प्राणियों पर दया और अनुकम्पा करो । उन्होंने आगे बताया ‘जीववहो अप्पवहो, जीवदया होइ अप्पणो हु दया’ किसी जीव (प्राणी) का वध करना आत्मवध है और किसी दूसरे जीव पर दया करना अपने आप पर दया करना है । यह भी कहा ‘असंगिही य परिजणस्स संगिहणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ’ अनाश्रित और असहाय व्यक्तियों को आश्रय एवं सहयोग-सहायता देने के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए तथा ‘गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ’ ग्लानियुक्त रोगी व्यक्ति को ग्लानि रहित नीरोग करने के लिए उसकी परिचर्या सेवा-मुख्यता उत्साह और तत्परता के साथ करनी चाहिए । इस परोपकारी महात्मा का अपना विश्वास था : ‘समाहिकारणं तमेव समाहि पडिलब्भइ’ जो दूसरों को सुख देने का प्रयत्न करता है वह स्वयं भी सुख पाता है तथा वेयावच्चेण तित्थयरतामगोय कम्मं विवधेइ’ सेवा-धर्म का पालन करने से तीर्थङ्कर-पद प्राप्त होता है । और उन्होंने इस विश्वास को अपने लिए चरितार्थ भी कर लिया तभी तो वह तीर्थङ्कर कहलाये । उन्होंने जो भी उपदेश दिया उसे पहले अपने आचरण में उतारा । आत्मा को परमात्मा तक ऊँचा उठने और मानव को महामानव बनने का मार्ग दिखाया ।

इन परोपकारी शास्ता का जन्म ईसा मसीह से ५६६ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ल त्रयोदशी के दिन विहार प्रदेश में कुण्डग्राम नामक स्थान पर जातृ वंशी, काश्यपगोत्री क्षत्रिय सरदार सिद्धार्थ के घर हुआ था । इनकी माता त्रिशला वज्जिगणसघ के अधिनायक विदेहराज चटक की पुत्री थीं । माता और पिता दोनों ही और से तत्कालीन अनेक बड़े राज-परिवारों से उनका सबध था । उनके

[शेष पृ० ५३ पर]

अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।

□ श्री पद्मचन्द्र शास्त्री, ए. मए., दिल्ली

जैन संसार में णमोकार मंत्र का प्रचलन समानरूप से है । सभी इसे 'सर्वपापपापनासणो' और 'पठमं हवइ मंगल', रूप में मानते, पढ़ते और स्मरण करते हैं । मान्यता ऐसी है कि प्रसिद्ध यह मंत्र अनादिमूल और अपराजित है—'अनादिमूलमंत्रोऽयम्', 'अपराजितमंत्रोऽयम् । इत्यादि ।

जहाँ तक मंत्र के अनादित्व की बात है—सिद्धान्तरूप में 'नैगमनय' की अपेक्षा अर्थात्—'जो सत् है उसका नाश नहीं' की रीति में, णमोकार को अनादि माना जायगा—हर बीज के मूल को अनादि माना जायगा । यतः—

'सत्तामेतग्गाही, जेणाऽऽइम-नेगमो तओ तस्स ।

उप्पज्जइ नाभूयं, भूयं न य नासए वत्थु ॥'

नैगमनय सत्तामात्रग्राही होता है । इसकी अपेक्षा वस्तु सर्वदा सत्स्वरूप ही होती है—चाहे वह किसी भी पर्याय में क्यों न हो । एतावता मंत्र और मनन के पात्र परमेष्ठी दोनों ही अनादि सिद्ध होते हैं । यतः—जैनमान्यतानुसार आत्मा ही परमात्मा—सिद्ध स्वरूप है । और आत्मा के विकासक्रम में साधु, उपाध्याय, आचार्य और अरहंत भी आत्मा-परमात्मा की भाँति अनादि हैं । ये क्रम प्रवाह रूप से कही न कहीं, किसी न किसी रूप में सदा वर्तमान रहता है ।

जैन मान्यतानुसार पाँचों परमेष्ठी अनादि काल से होते रहे हैं, और अनन्तकाल तक इनके होते रहने में कोई सन्देह नहीं । तीर्थंकर क्रम में भूतकाल में अनन्त चौबीसी हुई हैं और भविष्यकाल में अनन्त होती रहेंगीं । विदेह क्षेत्र में इनकी सत्ता सर्वकाल विद्यमान है ही । जो अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए वे सिद्ध हुए, जो अरहंत अवस्था को प्राप्त होंगे वे सिद्ध होंगे इसमें भी सन्देह नहीं । अभ्यास दशा की श्रेणी में विद्यमान (भूत वर्तमान-भविष्यकाल सम्बन्धी) आचार्य, उपाध्याय और साधु भी अनादि-अनन्त (सत्ता की अपेक्षा) रहे हैं और रहेंगे । और जब जब ये हैं तब तब इनकी नमन भी है । अतः इनके नमनभूत 'णमो-कार' भी [सत्ता की अपेक्षा] अनादि है । इसीलिए कहा है—

'स नमस्कारो नित्य एव, वस्तुत्वात्, नभोवत् । नोत्पद्यते नापि विनश्यतीत्यर्थः ।'—

वह नमस्कार नित्य—सदाकाल है, वस्तु होने से । जो जो वस्तु है वह वह [द्रव्य की अपेक्षा] नित्य है, जैसे आकाश । द्रव्य की अपेक्षा आकाश न कभी उत्पन्न है और न कभी विनाश को प्राप्त है । हाँ, पर्यायों के परिवर्तनरूप से उसे अनित्य—घटाकाश, मठाकाश इत्यादि कहा जाता है । जो आकाश अभी समयपूर्व घटाकाश कहलाता था वही, घट के नष्ट होने पर (मठ में स्थित होने से) मठाकाश कहलाया । पर, अस्तित्व की अपेक्षा से 'नासतो विद्यतेभावो नाभावो विद्यतेसतः ।'—'जो सत् है उसका नाश नहीं, नहिं असत् कभी पैदा होता ।'—ऐसा नियम है । इसी परिधि की अपेक्षा णमोकार को अनादि माना गया है ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—माना, णमोकार मंत्र के सभी पात्र और उनके लिए नमन, व्यक्तिशः—एक एक की पृथक्-पृथक् सत्ता आदि की अपेक्षा अनादि हैं, पर यह निश्चय कैसे किया जाय ? कि णमोकार की श्रृङ्खला में अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय और सर्वसाधु को ही निश्चित स्थान(भी) अनादि है । यदि इन्हीं का स्थान निश्चित है तो इस मंत्र के विभिन्न रूप देखने में क्यों आते हैं ? और यदि वे रूप सत्य हैं तो ऐसा मानना पड़ेगा कि—विविधता होने के कारण णमोकार मंत्र अनादि नहीं है ।

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें (नामों की अपेक्षा) णमोकार मंत्र के सभी रूपों पर दृष्टिपात करना होगा । तथाहि—

प्रथमरूप—

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।

णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ॥'

—षट्खंडागम (मंगलाचरण)

द्वितीयरूप—

'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं ।

‘नमो उवज्झायाणं, नमो सब्बसाहूणं ॥’

‘नमो लोए सब्बसाहूणं’ इति क्वचित् पाठः ।’

—श्री भगवती सूत्र (मंगलाचरण) निर्णय सा. (सं. १९७४)

अभिधान राजेन्द्र (आगम कोष) के उल्लेख के अनुसार—भगवती का उद्धरण इस प्रकार है—जो मंत्र के तृतीय रूप को इंगित करता है—तथाहि—

तृतीय रूप—

“यतो भगवत्यादावेवं पंचपदान्युक्तानि—

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं ।

नमो उवज्झायाणं, नमो बंभीए लिबीए’ इत्यादि ।

क्वचिद् नमो लोए सब्बसाहूणं इति पाठ इति ।”

—अभिधान राजेन्द्र भाग ४, पृ. १८३७

उक्त तीनों रूपों में मंत्र के अन्तिम पद की विभिन्नता विचारणीय है। हमें तीनों ही रूपों को मान्य करने में आनाकानी करने की गुंजाइश नहीं है। यतः—षट्खंडागम कर्ता—श्री पुण्ड्रान्ताचार्य व भगवती सूत्र कर्ता श्री सुधर्मा स्वामी जी समी हमारी श्रद्धा के पात्र है। फिर भी मंत्र-गठन के निर्णय की दिशा में कुछ मार्ग निकालना होगा। फलतः—

जब हम इस ऊहापोह को आगे बढ़ाते हैं तब देखते हैं कि मंत्र के माहात्म्यरूप में पढ़े गये ‘एसो पच नमोक्का(या) रो, सब्बपावपणासणो । मंगलाणं च सब्बेसि, पढमं हवइ मंगलं ।’ के हमें पाँच रूप[के] प्रयोग मिलते हैं, जो यह सिद्ध करते हैं कि—षट्खंडागम तथा अन्य आगमों में बंणित नमोकार का रूप स्थायी है और ‘नमोबंभीए लिबीए’ व नमोसब्बसाहूणं’ जैसे रूप अस्थायी और अचूरे व प्रक्षिप्त हैं।

यदि ‘नमो बंभीए लिबीए’ रूप को अनादि माना जायगा तो प्रत्यक्ष वाधा उपस्थित होगी कि ब्राह्मी लिपि तो तीर्थंकर ऋषभदेव की पुत्री के काल से है, फिर अनादि मंत्र के साथ इसका सम्बन्ध कैसे ? यदि सम्बन्ध मानते हैं तो मंत्र अनादि नहीं ठहरता। जैसा कि कहा जा रहा है—‘अनादि मूलमंत्रोऽयम् ।’—फिर,

यदि नमोकार मंत्र में ‘नमो बंभीए लिबीए’ का समावेश होता, तो मंत्र माहात्म्य के रूपों में एक छठवाँ रूप ऐसा भी मिलना चाहिए था जो ‘बंभी लिबी’ को भी

इंगित करता। परन्तु ऐसा मिलता नहीं है। माहात्म्य पाठ में जो भिन्न-भिन्न पाँच प्रयोग मिलते हैं, वे निम्न भाँति हैं—

प्रथमरूप—

अरहंत नमोक्कारो, सब्बपाव पणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि, पढमं हवइ मंगलं ॥’

द्वितीयरूप—

‘सिद्धाण नमोक्कारो, सब्बपावपणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि, बीयं हवइ मंगलं ॥’

तृतीयरूप—

‘आयरिय नमोक्कारो, सब्बपावपणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि, तइयं हवइ मंगलं ॥’

चतुर्थरूप—

‘उवज्झाण नमोक्कारो, सब्बपाव पणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि, षड्ढं हवइ मंगलं ॥’

पंचमरूप—

‘साहूण नमोक्कारो, सब्बपावपणासणो ।

मंगलाणं च सब्बेसि, पंचमं हवइ मंगलं ॥’

उक्त प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि भगवती जी के पाठ को प्रचलित मूलमंत्र के सन्दर्भ में नहीं जोड़ा जा सकता।

इसके सिवाय एक कारण और भी है और वह है—नवकार मंत्र के उच्चारण के विधान का प्रसंग। एक स्थान पर कहा गया है कि—

‘वणऽट्ठसट्ठि नवपएं, नवकारे अट्ठसंपया तत्थ ।

सगसंपयपयतुल्ला, सतरऽक्खर अट्ठमी दुपया ॥२२६॥

—संप्रति भाष्यगाथा व्याख्याते—वर्णा अक्षराणि अष्टषष्टिः, नमस्कारे पचपरमेष्ठिमहामन्त्ररूपे भवन्तीतिशेषः ।

उक्तं च—

‘पंचपयाण पणती—सवण चूलाइवण तित्तीसं ।

एव इमो समप्पइ, फुडमक्खरमट्ठसट्ठीए ॥’

‘सत्तपण सत्त सत्त य, नव अट्ठ य अट्ठ अट्ठ नव पट्ठित ।

इय पय अक्खरसत्ता, असहू पूरेइ अट्ठसट्ठी ॥’

—अभि० रा० भाग ४, पृ० १८३६

उक्त पाठ प्रामाणिक स्थलों से उद्धृत हैं और इनमें कहा गया है कि मंत्र की पूर्णता ६८ अक्षर प्रमाण मंत्र के पढ़ने पर होती है। अतः मंत्र को ६८ अक्षरों में पढ़ना

चाहिए। अर्थात् पूरा पाठ इस भांति ६८ अक्षरों का बोलना चाहिए—

‘ण मो अ रि हं ता णं, ण मो सि द्धा णं, ण मो आइरियाणं ।
ण मो उ व ज्झा या णं, ण मो लो ए स व्व सा हू ण ॥
ए सो पं च न मो क्का (या) रो, स व्व पा व प णा स णो ।
मं ग ला णं च स व्वे सि, प ढ मं ह व इ मं ग ल ॥’

यदि उक्त पदों के स्थान में अधूरारूप—‘णमो सव्व-साहूणं’ बोला जाता है, तो ‘लोए’ ये दो अक्षर कम हो जाते हैं और यदि ‘णमो बभीए लिवीए’ बोला जाता है तो एक अक्षर कम हो जाता है। दोनों ही भांति मंत्र वंसा युक्तिसंगत नहीं बैठता जैसा कि इष्ट है। अतः—

निष्कर्ष निकलता है कि—अभि० राजेन्द्रकोष की पंक्तियां इस दिशा में स्पष्ट हैं—

‘आयरिय हरिभदेणं जं तत्थायरिसेदिट्ठं, त सव्वं समतीए सोहिऊण लिहिअति अन्नेहि पि सिद्धसेण दिवायर बुड्वाइजवखसेण देवगुत्त जस वद्धण खमासमण सीस रवि-गुत्त नेमिचदजिणदास गणि खवग सच्चसिरिपमुहेहि जुगप्प-हाण सपहरेहि बहुमन्नियमिण ति [महा० ३ अ०] अन्यत्र तु संप्रति वर्तमानाऽऽगमः, तत्र मध्ये न कुत्राप्येव नवपदाष्ट-सपदादि प्रमाणो नवकारउक्तो दृश्यते। यतो भगवत्पादा-वेवं पचपदान्युक्तानि—‘नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो बंभीए लिवीए’ इत्यादि।’ —[अभि० रा० भाग ४, पृ० १८३७]

इसका अर्थ विचारने पर यही सिद्ध होता है कि मभी आचार्य—हरिभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, यक्षसेन, देवगुप्त, जसवर्धन, क्षमाश्रमण शिष्य रविगुप्त, नेमिचद, जिनदासगणि आदि, ६८ अक्षरों वाले पाठ को युक्तिसंगत मानते हैं और वही षट्पदागम के पाठ तथा अन्य आगमों के पाठों से [पचपद व पैतृस अक्षर की मान्यता से भी] ठीक बैठता है और मंत्र की एकरूपता को भी सिद्ध करता है। जब कि श्री भगवती जी का पाठ उक्त श्रेणी में अनु-कूल नहीं बैठता।

भाषा और लिपि जो भी हो [दोनों ही परिवर्तन-शील हैं] पर, मन्त्रगठन और पात्रों की दृष्टि से मन्त्र के युक्ति-संगत-अनादित्व को सिद्ध करने वाला रूप—प्रथम-रूप ही है, जो पचपरमेष्ठी गभित रूप है। ‘बभीए लिवीए’

मूलमन्त्र का अंग नहीं है। हाँ, यदि इस पद को मन्त्र मानना इष्ट हो तो अन्य बहुत से मन्त्रों की भांति आठ अक्षरों वाला एक पृथक् मन्त्र स्वीकार किया जा सकता है।

एक बात और, भगवती जी में [जैसा कि पहिले मन्त्र के द्वितीयरूप में बतलाया जा चुका है] मन्त्र के अंतिम पद में ‘लोए’ पद के न होने की बात इससे भी सिद्ध होती है कि वहाँ मन्त्र में गभित ‘सव्व’ पद के प्रयोजन को तो सिद्ध किया गया है, जो कि अन्य चार पदों की अपेक्षा विशेष है। पर, लोए का प्रयोजन नहीं बतलाया गया। यदि वहाँ ‘लोए’ शब्द होता तो सूत्रकार उसका भी प्रयो-जन बतलाते। क्योंकि ‘लोए’ भी ‘सव्व’ की भांति—अन्य पदों से विशेष है। तथाहि—

‘यहा पर ‘सव्वसाहूणं’ पाठ में ‘सव्व’ शब्द का प्रयोग करने से सामायिक विशेष, अप्रमत्तादिक, जिनकल्पिक, परिहारविशुद्धिकल्पिक, यथालिगादि कल्पिक, प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध, बुद्धबोधित, प्रमुख गुणवंत साधुओं को भी ग्रहण किये हैं।’

— विवाहपण्णत्ति [भगवती०] पृ० २, अमो० ऋ०

हा, ‘ववचित् नमो लोए सव्वसाहूणं’ इति पाठः—के सदर्थ में यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि—‘लोए’ का ग्रहण, गच्छ-गण आदि मात्र का ही ग्रहण न माना जाय, अपितु समस्त साधुओं का ग्रहण किया जाय—इस भाव में किया गया है। इसमें ववचित् का अर्थ भगवती से अन्यत्र स्थलों में ही लिया जायगा—भगवती में नहीं।

एक स्थान पर ‘बंभीलिवी’ का अर्थ ऋषभदेव किया गया है। अनुमान होता है कि ऐमा अर्थ किसी प्रयोजन खास की पूर्ति के लिए किया गया होगा। अन्यथा, लिपि तो, लिपि ही है उसे ऋषभदेव के अर्थ में कैसे भी नहीं लिया जा सकता है। ‘लिपि’ मूर्ति-मात्र है और उसे नमन करना मूर्तिपूजा का द्योतक होता है—शायद, इसी दोष के निवारण के लिए किन्हीं से ऐसा अर्थ किया गया हो। अस्तु, जो भी हो : स्थल इस प्रकार है—

‘यहा पर सूत्रकार ने अक्षर स्थापनारूप लिपि को नमस्कार नहीं करते हुए लिपि बताने वाले ऋषभदेव स्वामी को नमस्कार किया है और भी वीरनिर्वाण पीछे १८० वर्ष में पुस्तकारूढ ज्ञान द्रुमा, इससे लिपि को

नमस्कार करना नहीं संभवता है ।’

— विवाह पण्यति [वही] पृ० ३ टिप्पण, अमो. ऋ.

उक्त प्रसंग से यह तो स्पष्ट है कि षट्खंडागम एवं आगम परम्परा में सभी जगह [भगवती के अनिरिक्त] णमोकार मंत्र की एकरूपता अक्षुण्ण रही है—उसके रूप में कहीं भिन्नता नहीं है। अर्थात् आगम-परम्परा की दृष्टि से भगवती का पाठभेद मेल नहीं खाता। सम्भव है—विद्वानों ने उस पर विचार किया हो; या ‘णमो बंभीण-लिवोए’ पद मानते हुए और मूलमंत्र में ‘लिवोए’ पद न मानते हुए भी मूलमंत्र की अनादि एकरूपता पर अपनी सहमति प्रकट की हो। यदि उनके ध्यान में हो तो पत्र द्वारा दर्शाकर मुझे मार्गदर्शन दें।

स्मरण रहे कि उक्त सभी प्रसंग णमोकार मंत्र के ‘अनादित्व’ की दिशा में प्रस्तुत किया गया है। स्वतंत्ररूप से जैन-आगमों में वर्णित सभी मंत्रों का हम सम्मान करते हैं, चाहे वे (बीतराग मार्ग में) किसी रीति से—किन्हीं शब्दों और गठनों में बद्ध क्यों न किये गये हों। ब्राह्मी लिपि अनादि नहीं है इस सम्बन्ध में निम्न प्रसंग ही पर्याप्त है—

‘लेहं लिवीविहाणं, जिणेण बंभीएदाहिणकरेण ॥

— आ. नि. भा. ४७

‘लेखनं लेखो नाम सूत्रे नपुसकता प्राकृतत्वाल्लिपि-विधानं तच्च जितेन भगवता ऋषभस्वामिना ब्राह्म्या

वक्षिणकरेण प्रदर्शितमतएव तदादित आरभ्य थाच्यते ॥’

—अभि. राजे. द्वि. पृ. ११२६

लिपिः पुस्तकाऽऽदौ अक्षरविन्यासः सा अष्टादश प्रका-
राणि श्रीमन्नाभेयजितेन स्वसुताया ब्राह्मी नामिकायावशिता,
ततो ब्राह्मीनाम इत्यभिधीयते ॥’

—अभि. राजे. पंचम पृ. १२८४

‘अष्टादशल्लिपि ब्राह्म्या अपसंख्येन पाणिना ।’

— त्रै. श. पु. च. १।२।६६३

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि ब्राह्मी लिपि का प्रादुर्भाव तीर्थंकर ऋषभदेव से हुआ जो उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से संसार में किया और ऋषभदेव युग की आदि में हुए उन्हें भी अनादि नहीं माना जा सकता। एतावता यह टिप्पण भी मंत्र के अनादित्व की दिशा में निर्मूल बैठता है कि ब्राह्मी का अर्थ ऋषभदेव किया जाय। क्योंकि मंत्र के अनादित्व में ऋषभ अर्थ का विधान भी (ऋषभ के सादित्व के कारण) वर्ज्य है। यदि मंत्र अनादि है तो उसमें ऋषभ (व्यक्ति) को नमस्कार नहीं, और यदि ऋषभ को नमस्कार है तो मंत्र अनादि नहीं। अतः निष्कर्ष निकलता है कि—मूलमंत्र-परमेष्ठी नमस्कारात्मक रूप है और वही अनादि है—जैसा कि षट्खंडागम तथा अन्य आगमों में कहा गया है—

णमो अरिहताण, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं,
णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वासाट्ठणं ॥’

—षट्खंडागम—मंगलाचरणम्

बीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागज, नई दिल्ली-२



[पृष्ठ ४६ का शेषांश]

जन्म लेते ही घर-परिवार में सुख-समृद्धि होने के कारण उनको वर्द्धमान नाम मिला। अपने शौर्य कार्यों के कारण बाल्यावस्था से ही वीर, महावीर, अतिवीर कहे जाने लगे। उनकी कुशाग्र बुद्धि को लक्षितकर लोग उन्हें सन्मति-वीर भी कहने लगे। सासारिक भोगों से विरक्त हो आत्मोद्धार और लोकोद्धार के लिए स्वजनों और परि-जनों का मोहपाश तोड़ वन की राह पकड़ लेने पर वह निष्परिग्रह, निर्ग्रन्थ, श्रमण साधु हो गये और निगण्ठनात्त-पुत्त के नाम पुकारे जाने लगे।

उन आत्मजयी, कर्मशील, अनेकान्तवादी, जीववन्धु, परसेवाभावी महामानव की शासन जयन्ती के अवसर पर

हम उन्हें गच्छी श्रद्धांजलि तभी भेंट कर सकते हैं जब हम उनके बताये हुए उन शाश्वत सिद्धान्तों को व्यवहार में लावें जिनसे आज भी हमारा और विश्व के सभी प्राणियों का कल्याण सम्भव है।

टिप्पणी—इस लेख में उपयोग में लाये गये प्राकृत पाठ
डा० ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा सम्पादित ‘श्री
महावीर-जिन-वचनामृत’ नामक पुस्तक से
साभार उद्धृत है।

ज्योतिनिकुज,

चारबाग, लखनऊ-२२६००१

रयणसार के रचयिता कौन ?

□ श्री बंसीधर शास्त्री, एम० ए०,

विद्वान् लेखक ने पुष्ट गुक्तियों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रयणसार कुन्दकुन्दाचार्य की रचना नहीं हो सकती। पहले भी ऐसे ग्रन्थों का छानबीन द्वारा पता लग चुका है जो प्राचीन प्रसिद्ध प्रामाणिक आचार्यों के नाम से ग्रन्थों ने लिखे हैं। संभवतः रयणसार भी ऐसी ही रचना हो। विद्वानों को शोधपूर्वक इसका निश्चय करना चाहिए, इसी पवित्र भावना से यह लेख हम यहाँ दे रहे हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक मण्डल विद्वान् लेखक के सभी विचारों से सहमत हो। इस विषय में अन्य विद्वानों के सप्रमाण भी सादर आमन्त्रित है जो यथासमय 'अनेकान्त' में प्रकाशित किए जाएंगे।

—सम्पादक

मुस्लिम शासनकाल में भारत में ऐसी परिस्थितियाँ हो गई थी जिनके कारण दिगम्बर जैन साधु नग्न नहीं रह सके और इन्हें वस्त्र धारण करने पड़े। ऐसे वस्त्र-धारी साधु भट्टारक कहलाते थे। प्रारम्भ में कतिपय भट्टारकों ने साहित्य संरक्षण एवं संस्कृति की परम्परा बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान किया था। किन्तु वे वस्त्र, वाहन, द्रव्यादि रखते हुए भी अपने आपको साधु के रूप में ही पुजते रहे। वे पीछी कमण्डल भी रखते थे। चूँकि दिगम्बर परम्परा में वस्त्रधारी और परिग्रहधारी को साधु नहीं माना जा सकता, इसलिए इन भट्टारकों ने अधिकांश साहित्य, जो कि उस समय हस्तलिखित होने के कारण श्रम संख्या में ही था, अपने कब्जे में कर लिया। इन भट्टारकों ने प्रमुख केन्द्रों में अपने-अपने मठ बना लिए, विभिन्न प्रकारों से श्रावकों से धन संचय करने लगे और उन श्रावक-श्राविकाओं को शास्त्रों और आगम परम्परा से दूर रखा। उन्होंने धर्म के नाम पर मन्त्र-तन्त्रादि का लोभ या डर दिखाकर कई ऐसी प्रवृत्तियाँ चलायीं जो दिगम्बर जैन आगम के अनुकूल नहीं थी। इन्होंने प्राचीन साहित्य अपने अधिकार में कर लिया और नवीन साहित्य निर्माण करने लगे, वह भी कभी-कभी प्राचीन आचार्यों के नाम पर, ताकि लोग उन्हें प्रामाणिक समझ कर उन प्रवृत्तियों का विरोध नहीं करें। ऐसे नव निमित्त

साहित्य द्वारा उन नवीन प्रवृत्तियों का समर्थन किया गया। इन्होंने त्रिवर्णचिह्न, सूर्य प्रकाश, चर्चासागर, उमास्वामी श्रावकाचार आदि आगम-विरुद्ध ग्रन्थों का निर्माण किया था। स्व० पं० जुगलकिशोर मूख्तार, पं० परमेश्वरीदास जी जैसे विद्वानों ने इनकी समीक्षा कर स्थिति स्पष्ट कर दी है।

यह ठीक है कि आगरा-जयपुर के विद्वानों द्वारा ज्ञान के सतत प्रसार से उत्तर भारत में इन भट्टारकों का अस्तित्व समाप्तप्राय हो गया है। तदपि कुछ भाई, जिनमें विद्वान् एव त्यागी भी हैं, फिर भी भट्टारक परम्परा को प्रोत्साहन देना चाहते हैं और उन भट्टारकों द्वारा रचित ग्रन्थों का प्रचार करते हैं।

ऐसे ग्रन्थों में 'रयणसार' भी एक है। यद्यपि इसे आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित बताया जाता है, किन्तु इस ग्रन्थ की परीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित नहीं हो सकता। अपने विचार प्रस्तुत करने से पूर्व मैं कतिपय साहित्य मर्मज्ञ विद्वानों के मत उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ :—

स्व० डा० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—

“रयणसार ग्रन्थ गाथा विभेद, विचार पुनरावृत्ति, अप-

भ्रंश पद्यों की उपलब्धि, गण गच्छादि का उल्लेख और बेतरतीबी आदि को लिए हुए जिस स्थिति में उपलब्ध है उस पर से वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता। कुछ प्रतिरिक्त गाथाओं की मिलावट ने उसके मूल में गड़बड़ उपस्थित कर दी है और इसलिए जब तक कुछ दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायें तब तक यह विचाराधीन हो रहेगा कि कुन्दकुन्द इस रयणसार के कर्ता है।”

पुरातन ग्रन्थों के पारखी स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार का रयणसार के सम्बन्ध में भिन्न मत है—

“यह ग्रन्थ अभी बहुत कुछ संदिग्ध स्थिति में स्थित है। जिस रूप में अपने को प्राप्त हुआ है उस पर से न तो इसकी ठीक पद्य सख्या ही निर्धारित की जा सकती है और न इसके पूर्णतः मूल रूप का ही पता चलता है। ग्रन्थ प्रतियों में पद्य सख्या और उनके क्रम का बहुत बड़ा भेद पाया जाता है। कुछ अपभ्रंश भाषा के पद्य भी इन प्रतियों में उपलब्ध हैं। एक दोहा भी गाथाओं के मध्य में आ घुसा है। विचारों की पुनरावृत्ति के साथ कुछ बेतरतीबी भी देखी जाती है, ‘गण गच्छादि के उल्लेख भी मिलते हैं, ये सब बातें कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की प्रवृत्ति के साथ संगत मालूम नहीं होती, मेल नहीं खाती।”

—(पुरातन जैन वाक्य सूची, प्रस्तावना)

स्व० डा० हीरालाल जी जैन ने अपने ‘भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान’ शीर्षक ग्रन्थ में रयणसार के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है :—

“इसमें एक दोहा व छः पद अपभ्रंश भाषा में पाये जाते हैं। या तो ये प्रक्षिप्त हैं या फिर यह रचना कुन्दकुन्द कृत न होकर उत्तरकालीन लेखक की कृति है; गण गच्छ आदि के उल्लेख भी उसको अपेक्षा कृत पीछे की रचना सिद्ध करते हैं।”

—पृ० १०५

श्री गोपालदास जीवाभाई पटेल ने ‘कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न’ शीर्षक पुस्तक में रयणसार के सम्बन्ध में निम्न मत प्रस्तुत किया है :—

यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य रचित होने की बहुत कम

सम्भावना है, अथवा इतना तो कहना ही चाहिए कि उसका विद्यमान रूप ऐसा है जो हमें सन्देह में डालता है। इसमें अपभ्रंश के कुछ श्लोक हैं और गण-गच्छ और संघ के विषय में जिस प्रकार का विवरण है वह सब उनके अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। (पृ० २०)

प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य ने रयणसार को ‘कुन्दकुन्द भारती’ नामक कुन्दकुन्द के समग्र साहित्य में इसलिए सम्मिलित नहीं किया कि इसमें गाथा सख्या विभिन्न प्रतियों में एकरूप नहीं है। कई प्राचीन प्रतियों में कुन्दकुन्द का रचनाकार के रूप में नाम नहीं है।

स्व० डा० नेमीचन्द जी ज्योतिषाचार्य ने तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा के दूसरे खण्ड में पृष्ठ ११५ पर रयणसार के सम्बन्ध में डा० उपाध्ये का मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि ‘वस्तुतः शैली की भिन्नता और विषयों के सम्मिश्रण से यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित प्रतीत नहीं होता।’

डा० लालबहादुर शास्त्री ने अपने ‘कुन्दकुन्द और उनका समयसार’ नामक ग्रन्थ में रयणसार का परिचय देकर लिखा है कि ‘रयणसार की रचना गम्भीर नहीं है, भाषा भी स्खलित है, उपमाओं की भरमार है। ग्रन्थ पढ़ने से यह विश्वास नहीं होता कि यह कुन्दकुन्द की रचना है। यदि कुन्दकुन्द की रचना यह रही भी होगी तब इसमें कुछ ही गाथाएं ऐसी होंगी जो कुन्दकुन्द की कही जा सकती हैं। शेष गाथाएं व्यक्ति विरोध में लिखी हुई प्रतीत होती हैं। गाथाओं की सख्या १६७ है। (पृ० १४२) (इस ग्रन्थ का विमोचन उपाध्याय श्री विद्यानन्द जी के आशीर्वाद से हुआ है)।

इस प्रकार उक्त विद्वानों व अन्य प्रमुख विद्वानों द्वारा भी रयणसार कुन्दकुन्द की रचना नहीं मानी गयी है।

इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्दाचार्य कृत न मानने के कुछ और भी कारण हैं जिन पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

१. इसमें विषयों का व्यवस्थित वर्णन नहीं है। दान, सम्यग्दर्शन, मुनि, मुनिचर्या आदि का क्रमशः वर्णन न होकर कभी दान का, कभी सम्यग्दर्शन का, कभी पूजन का, कभी मुनि का वर्णन इधर-उधर अप्रासंगिक रूप से, असंबद्ध रूप से मिलता है।

१. कुन्दकुन्दके सभी 'सार' ग्रन्थों (प्रवचनसार, नियम-सार और समयसार) पर संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध है जबकि इसी तथाकथित 'सार' (रयणसार) की संस्कृत टीका नहीं है। प्राचीन काल में कुन्दकुन्द के उक्त तीनों ग्रन्थ नाटकत्रयी के नाम से विख्यात है और यदि उनके सामने यह 'रयणसार' उपलब्ध होता तो नाटकत्रयी ही क्यों कहते ?

२. कुन्दकुन्दाचार्य से लेकर १७वीं शताब्दी तक न तो इसकी कोई हस्तलिखित प्रति मिलनी है, न किसी भी आचार्य या विद्वान् ने उस समय तक इसका कोई उल्लेख या उद्धरण दिया है। कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र, पद्मप्रभुमलवारी, जयमेन आदि टीकाकारों ने भी इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया। प० आशाधर, श्रुतसागर आदि टीकाकारों ने भी अपनी टीकाओं में इसका उल्लेख नहीं किया, जबकि उनकी टीकाओं में प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण प्रचुरता से मिलते हैं।

३. १७वीं शताब्दी से पूर्व की इसकी कोई हस्त-लिखित प्रति लेखनकाल युक्त अभी तक नहीं मिली। कोई व्यक्ति किसी प्रति को अनुमान से किसी भी काल की बता दे, वह बात प्रामाणिक नहीं कही जा सकती।

४. कुन्दकुन्दाचार्य की रचनाओं में विषय को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया गया है जबकि इसमें प० जुगलकिशोर जी मुख्तार के शब्दों में, विषय बेतरतीबी से प्रस्तुत किये गये हैं। वैसे कहा यह जाता है कि 'रयण-सार' की रचना प्रवचनसार और नियमसार के पश्चात् की गई थी (देखें रयणसार प्रस्तावना डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री, पृ० २१)। किन्तु रयणसार एवं इन ग्रन्थों की तुलना से विदित हो जाता है कि प्रवचनसार और नियम-सार जैसे प्रौढ़ एवं सुव्यवस्थित ग्रन्थों का रचयिता रयण-सार जैसी संकलित, अव्यवस्थित, पूर्वापर-विरुद्ध और आगम विरुद्ध रचना नहीं लिखेगा। (इसके आगम विरुद्ध मंतव्यों का आगे विवेचन किया जायगा)।

५. इसकी विभिन्न प्रतियों में गाथा संख्याएँ समान नहीं हैं, वे १५२ से लेकर १७० तक हैं।

६. कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में उच्चस्तरीय प्राकृत भाषा के दर्शन होते हैं, उनके काल में अपभ्रंश भाषा थी

ही नहीं। उसका प्रचलन एवं प्रयोग कुन्दकुन्द के सैकड़ों वर्ष बाद हुआ है। फिर अपभ्रंश की गाथाएँ रयणसार में कैसे आ गईं। डा० लालबहादुर जी शास्त्री के शब्दों में, इसकी भाषा स्वलिप्त है। इससे स्पष्ट है कि यह रचना कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद जब अपभ्रंश का प्रयोग होने लगा होगा, अन्य किसी द्वारा लिखी जाकर कुन्दकुन्दाचार्य के नाम से प्रचारित की गई होगी :

१७वीं-१८वीं शताब्दी में अचानक इस ग्रन्थ का प्रादुर्भाव कैसे हुआ यह अभी तक स्पष्ट नहीं हो सका है। यह ठीक है कि मोक्षमार्ग प्रकाशक में कुन्दकुन्द का नाम बिना दिये 'रयणसार' की एक गाथा उद्धृत की गई है। पाठकों को ध्यान रहे कि इस ग्रन्थ में अज्ञेय ग्रन्थों के उद्धरण भी यथा प्रसंग उद्धृत किये गये हैं, अतः उसी प्रकार रयणसार की गाथा भी उद्धृत की गई हो तो क्या आश्चर्य है ? १८वीं १९वीं शताब्दी में हुए भूधरदास जी एवं प० सदासुखजी ने इसे कुन्दकुन्द कृत कहा है। सम्भव है कि उस समय कुन्दकुन्द का नाम होने के कारण इस ग्रन्थ का विषय, सिद्धान्त, शैली आदि का विशेष विवेचन न किया गया होगा और इसे कुन्दकुन्द की रचना लिख दी हो, जैसा कि आज भी हो रहा है। कुछ लोग इसके प्रचार के कारण इसे कुन्दकुन्द कृत मान लेते हैं और दूसरे से ये पूछते हैं कि इसे क्यों नहीं मानते।

रयणसार को कुन्दकुन्द की रचना सिद्ध करने के लिए इसमें मगलाचरण, अन्तिम पद व कई विषय ऐसे लिखे गये हैं जो कुन्दकुन्द की रचना से साम्यता लिए हुए प्रतीत हों और दूसरी ओर कुन्दकुन्द एवं दिगम्बर मान्यता से असम्मत मत भी इसमें प्रस्तुत कर दिये गये हैं ताकि लोग उन असम्मत मतों को भी कुन्दकुन्दाचार्य कृत मान लें।

अब रयणसार की ऐसी गाथाओं पर विचार किया जाता है जो आगम परम्परा, कुन्दकुन्दाचार्य कृत अन्य रचनाओं एवं रयणसार की ही अन्य गाथाओं के विपरीत मान्यता वाली हैं।

दान के प्रसंग में पात्र और अपात्र का विचार न करने वाली निम्न गाथा उल्लेखनीय है :

दाणं भीयणामेत्त दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।

पत्तापत्तविसेस संदंसणे कि विघारेण ॥४॥

यदि गृहस्थ आहार मात्र भी दान देता है तो धन्य हो जाता है। साक्षात्कार होने पर उत्तम पात्र-अपात्र का विचार करने से क्या लाभ ?

इसी गाथा के आगे १५ से २०वीं गाथा में उत्तम पात्र को ही दान देने का फल बताया है, न कि अपात्र को दान देने का फल। कुन्दकुन्दाचार्य कृत किसी भी रचना में नहीं लिखा है कि अपात्र को दान देना चाहिए।

प्रवचनसार की गाथा २५७ में अपात्र को दान देने का फल इस प्रकार बताया है :

जिन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है और जो विषय कथायो में अधिक हैं, ऐसे पुरुषों के प्रति सेवा उपकार या दान कुदेव रूप में और कुमानुष रूप में फलता है।

वसुन्दी श्रावकाचार में २४२वीं गाथा में अपात्र दान का फल निम्न प्रकार लिखा है :

जिस प्रकार ऊपर भूमि में बोया हुआ बीज कुछ भी नहीं उगाता है उसी प्रकार अपात्र में दिया गया दान भी फल रहित जानना चाहिए।

शास्त्रकारों ने मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा है और उसे दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है। दर्शन पाहुड की टीका में लिखा है कि मिथ्या-दृष्टि को अपात्र-दिक का दान भी नहीं देना चाहिए। कहा भी है—मिथ्या दृष्टि को दिया गया दान दाता को मिथ्यात्व बढ़ाने वाला है। इसी प्रकार सागारधर्मावृत में लिखा है—चारित्र्याभास को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए ही होता है। (२१-६४/१४६)।

उपासकाध्ययन में उस दान को सात्त्विक कहा गया है जिसमें पात्र का परीक्षण व निरीक्षण स्वयं किया गया हो और उस दान को तामस दान कहा गया है जिसमें पात्र-अपात्र का ख्याल न किया गया हो। सात्त्विक दान को उत्तम एवं सब दानों में तामसदान को जघन्य कहा गया है। (८२६-३१)।

पाठक विचार करें कि अपात्र के दान का इस प्रकार का फल होने पर कुन्दकुन्दाचार्य जैसा महान् आचार्य कैसे कह देता कि पात्र-अपात्र का क्या विचार करना ?

वस्तुतः ऐसी गाथा कोई भट्टारक या शिथिलाचारी ही लिख सकता है जो चाहता है कि लोग उसे आहार दान देते ही रहें, चाहे उसके आचरण कैसे ही क्यों न हों। उनकी परीक्षा न करे और एक बार आहार देने पर उसकी फिर परीक्षा करना या शिथिलाचारी या अनाचारी मान लेने पर भी उसको प्रकाश में लाना सम्भव नहीं हो सकेगा।

यशस्तिलक चम्पू काव्य में उक्त १४वीं गाथा के आशय का निम्न श्लोक मिलता है—

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम्।

ते सन्त, सन्तव-सन्तो वा गृहीदानेन शुद्ध्यति ॥३३॥

उक्त चम्पू काव्य उत्तरकालीन रचना होने के साथ-साथ एक काव्य ग्रन्थ है, जिसको आचार शास्त्र या दर्शन की मान्यता नहीं दी जा सकती। वैसे सिद्धान्त की दृष्टि से उक्त श्लोक भी आगम परम्परा के प्रतिकूल ही है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ सच्चे साधु को ही वन्दनापूर्वक आहार दे सकता है, वह अमाधु की वन्दना नहीं कर सकता।

आज भी शिथिलाचारियों के विरोध की बात पर उक्त गाथा की दुहाई दी जाती है और उनको दान देने का समर्थन किया जाता है। रयणसार की अन्य गाथाओं में उत्तम पात्र को दान देने वाली जो गाथायें हैं उन्हें उद्धृत नहीं किया जाता, किन्तु १४वीं गाथा अवश्य उद्धृत की जाती है। समणमूत में भी उक्त गाथा का समावेश किया है, जब कि उत्तम पात्र को दान देने की प्रेरणा देने वाली न केवल रयणसार में अपितु अन्य सभी शास्त्रों में गाथाएँ हैं, किन्तु वे गाथाएँ समणमूत में नहीं दी गई हैं।

इस प्रकार की गाथाओं से अपात्रों—मिथ्यादृष्टि, शिथिलाचारी एवं अनाचारी को प्रोत्साहन एवं समर्थन मिलता है। ऐसी गाथा कुन्दकुन्द जैसे आगम परम्परा के संस्थापक की नहीं हो सकती।

मुनि के आहार के पश्चात् प्रसाद दिलाने वाली निम्न गाथा भी विचारणीय है—

जो मुनिभुक्तवसेसं भुञ्जइ सो भुञ्जै जिणुवदिट्ठ।

संसार-सार-सोखं कमसो णिम्बाणवरसोक्ख ॥२॥

जो जीव मुनियों के आहार दान देने के पश्चात् अवशेष अंश को सेवन करता है वह ससार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

क्षुल्लक ज्ञानसागर जी ने अवशेष अंश के लिए लिखा है कि इसको प्रसाद समझकर ग्रहण करना चाहिए, इसका दानसार में महत्व बताया गया है।

अब तक मैंने रयणसार की ४-५ मुद्रित प्रतियां देखी हैं, उनमें यह गाथा उक्त रूप में ही लिखी गई है। समण-सुत्त में भी उक्त गाथा इसी रूप में सम्मिलित की गई है किन्तु अभी डा० देवेन्द्रकुमार शास्त्री द्वारा सम्पादित रयणसार इस गाथा में आगत 'मृनिभुक्तवमैस' को मुणि-भुक्ताविसैस लिखा गया है। यह परिवर्तन सम्भवतः इसी लिए किया गया है कि प्रसाद खाने का जैन परम्परा से किसी प्रकार औचित्य सिद्ध नहीं होता, अन्यथा इस परिवर्तन का कारण उन्होंने नहीं बताया।

निम्न गाथा में मुनि के लिए देय पदार्थों की सूची दी गई है—

ह्रिय मिय-मण्णं पाण णिरवज्जोसहि णिराउल ठाणं ।

सयणासणभुज्जरणं जाणिज्जा देइ मोक्खरओ ॥२३॥

मोक्षमार्ग में स्थिर (गृहस्थ) (मुनि के लिए) हितकर परिमित अन्नपान, निर्दोष औषधि, निराकुल स्थान, शयन, आसन, उपकरण को समझकर देता है। (डा० देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ में उपकरण के बाद कोष्ठक में "आदि" और लिखा है)। मुनि के लिए शयन, आसन, उपकरण और आदि क्या है? आज मुनिगण अपने इन शयन, आसन, उपकरण आदि के नाम पर इतना परिग्रह रखते हैं कि उन्हें लाने ले जाने के लिए बड़ी-बड़ी बसें चाहिए। इतने परिग्रह को रखते हुए वे मुनि निर्ग्रथ दिग्गम्बर कैसे कहला सकते हैं?

निम्न गाथा में सप्त क्षेत्रों में दान देने का फल इस प्रकार बताया गया है—

इह णियमुवित्तबीय जो ववइ जिणुत्तसत्त खेत्तेसु ।

सो तिहुवणरज्जफल भुञ्जदि कल्लाणपंचफल ॥१६॥

इस लोक में जो व्यक्ति निज श्रेष्ठ धन रूप बीज को

जिनदेव द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों में बोता है वह तीन लोक के राज्य फल-पंचकल्याणक रूप फल को भोगता है।

इन सप्तक्षेत्रों का किसी प्राचीन ग्रन्थ में उल्लेख देखने में नहीं आया। डा० देवेन्द्रकुमार जी ने भावार्थ में सप्तक्षेत्र इस प्रकार लिखे हैं—१. जिन पूजा, २. मन्दिर आदि की प्रतिष्ठा, ३. तीर्थयात्रा, ४. मुनि आदि पात्रों को दान देना, ५. सहधर्मियों को दान देना, ६. भूखे-प्यासे तथा दुखी जीवों को दान देना, ७. अपने कुल व परिवार वालों को सर्वस्वदान करना। कुन्दकुन्दाचार्य, उनके टीकाकार व अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में क्षेत्र के ये भेद देखने में नहीं आए। प्राचीन ग्रन्थों में उत्तम, मध्यम एवं जघन्य पात्रों के नाम से तीन भेद पात्रों के हैं, फिर कुपात्र एवं अपात्र हैं; ये सप्तक्षेत्र कब से किस शास्त्रकार ने मान्य किये हैं, इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। इनमें अतिम चार क्षेत्र दत्तियो (पात्रदत्ति, समदत्ति, दयादत्ति और अन्वयदत्ति) के नाम से आदिपुराण में भरत चक्रवर्ती ने अवश्य बताये हैं। पुत्र-परिवार को समस्त धन संपदा देना तीन लोक के राज्य फलस्वरूप पंचकल्याण रूप फल अर्थात् तीर्थकर पद देता है, ऐसा कुन्दकुन्द या अन्य किसी आचार्य ने नहीं लिखा। सभी मनुष्य मरते समय या वैसे भी अपनी धन-संपदा पुत्र परिवार को दे जाते हैं। क्या वे तीर्थकर प्रकृति के फल को पाते हैं? ऐसा कथन कर्म सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है। डा० देवेन्द्रकुमार जी भी उक्त गाथा से सहमत नहीं दिखते हैं, इसीलिए उन्होंने भावार्थ में 'पंचकल्याणफल' का अर्थ नहीं दिया। उत्तम पात्र मुनि को धन देने के लिए कुन्दकुन्द जैसे निर्ग्रथ तपस्वी कैसे कह सकते थे? उनकी गाथाओं में तो मुनि को द्रव्य देना पापमूलक ही बताया गया है।

गाथा सख्या २ में सम्यग्दृष्टि का निम्न स्वरूप बताया है—

पुव्वं जिणेहि भणियं जहट्टियं गणहरेहि वित्थरियं ।

पुव्वाइरियक्कमजं त बोल्लइ सोहु सट्ठि ॥२॥

(जो) पूर्वकाल में सर्वज्ञ के द्वारा कहे हुए, गणधरों द्वारा विस्तृत तथा पूर्वाचार्यों के क्रम से प्राप्त वचन को ज्यों का त्यों बोलता है वह विश्वय से सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दृष्टि का ऐसा लक्षण इसी ग्रन्थ में मिलता है अन्यत्र शायद ही मिले ।

गृहस्थ के आवश्यक षट्कर्मों में दान का अन्तिम स्थान है, किन्तु रयणसार के कुन्दकुन्द दान को देव पूजा से भी पहले मुख्य स्थान देते हैं—

दाणं पूया मुखं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ।

श्रावक के षट्कर्तव्यों का क्रम इस प्रकार है—देव-पूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान । दान का अन्तिम स्थान होते हुए भी स्वाध्याय, संयम, तपादि की सर्वथा उपेक्षा कर दान को प्रथम स्थान देना तथा १५५ गाथाओं के ग्रन्थ में दान की व्याख्या एवं प्रशंसा में ३०-३१ गाथाएँ लिखना बताता है कि इस ग्रन्थकार को दान अतिप्रिय था । भट्टारकगण नाना प्रकारों से धन संग्रह किया करते थे । षट् कर्तव्यों में दान को मुख्य एवं प्रथम स्थान देना उसका सर्वोच्च फल तीर्थकर पद एवं निर्वाण आदि बताना केवल इसीलिए था कि भक्त लोग उन्हें दान देते रहें ।

मेरा आशय यह नहीं है कि दान का कोई महत्व नहीं है । श्रावक के कर्तव्यों में उसका अन्तिम स्थान है (जो कि तर्कसिद्ध एवं बुद्धिगम्य भी है) । उसको उसके बजाय प्रथम स्थान कैसे दिया गया ? इस ग्रन्थ में श्रावक के अन्य आवश्यकों, व्रतों, प्रतिमाओं का नामोल्लेख मात्र किया गया है

इस ग्रन्थ की ७वीं गाथा में सम्यग्दृष्टि के चवालीस (सपादक के शब्दों में) दूषण न होना बताया है । २५ दोष, ७ व्यसन, ७ भय एवं अतिक्रमण-उल्लंघन ५ इस प्रकार कुल ४४ दोष बताए गए हैं । परम्परा में सम्यग्दृष्टि के २५ दोषों का उल्लेख तो यथा प्रसंग सर्वत्र मिलता है किन्तु इन ४४ दोषों का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आया । कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती किसी आचार्य या टीकाकार ने इनका उल्लेख नहीं किया । इसका कारण यही प्रतीत होता है कि उक्त आचार्यों के समक्ष यह रयणसार न रहा हो । अतिक्रमण-उल्लंघन के ५ अतिचार कौन से हैं यह भी देखने में नहीं आया । डा० देवेन्द्र-कुमार ने व्रत नियम के उल्लंघनस्वरूप ५ अतिचार लिखे

हैं । १२ व्रतों के ५-५ अतिचार होते हैं सो वे व्रत नियम के ५ अतिचार कौन से हैं यह स्पष्ट किये जाने की आवश्यकता है ।

मुनि के लिए विभिन्न वस्तुओं में ममत्व का निषेध इस प्रकार किया गया है :—

वसदी पडिमोवयरणे गणगच्छे समयमंधजाइकुले ।

सिस्सपीड सिस्मच्छत्ते सुयजाते कप्पडे पुत्थे ॥१४४॥

पिच्छे संत्थरणे इच्छामु लोहेण कुणइममयारं ।

यावच्च अट्टरुद् ताव ण मुचेदि ण हु सोवखं ॥१४६॥

(यदि साधु वसतिका, प्रतिमोपकरण में, गणगच्छ में शास्त्र संघ जाति कुल में, शिष्य-प्रतिशिष्य छात्र में, सुत प्रपौत्र में, काड़े में, पोथी में, पोछी में, विस्तर में, इच्छाओं में लोभ से ममत्व करता है और जब तक आत्मीय दान नहीं छोड़ता है तब तक सुखी नहीं होता है ।)

वया दिगम्बर जैन साधु कपड़े, प्रतिमोपकरण, विस्तर आदि रखता है, जो उनके प्रति ममत्व का फल बताया गया है । ये गाथाएँ किसी अदिगम्बर द्वारा लिखी हुई हो तो कोई आश्चर्य नहीं है । उक्त गाथा में प्रयुक्त 'गण गच्छ' का गठन कुन्दकुन्द के बहुत काल बाद हुआ है । उमास्वामी ने अपने सूत्र २४ अध्याय ६ में गण शब्द का प्रयोग उक्त गणगच्छ के अर्थ में नहीं किया है । डा० देवेन्द्रकुमार जी ने उमास्वामी के उक्त सूत्र का हवाला देते हुए कुन्दकुन्द कृत ही माना है, किन्तु उनके काल में गण या गच्छों का गठन नहीं हुआ यह तो निश्चित ही है । उत्तरकालीन रचनाओं में ही गण-गच्छ का प्रयोग मिलता है । इसीलिए डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० होरा-लाल जी, प० जुगलकिशोर जी मुखार्य सद्गुरु अधिकारी विद्वानों ने इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्द की रचना मानने में सन्देह व्यक्त किया है ।

ग्रन्थकार ने इस रयणसार को न पढ़ने सुनने वाले को मिथ्यादृष्टि बनाया है—

गंधमिणं जो ण दिट्ठइ ण हु मण्णइ ण हु

सुणेइ ण हु पढइ ।

ण हु चितइ ण हु भावइ गो चेव हवेइ

कुट्टि ॥१५४॥

जो व्यक्ति इस ग्रन्थ को नहीं देखता, नहीं मानता, नहीं सुनता, नहीं पढ़ता, नहीं चिंतन करता, नहीं भाता है वह व्यक्ति ही मिथ्यादृष्टि होता है।

क्या कुन्दकुन्द जैसे महान् ग्रन्थकार इस रचना को न देखने, न पढ़ने, न सुनने, न मानने वाले को मिथ्यादृष्टि बताते? ऐसी गाथा की रचना तो अपने ग्रन्थ की महत्ता दिखाने के लिए भट्टारक ही कर सकते हैं। न कि संसार-त्यागी आत्मसाधना में लीन कुन्दकुन्दचार्य।

इस ग्रन्थ में ऐसी ही ग्रन्थ गाथाएँ हैं जिनका सूक्ष्म परीक्षण करने से इनमें विषमताएँ एवं विपरीतता मिलेगी।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अपनी प्रस्तावना में इसे कुन्दकुन्द कृत मानने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रस्तावना के पृ० ६२ पर 'रचनाएँ' शीर्षक पैरा में लिखा है कि श्री जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य कुन्दकुन्द की २२ रचनाओं का उल्लेख किया है जो बड़ा उल्लिखित हैं। इस सूची में रयणसार का नाम भी है। इस सूची के साथ रयणसार के सम्बन्ध में श्री मुख्तार साहब का उक्त मत उद्धृत नहीं किया जिससे पाठक यही समझें कि मुख्तार साहब रयणसार को कुन्दकुन्द कृत ही मानते थे, जब कि वास्तविक स्थिति दूसरी ही है।

डा० देवेन्द्रकुमार जी ने अनेकान्त के जनवरी-मार्च ७६ के अंक में 'रयणसार-स्वाध्याय परम्परा में' शीर्षक लेख में लिखा है—“रयणसार नाम की एक अन्य कृति का उल्लेख दक्षिण भारत के भण्डारों की सूची में हस्त-लिखित ग्रन्थों में किया गया है। श्री दिगम्बर जैन म० चित्तामूर, साउथ आरकाड, मद्रास प्रांत में स्थित शास्त्र-भण्डार में क्रम सं० ३६ में प्राकृत भाषा के रयणमार ग्रन्थ का नामोल्लेख है और रचयिता का नाम वीरनन्दी है जो संस्कृत टीकाकार प्रतीत होते हैं। इस टीका की खोज करनी चाहिए।” समझ में नहीं आया कि डाक्टर गाहब ने ग्रंथ को बिना देखे ही कैसे मान लिया कि वीरनन्दी संस्कृत टीकाकार प्रतीत होते हैं जबकि उन्होंने स्वयं सूची में रचयिता के स्थान पर वीरनन्दी का नाम स्पष्ट लिखा हुआ बताया है। चूंकि प्रति सामने नहीं है, अतः ग्रन्थ कल्पना करना ठीक नहीं है। फिर भी प्राप्त

सूचनानुसार सूची में “प्राकृत भाषा के रयणसार के कर्ता का नाम वीरनन्दी है, न कि कुंदकुंद।” जब तक इसे गलत सिद्ध नहीं किया जावे इस सूची के वर्णन को सही मानना समीचीन होगा। मध्यकाल में वीरनन्दी हुए हैं, उन्होंने आचारसार लिखा था। सम्भव है रयणसार भी उन्हीं का लिखा हुआ हो।

विद्वान् सम्पादक डा० देवेन्द्रकुमार जी ने इसकी कई गाथाएँ प्रक्षिप्त बतलाकर मूल ग्रन्थ से अलग प्रस्तुत की हैं, किन्तु फिर भी ग्रन्थ में कुछ गाथाएँ ऐसी और हैं जिन पर शेषक लिखा हुआ है अतः इसके मूल अंश और शेषकांश का निर्णय हो पाना सहज नहीं है।

अतः अंतरंग-बहिरंग परीक्षण से यह ग्रंथ वीतराग परम तपस्वी दिगम्बर कुंदकुंदाचार्य द्वारा लिखा हुआ नहीं मालूम होता, अपितु किसी भट्टारक या और किसी के द्वारा उनके नाम पर लिखा हुआ प्रतीत होता है।

विद्वानों से मेरा नम्र अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का सम्यक् प्रकार से तुलनात्मक अध्ययन कर अपना मतव्य प्रस्तुत करें ताकि लोगों को सही स्थिति ज्ञात हो जावे।

जयपुर उद्योग लि०

सवाई माधोपुर (राजस्थान)

‘अनेकान्त’ के स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

प्रकाशन स्थान—वीरसेवामन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली
मुद्रक-प्रकाशन—वीर सेवा मन्दिर के निमित्त

प्रकाशन अवधि—त्रैमासिक श्री ओमप्रकाश जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—२३, दरियागंज, दिल्ली-२

सम्पादक—श्री गोकुलप्रसाद जैन

राष्ट्रिकता—भारतीय पता—वीर सेवा मन्दिर २१,

दरियागंज, नई दिल्ली-२

स्वामित्व—वीर सेवा मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

मैं, ओमप्रकाश जैन, एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी पूर्ण जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

—ओमप्रकाश जैन, प्रकाशक



अग्रवाल जैन जाति के इतिहास की आवश्यकता

□ श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

भगवान महावीर के समय जैन समाज जातियों में विभक्त नहीं था। सभी वर्ण और जाति के लोग जैन धर्म का पालन करते थे। एक ही घर में कोई जैन था तो कोई वैदिक व बौद्ध। पर भागे चलकर इससे एक बड़ी भड़चन उपस्थित हो गई, क्योंकि घर में कोई मासाहारी था तो कोई शाकाहारी; कोई वैदिक धर्म पालता था, कोई बौद्ध धर्म तो आपस में एक खीचा-तानी होती रहती थी। फिर विवाह-सम्बन्ध में भी अनुविधा होने लगी। अपने-अपने धर्म और समाज के आचार-विचार में कटुता रखने वाले दूसरों के साथ द्वेष करने लगे। कभी-कभी तो एक-दूसरे की मार डालने का भी प्रयत्न हुआ। तब जैनाचार्यों ने जहाँ-जहाँ हजारों लाखों लोगों को जैनी बनाया वहाँ उनका एक अलग संगठन बना दिया, जिससे उन सब में धार्मिक और सामाजिक एकता और सद्भाव उपस्थित हो गया। स्वधर्मी वात्सल्य को प्रधानता दी गई, जिससे एक दूसरे को पूरी मदद करके धर्म में स्थिर रखा जा सके। व्यावहारिक अर्थ उपाजन व विवाह आदि में भी भड़चन न हो।

वर्तमान में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में कई वंश या जातियाँ हैं जो स्थान विशेष के नाम से प्रसिद्ध हैं, जैसे ओसवाल, श्रीमाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, बघेरवाल, पोरवाल, पद्मावती पुरवाल, परमार (परवार) आदि। इनमें से कुछ जातियाँ तो मुख्यरूप से श्वेताम्बर और कुछ दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी हैं और कुछ दोनों सम्प्रदायों को मान्य करती हैं। इनमें से श्वेताम्बर सम्प्रदाय में ओसवाल मुख्य हैं और दिगम्बर सम्प्रदाय में खण्डेलवाल, अग्रवाल, परमार (परवार) आदि। अग्रवाल जाति ऐसी है जिनमें जैनत्व भी बहुत है और जैन भी। जैन में भी दिगम्बर सम्प्रदाय प्रधान है वैसे स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय के भी हैं। अग्रवाल जाति वालों की संख्या बहुत बढ़ी है।

अग्रवाल जाति के सम्बन्ध में छोटे-बड़े बीसों इतिहास ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें तीन ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

(१) डा० सत्यकेतु विद्यालंकार लिखित—‘अग्रवाल जाति का प्राचीन इतिहास’, प्रकाशक श्री सरस्वती सदन, मंभूरी, प्रथमावृत्ति सन् १९३८। द्वितीयावृत्ति सन् १९७६ मूल्य ५ रुपये। पता ए-१/३२ सफदरजंग एक्सटेंशन, नई दिल्ली-१६।

(२) श्री परमेश्वरी लाल गुप्त लिखित—‘अग्रवाल जाति का विकास’ सन् १९४२।

(३) श्री चन्द्रराज भण्डारी—‘अग्रवाल जाति का इतिहास’ भाग १-२। इनमें से सत्यकेतु की द्वितीयावृत्ति के पृष्ठ ११६ में लिखा है कि अग्रसेन के पुत्र विभु उसके पुत्र नेमिनाथ उसके बाद विमल, शुक्रदेव, घनञ्जय और श्रीनाथ क्रमशः राजगद्दी पर बैठे। श्रीनाथ का पुत्र दिवाकर था। इसने पुराने परम्परागत धर्म को छोड़कर जैनधर्म की दीक्षा ली। जैन अग्रवालों में यह अनुश्रुति चली आती है कि श्री लोहाचार्य स्वामी अग्ररोहा गए और वहाँ उन्होंने बहुत से अग्रवालों को जैनधर्म की दीक्षा दी। जैनों के अनुसार, उस समय अग्ररोहा में राजा दिवाकर राज्य करते थे। वे श्री लोहाचार्य स्वामी के शिष्य हो गए, और उनके अनुकरण में ग्रन्थ भी बहुत से अग्ररोहा निवासियों ने जैनधर्म को स्वीकार किया। अग्रवालों में बहुसंख्या में लोग जैनधर्म के अनुयायी हैं। वे सब श्री लोहाचार्य स्वामी की अपना गुरु मानते हैं।

इस अनुश्रुति का प्रमाण जैन ग्रन्थों में ढूँढ़ सकना सुगम नहीं है। जैन पुस्तकों में दो लोहाचार्यों का उल्लेख आया है। पहले चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन भद्रबाहु स्वामी के शिष्य श्री लोहाचार्य थे। ये आचार्य ईसा की दूसरी सताब्दी में हुए। यह कहना बहुत कठिन

है कि इन दो लोहाचार्यों में से किसने अग्ररोहा जाकर दिवाकर को जैनधर्म में दीक्षित किया। पर 'अग्रवैश्यवंशानुकीर्तनम्' में भी राजा दिवाकर का उल्लेख होना और उसे जैन बताना सूचित करता है कि जैन अग्रवालों में प्रचलित अनुश्रुति ऐतिहासिक तथ्य पर आश्रित है।

भविष्यपुराण के केदारखण्ड के लक्ष्मी माहात्म्य प्रकरण में अग्रवैश्यवंशानुकीर्तन में लिखा है—

दिवाकरो जैनमते शिखिनं पर्वत गतः।

तन्मतं पालयामास जनैः सर्व गणैः वृतः ॥१५६॥

दिवाकर जैन मत में (गया), उसने पर्वत शिखर पर जाकर जैनो के समूह से घिरा रहकर जैन मत का पालन किया।

जैन ग्रन्थों में अग्रवाल जैन जाति के सम्बन्ध में विशेष विवरण किस ग्रन्थ में क्या मिलता है, प्रकाश में आना चाहिए। अग्रवालों को जैन बनाने वाले लोहाचार्यों के सम्बन्ध में भी दिगम्बर विद्वानों को विशेष प्रकाश डालना चाहिए।

अग्रवाल जाति के इतिहास लेखकों ने जैन ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग नहीं किया, इसलिए यहाँ तक लिख देना पड़ा कि अग्रवाल शब्द का प्रयोग मुसलमानी साम्राज्य के समय का है। पर वास्तव में इससे पहले के भी प्रयोग जैन प्रशस्तियों में प्राप्त है। प्रशस्तियों और पुष्पिकामो-लेखन प्रशस्तियों में मध्यकालीन अग्रवाल जैनो सम्बन्धी काफी ऐतिहासिक सामग्री मिलती है। उसके अभाव में अग्रवाल इतिहास लेखकों को लिखना पड़ा कि मध्यकाल की सामग्री नहीं मिलती। सत्यकेतु विद्यालंकार ने अपने ग्रन्थ के नये संस्करण में, मध्यकाल में अग्रवाल जाति नामक चौथे परिशिष्ट में केवल सात विशिष्ट खानदानों का ही विवरण दिया है। उनमें केवल लाला हरमुखराय दिल्ली वाले एक ही जैन हैं, जब कि जैन प्रशस्तियों में पच्चीसों विशिष्ट खानदानों का विवरण मिलता है।

अग्रवालों के १८ गोत्र माने जाते हैं, पर जैन प्रशस्तियों में २ नये गोत्रों के नाम भी मिले हैं। वास्तव में जैन सामग्री का ठीक से उपयोग करने पर बहुत से नये तथ्य

अग्रवाल जाति के इतिहास के सम्बन्ध में प्रकाश में आयेंगे। 'अनेकान्त' पत्र में पं० परमानन्द शास्त्री के कई लेख अग्रवाल जैनो सम्बन्धी प्रकाशित हुए हैं। वे बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

चन्द्रराज भण्डारी ने दो बड़ी-बड़ी जिल्लों में अग्रवाल जाति का इतिहास प्रकाशित किया है। उनका उद्देश्य व्यावसायिक था, इसलिए उन्होंने वर्तमान में अग्रवालों के विशिष्ट खानदानों व व्यक्तियों, उनका साक्ष्य विवरण प्रकाशित करने का ही विशेष ध्यान रखा है। पर उनमें भी अग्रवाल जैनो को बहुत ही कम स्थान मिला है, जबकि सैकड़ों विशिष्ट व्यक्ति और खानदान अग्रवाल जैनो के आज भी हैं जिनका विवरण उनके बड़े ग्रन्थ में नहीं आ पाया।

खोज के अभाव में स्वयं जैन समाज को ही मालूम नहीं है कि उनमें कौन-कौन से विशिष्ट अग्रवाल जैन कहां-वहां बस रहे हैं। बहुत से व्यक्तियों के नाम के आगे सरावगी या जैन शब्द रहते हैं, पर वे किस जाति के हैं ये मुझे भी पता नहीं था। अभी अग्रवाल इतिहास को देखने पर मालूम हुआ कि अपने को सरावगी व जैन बताने वाले कई विशिष्ट व्यक्ति अग्रवाल जाति के हैं। इसलिए अग्रवाल जैनो का स्वतंत्र इतिहास प्रकाशित किया जाना बहुत ही आवश्यक है।

अग्रवाल जैनो ने सैकड़ों मन्दिर व मूर्तियां बनवायीं, हजारों प्रतिमा लिखवायी, कवियों से अनुगोध करके काव्यादि ग्रन्थ बनवाये। साधारण आदि कई जैन अग्रवाल कवि थे। इस तरह अग्रवाल जैनो का इतिहास बहुत महत्वपूर्ण है। दिगम्बर समाज के मन्दिर व मूर्तियों के लेख बहुत कम प्रकाश में आये हैं, अन्यथा उनसे भी अग्रवाल जैनो सम्बन्धी काफी महत्व की सामग्री मिल सकती है।

यह प्रथा अग्रवाल जाति की बहुत ही अच्छी है कि जैन जनेतरो में विवाह आदि सम्बन्ध खुले ग्राम होते हैं। जिस घर में कन्या जाती है वहीं के धर्म का पालन करती है।

नाहटा स्ट्रीट, बीकानेर
(राजस्थान)

‘ब्राह्म्य’ : जैन संस्कृति का पूर्वपुरुष

□ डा० हरीन्द्रभूषण जैन, विक्रम विद्वद्विद्यालय, उज्जैन

वेदों में जैन संस्कृति

जैन संस्कृति अत्यन्त प्राचीन है; इतनी प्राचीन कि जिसका समय निर्धारित करना कठिन है। वेद का चाहे जितना भी समय निर्धारित किया जाए, यह बात अत्यन्त सम्भव प्रतीत होती है कि वेद के समकाल में जैन संस्कृति अवश्य रही होगी।

डा० राधाकुमुद मूकर्जी तथा श्री चन्दा जैसे भारतीय संस्कृति के निष्णात विद्वान्, वेदपूर्वकालीन मिथुपाटी सभ्यता में प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियों को प्रामाण्य जैन तीर्थंकर वृषभदेव की मूर्ति से तुलना करते हैं।^१

वेदों में ऐसे अनेक संकेत हैं जो जैन संस्कृति के प्रतीक प्रतीत होते हैं। डा० राधाकुण्डन् जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक मनीषी वेदों में ऋषभदेव, अजितनाथ और अष्टिनेमि, इन तीन तीर्थंकरों के नाम होने की बात स्वीकार करते हैं।^२ ऋग्वेद (१०.१२१) के ‘हिरण्यगर्भ समवर्तनाये’ मन्त्र का हिरण्यगर्भ, श्रमण संस्कृति का युगपुरुष ऋषभ ही है।^३

ऋग्वेद के दो सूक्तों (७.२१.५ तथा १०.१६३) में ‘शिश्रुदेवाः’ शब्द आया है। इसका सागान्यतः लिङ्गपूजक अर्थ किया जाता है; किन्तु कुछ विद्वान् हड़प्पा से प्राप्त दो नग्न मूर्तियों के सदृश में, ‘शिश्रुदेवाः’ का अर्थ शिश्रु-युक्त देवता अर्थात् नग्नदेवता को पूजने वाले करते हैं।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, ‘मुनयो वातरशनाः पिण्डा वसते मलाः’, ऋग्वेद (१०.१३५.२) के इस मन्त्र के ‘वातरशना’ का अर्थ, वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है, अर्थात् दिगम्बर करते हैं।^४

इस प्रकार वेद में तीर्थंकरों के नाम तथा हिरण्यगर्भ, शिश्रुदेव, वातरशना आदि शब्द जैन दृष्टि से अत्यन्त विचारणीय हैं। इसी प्रसंग का एक और वैदिक शब्द है ‘ब्राह्म्य’ जो हमारे लेख का विषय है।

‘ब्राह्म्य’ वैदिक वाङ्मय की एक कठिन पहेली है। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों (१.१६३.५; ६.१४.२), यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (३०.८) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४.५.१), अथर्ववेद (१५.१.१-६), पञ्चविंश ब्राह्मण (१७.१-४), कात्यायन श्रौतसूत्र (८.६), आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (२५.५; ४.१४) तथा महाभारत (५.३५.४६) में ‘ब्राह्म्य’ का उल्लेख है।^५

ब्राह्म्य का स्वरूप

उपर्युक्त उल्लेखों में ‘ब्राह्म्य’ का जो स्वरूप और आधार निर्धारित होता है वह पथस्थ भी है और अप्रशस्त भी। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता (३०.८) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.४.५.१) के अनुगार नरमेघ में जिन मनुष्यों का बलिदान किया जाता था उनमें ब्राह्म्य भी थे। पञ्चविंश ब्राह्मण (१७-१.१) ब्राह्म्यों को जाति बहिष्कृत, हीन, दलित तथा निन्दित रूप में उल्लिखित करता है। महाभारत में ब्राह्म्यों को महापातकियों में गिनाया गया है।

इसके विपरीत अथर्ववेद (१५.१) में ब्राह्म्य के लिए अत्यन्त प्रशंसनीय शब्दों का प्रयोग किया गया है—‘ब्राह्म्य आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत्’ अर्थात् पर्यटन करते हुए ब्राह्म्य ने प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी। सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है—‘कञ्चित् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्य कर्मपरिबीहृणोर्विदिष्टं ब्राह्म्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्’ अर्थात् यहाँ किसी विद्वानो में उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्वपूज्य ब्राह्म्य को लक्ष्य करके उक्त कथन किया गया है, जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते थे। ब्राह्म्यों के संबन्ध में जो अप्रशस्त भावना प्रकट की गई है उसका कारण संभवतः कर्मकाण्डी ब्राह्मणों का विद्वेष होना चाहिए।

१. डा. राधाकुमुद मूकर्जी, ‘हिन्दू सभ्यता’ पृ. २३-२४, तथा ‘माइन रिब्यू’ जून, १९३२ में श्रीचन्दा का लेख।
२. ‘भारतीय दर्शन का इतिहास’ जिल्द १, पृ. २८७।
३. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, ‘जैन साहित्य का इतिहास : पूर्वपीठिका’, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, पृ. ११८।

४. श्री टी. एन. रामचन्द्रन्, ‘अनेकान्त’, वर्ष १४, कि. ६, पृ. १५७, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।
५. ‘जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका’—प्राक्कथन पृ. ११।
६. ‘वैदिक इण्डेक्स’ मैकडानल तथा कोव, हिन्दी अनुवादक रामकुमार राय, चोलम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२, भाग-२, ‘ब्राह्म्य’ शब्द।

जैन संस्कृति से सम्बन्ध

व्रात्य के सम्बन्ध में अभी तक जो अनुसंधान हुआ है उसके अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि वेदकालीन व्रात्य जैन संस्कृति का प्राचीन पुरुष है।

व्रात्य शब्द व्रत या व्रात से बना है। जैनधर्म में व्रतों का जो महत्त्व है वह आज भी ब्राह्मणेतर धर्म में नहीं है। व्रात्य का अर्थ घुमकड़ भी होता है। सायण ने व्रात का अर्थ घूमना किया है। अतः महाव्रती एव निरन्तर भ्रमण-शील जैन साधु के लिए व्रात्य शब्द अत्यन्त उपयुक्त बैठता है।

जर्मनी के डा० हावर ने 'देर व्रात्य' नाम से व्रात्यों के संबन्ध में एक पुस्तक लिखी है जिसमें उन्होंने बताया है कि 'व्रात्य' शब्द व्रात से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है व्रत-पुण्य-कार्य में दीक्षित मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय। वे लिखते हैं कि—'अथर्व. का. १५, सूक्त १०-१३ में लौकिक व्रात्य को अतिथि के रूप में देश में घूमते हुए तथा राजन्यो और जनसाधारण के घरों में जाते हुए दिखलाया गया है। ...अतिथि, घूमने-फिरने वाला साधु ही है, जो अपने साथ अलौकिक बातों का ज्ञान लाता और अपना स्वागत करने वालों को आशीष देता है। प्राचीन भारत में व्रात्य किसी ब्राह्मणेतर धर्म के प्रतिनिधि थे। वे जहाँ जाते उनकी आचमन बड़ी श्रद्धा-भक्ति से होती। यदि वह किसी घर में एक रात ठहरे तो गृही, पृथ्वी के सब पुण्यलोकों को पा जाता है। अब तो वह 'एव विद्वान् व्रात्यः' है जिसके ज्ञान ने अब पुराने कर्मकाण्ड की जगह ले ली है। प्राचीन भारत में एक ही व्यक्ति ऐसा है जिस पर यह बात घट सकती है। वह है परित्राजक, योगी या संन्यासी। योगियों-संन्यासियों का सबसे पुराना नमूना व्रात्य है।'

डा० हावर ने व्रात्य का जो चित्र उपस्थित किया है वह जैन परम्परा के अनुकूल है। उन्होंने व्रात्य के जिस ब्राह्मणेतर धर्म के प्रतिनिधि होने की बात कही है वह वस्तुतः जैनधर्म ही हो सकता है।

व्रात्यों की ओर सबसे प्रथम जिस विदेशी विद्वान् का ध्यान आकृष्ट हुआ वह थे बेबर। बेबर का मत था कि

व्रात्य, बौद्धधर्म जैसे किसी अब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे। यहाँ डा. बेबर का अभिप्राय जैनधर्म से रहा होगा क्योंकि वेदकाल में बौद्धधर्म का अस्तित्व ही नहीं था। अथर्ववेद का. १५ के प्रथम सूक्त के भाष्य में सायण के द्वारा व्रात्य के लिए प्रयुक्त कर्मपरब्राह्मणैविद्विष्ट'—कर्मकाण्डी ब्राह्मण जिससे द्वेष करते हैं, विशेषण भी जैनधर्म के पुरस्कर्ता और अनुयायी के लिए सुसंगत बैठता है।

व्रात्य-अनुश्रुति से संबद्ध श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.४.२) में हिरण्यगर्भ से व्रात्य का सम्बन्ध बताया गया है—'यो देवानां प्रभवश्च उद्भवश्च विश्वाधिपोरुद्रो महर्षि हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्'। जैन संस्कृति में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को 'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। जैन मान्यता के अनुसार जब ऋषभदेव गर्भ में आये तो आकाश से स्वर्ण (हिरण्य) की वृष्टि हुई। इसी से वे हिरण्यगर्भ कहलाये—

सैषा हिरण्यमयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।

निभोहिरण्यगर्भत्वमिव दीव्यितुं जगत् ॥

—आचार्य जिनसेन; 'महापुराण' पर्व १२-६५

अथर्ववेद के १५वें काण्ड के प्रथम सूक्त में व्रात्य को आदिदेव कहा है तथा तृतीय सूक्त में कहा है कि व्रात्य पूरे एक वर्ष तक खड़ा रहता है। जैनो में ऋषभ को आदि देव कहा जाता है और वे प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् छः माह तक कायोत्सर्ग मुद्रा में सीधे खड़े रहे।

अथर्ववेद (१०.१-२) में उल्लेख है कि जिस राजा के अतिथिगृह में विद्वान् व्रात्य का आगमन हो वह उसे अपना कल्याण माने। ऐसा करने पर वह अपने क्षत्रधर्म और राष्ट्रधर्म से च्युत नहीं होता—

'तद यस्यैव' विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिगृहानागच्छेत् श्रेयासमेनमात्मनो मानयेत्। तथा क्षत्राय नावृश्चते तथा राष्ट्राय नादृश्चते ॥'

इतना ही नहीं, यदि कोई अब्राह्मण व्यक्ति भी अपने को व्रात्य बताकर किसी के अतिथिगृह में आ जाए तो राजा या गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि उसका तिरस्कार न करे—

'अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नाम निभ्रत्यतिथिगृहानागच्छेत् कर्षेतं न चैन कर्षेत ? न चैन कर्षेत ।'

—(अथर्ववेद १५.१३, ११.१२)

७. 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका—पं० कैलाशचन्द्र, पृ. ११५।

८. 'भारतीय अनुसंधान', हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, पृ. १६।

९. 'जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका'; पृ. ११५।

१०. वही; पृ. ११३, ११५ तथा ११७।

फिर भी यदि कोई, विद्वान् ब्राह्म्य का अपशब्द कहकर तिरस्कार करता है तो वह देवताओं के प्रति अपराधी है—

‘देवेभ्य आबृश्चते य एवं विद्वांसं ब्राह्म्यमुपवदति ।’

—(अथर्ववेद; वही)

अथर्ववेद के उपर्युक्त उद्धरण ब्राह्म्य की विद्वत्ता एवं ^{जैन} तथा समाज में उसकी प्रतिष्ठा और सम्मान के संबंध में अच्छा प्रकाश डालते हैं। जैन श्रमण सदैव इसी प्रकार समाज तथा राजकुल में प्रतिष्ठा प्राप्त करता रहा है।

अथर्ववेद में मागधों का ब्राह्म्यों के साथ निवृत्त संबंध बताया गया है; अतः ब्राह्म्यों को मागधवासी माना जाता है। वैदिक साहित्य के उल्लेखों के अनुसार ब्राह्म्य लोग न तो ब्राह्मणों के क्रियाकाण्ड को मानते थे और न खेती तथा व्यापार करते थे। अतः वे ब्राह्मण थे और न वैश्य, किन्तु योद्धा थे—घनुष बाण रखते थे।

मनुस्मृति (अ. १०) में लिच्छवियों को ब्राह्म्य बतलाया गया है। लिच्छवि क्षत्रिय थे और मागधदेश के निकट बसते थे। भगवान् महावीर की माता लिच्छवि गणतन्त्र के प्रमुख जैन राजा चेटक की पुत्री थी।^{११}

इस प्रकार, ब्राह्म्यों को मागध का वासी और लिच्छवियों को ब्राह्म्य बनाने में ब्राह्म्य लोग क्षत्रिय तथा जैनो के पूर्वज प्रतीत होते हैं।^{१२}

अथर्ववेद (१५।१८।१५) में ब्राह्म्य की एक बहुत महत्वपूर्ण विशेषता का वर्णन है—‘ग्रहन्ता प्रत्यङ् ब्राह्म्यो रात्र्या प्राहुनमो ब्राह्म्याय’; अर्थात् दिन में पश्चिमाभिमुख तथा रात्रि में पूर्वाभिमुख ब्राह्म्य को नमस्कार है। पश्चिम दिशा सुषुप्ति (शयन) तथा पूर्व दिशा जागरण का प्रतीक समझना चाहिए; अतः उक्त मन्त्र का अर्थ हुआ दिन में सोने तथा रात्रि में जागने वाले ब्राह्म्य को नमस्कार है।

इस भगवद्गीता के ‘या निशा सर्वभूतानाम्’ (२.६६) आदि श्लोक तथा आचार्य पूज्यपाद के समाधि-शतक (७८) के—

‘व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।

जागति व्यवहारिस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥’

इस श्लोक पर ध्यान से विचार करें तो उक्त मन्त्र का रहस्य बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—अर्थात् उस ब्राह्म्य को नमस्कार है जो संसार सरणी विषय-वासनाओं से विमुख एवं आत्मचिन्तन में सतत लग्न रहता है।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ काशीप्रसाद जायसवाल ने ‘माडर्न रिव्यू’ (१६२६, पृ. ४६६) में लिखा था : ‘लिच्छवि पाटलिपुत्र के ‘अपोजिट’ मुजफ्फरपुर जिले में राज्य करते थे। वे ब्राह्म्य अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतन्त्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजा-स्थान थे, उनकी अवैदिक पूजा-विधि थी और उनके अपने धार्मिक गुरु थे। वे जैनधर्म और बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह बात संभव प्रतीत होती है कि वैदिक ‘ब्राह्म्य’ उस संस्कृति का पूर्वज या पूर्वपुरुषों का समुदाय था जिसका आदिदेव ऋषभ था और जो सभ्यता वैदिक काल से भी पूर्व भारत में विस्तृत थी। □ □

अनेकान्त

का

आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार स्मृति विशेषांक

वीर सेवा मन्दिर के अविष्ठाता एवं अनेकान्त के संस्थापक, प्राच्यविद्यामहार्णव आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार की प्रथम जन्म शती के पुनीत अवसर पर उनकी पावन स्मृति एवं जैन संस्कृति की उनकी चिरस्थायी अमूल्य सेवाओं के पुण्य स्मरण स्वरूप, अनेकान्त के आगामी दो अकों (वर्ष ३०, किरण ३ और ४) को सम्मिलित करके आचार्य श्री जुगलकिशोर मुख्तार स्मृति विशेषांक निकाला जा रहा है। अवसरानुकूल आकार-प्रकार के इस विशेषांक में स्व० आचार्य श्री के व्यक्तित्व और कृतित्व के विविध सन्दर्भों के अतिरिक्त जैन संस्कृति, इतिहास, पुरातत्त्व आदि के विविध पक्षों विषयों और सम्बद्ध विषयों के अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखित प्रामाणिक शोधपूर्ण सामग्री होगी।

सभी यशस्वी विद्वानों, समाज-सेवियों, शोधकर्ताओं एवं अनुमन्धित्वमुओं तथा सुविज्ञ पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि उनके पास मुख्तार श्री के जीवन एवं कृतित्व से सम्बन्धित जो भी महत्वपूर्ण सामग्री, सम्मरणादि हो, उन्हें शीघ्र ही भेजने की कृपा करें, इस पुनीत कार्य में योगदान करें।

— गोकुलप्रसाद जैन, सम्पादक

११. ‘जयचन्द्र विद्यालकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा’ पृ. ३४६ का पाद-टिप्पण।

१२. ‘जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका; पृ. ११४।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

- पुरातन जैनवाक्य-सूची** : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों के उद्धृत दूसरे पक्षों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीय उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००
- प्राप्तपरीक्षा** : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ६-००
- स्वयम्भू स्तोत्र** : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। ... २-००
- स्तुतिविद्या** : स्वामी समन्तभद्र की अमोखी कृति, पापों के जातने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०
- ध्यात्मकमलमार्तण्ड** : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित। १-५०
- पुस्त्यनुशासन** : तत्त्वज्ञान में परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १-२५
- शमीजीन धर्मशास्त्र** : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १** : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ... ४-००
- समाधितन्त्र और इष्टोपदेश** : अध्यात्मकृति, पं० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००
- अथर्वबेलगोल और दक्षिण के ग्रन्थ जैन तीर्थ** : श्री राजकृष्ण जैन ... १-२५
- अध्यात्मरहस्य** : पं. आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तार श्री के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००
- जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २** : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। इकायन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००
- ग्याय-दीपिका** : प्रा. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००
- जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश** : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द। ५-००
- कसापपाहुबसुत** : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूणिपूष लिखे। सम्पादक श्री हीरासामजी सिद्धान्त शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े सम्पन्न के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। ... २०-००
- Reality** : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी पं० अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द ६-००
- जैन निबन्ध-रत्नावली** : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया ५-००
- ध्यानशतक (ध्यानस्तव सङ्ग्रह)** : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री १२-००
- आवक धर्म संहिता** : श्री वरदाससिंह सोधिया ५-८०
- जैन संक्षेपावली (तीन भागों में)** : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग २५-००
- Jain Bibliography (Universal Encyclopedia of Jain References) (Pages 250c) (Under print)**

त्रैमासिक शोध-पत्रिका

अनेफान्त

आचार्य श्री 'युगवीर' जन्म-शताब्दी अंक

सम्पादन-मण्डल

डा० ज्योतिप्रसाद जैन

डा० प्रेमसागर जैन

श्री गोकुलप्रसाद जैन

*

सम्पादक

श्री गोकुलप्रसाद जैन

एम. ए., एल. एल. बी.,

माहिपरम्परा

*

खण्ड ३० : किरण ३-४

नवम्बर-दिसम्बर, १९७७

*

वार्षिक मूल्य ६) रुपये

इस किरण का मूल्य :

५) रुपये



आचार्य श्री जुगलकिशोर मुखर्जी 'युगवीर'
(भा० दि० जैन विद्वद् परिषद् द्वारा अभिनन्दन के अवसर पर)

विषयानुक्रमिका

क्र०	विषय	पृ०	क्र०	विषय	पृ०
	प्रारम्भिका				
१.	सम्पादकीय—डा० ज्योतिप्रसाद जैन	१	१९.	श्रावस्ती का जैन राजा सुहलदेव —श्री गणेशप्रसाद जैन	४६
२.	चउवीस तित्थयर भक्ति : (चौबीस तीर्थकरों की भक्ति)—आचार्य कुन्दकुन्द	३	२०.	राजस्थान में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाएँ —डा० शिवकुमार नामदेव	५१
	आचार्य श्री 'युगवीर' : जीवन और कृतित्व		२१.	हेमचन्द्राचार्य की साहित्य साधना —डा० मोहनलाल मेहता	५४
३.	असाधारण प्रतिभा के धनी —श्री सुमेरचन्द्र जैन, नई दिल्ली	४	२२.	क्या 'रूपकमाला' नामक रचनाएं अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी है ?—श्री ए० सी० नाहटा	५६
४.	सरसावा के सन्त तुम्हे शत शत वन्दन —श्री कुन्दनलाल जैन, दिल्ली	७	२३.	वाचक कुशललाभ के प्रेमाख्यानक काव्य —डा० मनमोहन स्वरूप माथुर	५८
५.	युगसृष्टा की साहित्य-साधना —श्रीमती जयवन्ती देवी, दिल्ली	१०	२४.	जैनदर्शन की अनुपम देन : अनेकान्त दृष्टि —श्री श्रीनिवास शास्त्री, कुरुक्षेत्र	६१
६.	मेरी भावना—स्व० आ० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'	१२	२५.	जैन कला : उद्गम और आत्मा —डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ	६५
७.	सरल स्वभावी महान आराधक —श्री रमाकान्त जैन, लखनऊ	१४	२६.	प्रशमरतिप्रकरण-कार तत्त्वार्थ सूत्र तथा भाष्य के कर्ता से भिन्न—डा० कुसुम पटोरिया	६६
८.	अनुसन्धान के आलोक स्तम्भ —डा० प्रेमसुमन जैन	१६	२७.	भगवान महावीर के उपासक राजा —मुनि श्री महेन्द्रकुमार (प्रथम)	७५
९.	जैन समाज के भीष्म पितामह —श्री देवेन्द्रकुमार जैन	१८	२८.	पार्श्वनाथ चरित में राजनीति और शासन व्यवस्था—श्री जयकुमार जैन	७८
१०.	साहित्य तपस्वी की अमर साधना —श्री अग्रचन्द्र नाहटा	२०	२९.	भगवान महावीर जी प्रजानाम्नित्रक दृष्टि — डा० निजामुद्दीन	८१
११.	मुख्तार श्री और समीचीन धर्मशास्त्र —श्री सी० एल० सिधई 'पुरन्दर'	२२	३०.	जैन कला विषयक साहित्य —डा० जे० पी० जैन	८४
१२.	मुख्तार श्री की बहुमुखी प्रतिभा —प० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	२६	३१.	मेघविजय के समस्यापूर्ति काव्य —श्री श्रियांसकुमार जैन	८७
१३.	मुख्तार श्री : व्यक्तित्व और कृतित्व —श्री परमानन्द जैन शास्त्री, दिल्ली	३१	३२.	जैन ध्वज : स्वरूप और परम्परा —प० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली	९०
१४.	युगसृष्टा की साहित्य साधना —श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली जैन शोध और समीक्षा	३६	३३.	तीर्थकरों की प्राचीन रत्नमयी प्रतिमाएँ : विविध सन्दर्भ—श्री दिगम्बरदास जैन	९६
१५.	नेमिद्रुत काव्य के पूर्ववर्ती संस्करण —श्री अग्रचन्द्र नाहटा	४१	३४.	नोहर जैन देवालय की आदिनाथ प्रतिमा —श्री देवेन्द्र हाण्डा, सरदार गहर	९८
१६.	जैन साहित्य और जिल्प में रामकथा —श्री मारुतिनन्दन तिवारी	४३	३५.	वस्तु क्या है ?—श्री बाबूलाल जैन	१०१
१७.	जैन कर्मसिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन —डा० राममूर्ति त्रिपाठी	४५	३६.	धर्मचक्र—डा० गोपीलाल अमर	१०४
१८.	सोलंकी काल के जैन मन्दिरों में जनेतर चित्रण —डा० हरिहर सिंह	४७	३७.	वृषभ आह्वान—अथर्ववेद	६
			३८.	ऋषभ वन्दना—ऋग्वेद	२५
			३९.	ग्रन्थ समीक्षा—श्री गोकुलप्रसाद जैन आवरण पृ. ३	
			४०.	श्रमण (जैन) के पर्यायवाची शब्द आवरण पृ. ३	

अनेकान्त में प्रकाशित बिचारों के लिए सम्पादन-मण्डल उत्तरदायी नहीं है । — सम्पादक

सम्पादकौय

प्राच्य-विद्या-महार्णव, सिदान्ताचार्य एवं सम्पादका-
चार्य स्व० पं० जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर' को
दिबंगत हुए गत २२ दिसम्बर १९७७ को ६ वर्ष हो गये
और दसवां प्रारम्भ हो गया। साथ ही उसके दो दिन पूर्व
मार्गशीर्ष शुक्ल १०, दि० २० दिसम्बर, १९७७ को उनकी
जन्म शताब्दी पूरी हुई थी।

वर्तमान शती के प्रारम्भ से लगभग ७० वर्ष पर्यन्त
श्रद्धेय मुख्तार साहब ने जैन साहित्य, साहित्य और समाज
की तन-मन-धन से एकनिष्ठ सेवा की थी। अपने इस
सुदीर्घ कार्यकाल में उन्होंने समाज की अनवरत मद्द्ती
सेवा की और विपुल साहित्य का सृजन किया। उनका
साधना क्षेत्र पर्याप्त विशाल एवं विविध रहा।

समन्तभद्राश्रम तथा वीर सेवा मन्दिर जैसी संस्थाओं
की प्रारम्भ से प्रायः अपने ही एकाकी बलबूते पर
उन्होंने स्थापना की और जैन गजट, जैन हितैषी एवं
अनेकान्त जैसी पत्र-पत्रिकाओं का उत्तम सम्पादन किया।
अनेकान्त तो स्वयं उनकी ही पत्रिका थी जिसने उनके
सम्पादकत्व में जैन पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रायः सर्वोच्च
मान स्थापित किया। मुख्तार साहब ने अनेक शास्त्र-
भडारों में से खोज-खोज कर कितने ही महत्वपूर्ण प्राचीन
ग्रंथों का उनकी जीर्ण शीर्ण पांडुलिपियों पर से उद्धार
किया, संशोधन किया और उनमें से कई को सुसम्पादित
करके प्रकाशित किया। पुरातन जैन-वाक्यसूची, जैनग्रन्थ-
प्रशस्ति संग्रह, जैन लक्षणावली जैसे अतीव उपयोगी
सदर्भ ग्रन्थ तैयार किये और कराये। कई ग्रंथों के अद्वि-
तीय अनुवाद भाष्य आदि रचे और ग्रंथों की
विद्वत्सापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी। अनेक
तथाकथित प्राचीन ग्रंथों के सामिक परीक्षण लिख
कर और प्रकाशित करके उनकी पोल खोली। कई ग्रन्थ
लेखकों की नवप्रकाशित कृतियों की गंभीर एवं विस्तृत
समालोचनाएँ कीं। उनके अधिक उपयोगी लेख-निबन्धों
में से लगभग डेढ़ सौ तीन सग्रहों में प्रकाशित हो चुके हैं।
मुख्तार साहब ने हिन्दी एवं संस्कृत, दोनों ही भाषाओं में

उच्च कोटि की कविता भी की। उनकी "मेरी भावना"
तो अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। अपने अन्तिम समय में भी
वह हेमचन्द्रीय योगशास्त्र की एक विरल दिगम्बर टीका,
अमितगति के योगसार प्राभूत के स्वोपज्ञ भाष्य तथा
कल्याणकल्पद्रुम स्तोत्र पर मनोयोग से कार्य करते रहे—
६० वर्ष की आयु में।

जिस विषय पर और साहित्य के जिस क्षेत्र में भी
मुख्तार साहब ने कदम उठाया, बड़ा ठोस कदम उठाया।
जैन जगत में साहित्येतिहासिक अनुसंधान में वे अपने
समय में प्रायः सर्वाग्र ही रहे और नए विद्वानों का मार्ग
दर्शन किया। पत्र-सम्पादन कला में तो उनके स्तर को
शायद कोई अन्य जैन अभी तक पहुंच ही नहीं सका है,
और पुस्तक समीक्षा तो वैसी कोई करता नहीं। अपने
समय में समाज में उठने और चलने वाले प्रायः सभी
सुधारवादी या प्रगतिगामी आन्दोलनों में उनका प्रत्यक्ष
या परोक्ष योग रहा। कुरीतियों और भ्रान्त धारणाओं के
वे निर्भीक अलोचक थे। श्रीमत हो या पंडित, मुनि हो
या गृहस्थ, किसी के विषय में भी खरी बात कहने में
वे नहीं चूकते थे।

मुख्तार साहब स्वामी समन्तभद्र के अनन्य भक्त एवं
अध्येता थे। स्वामी के हृदय को जितना और जैसा
उन्होंने समझा वैसा शायद आधुनिक युग के विद्वानों में
से अन्य किसी ने नहीं समझा। अपने अन्तिम वर्षों में
६०-६१ वर्ष का वह वृद्ध साधक एक अद्वितीय समन्तभद्र
स्मारक की स्थापना का तथा 'समन्तभद्र' नामक प्रकाश
मान पत्र द्वारा आचार्यप्रवर समन्तभद्र के विचारों का
प्रचार-प्रसार देश-विदेश में करने का स्वप्न देखता रहा—
उसका वह स्वप्न चरितार्थ न हो सका।

अपनी जन्मभूमि सरसावा में मुख्तार साहब ने एक
विशाल वीर सेवा मंदिर भवन का निर्माण कराया था।
उनके द्वारा संस्थापित 'वीर सेवा मंदिर' संस्था दरियागंज,
दिल्ली में अपने निजी चौमजने भवन में चल रही है।
उनका 'अनेकान्त' भी वहीं से त्रैमासिक के रूप में प्रका-

शित होता है। मरते समय अपनी शेष निजी सम्पत्ति का भी मुख्तार साहब एक ट्रस्ट - बीर-सेवा-मदिर-ट्रस्ट बना गये थे। उससे भी गत ८-१० वर्षों में कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

महान् आश्चर्य और खेद का विषय तो यह है कि उस सुदीर्घकालीन साहित्यिक तपस्वी और अनवरत समाज सेवा की हम इतनी जल्दी भूल गए। उनके द्वारा स्थापित तथा उनके नाम से सम्बद्ध एक सुसमृद्ध मस्था, एक सुसम्पन्न ट्रस्ट और एक सतत उद्बुद्ध शोध-पत्रिका भी विद्यमान है, जो उनकी जीवनव्यापी माधना के उज्ज्वल प्रतीक एवं सच्चे स्मारक है जिनके कारण समाज उनकी विरासत गृहेगा। इस वर्ष हम उनकी जन्म शताब्दी मना रहे हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि इतने अल्प समय में ही समाज ने उन्हें विस्मृत कर दिया है। उनके उ प्रायः समकालीनो या सहयोगियों में से प० पन्नालाल याकलीवाल, वा० सूरजभान वकीन, कुमार देवेन्द्र प्रसाद, बैरिस्टर जगमन्दरलाल जेठी, बैरिस्टर चम्पतराय, प० नाथूराम प्रेमी, ब्र० शीतलप्रसाद प्रभूति प्रायः सभी जैन जागरण के अग्रनेताओं को हम भुला चुके हैं। इन महानुभावों ने समाज की महती सेवाएं की थीं। कई एक के तो निजकी सम्पत्ति से स्थापित ट्रस्ट भी हैं। इन उपकर्त्ताओं

के उपकार को विस्मृत कर देना समाज की कृतघ्नता की परिचायक कहा जाय तो क्या अनुचित है? इस उपेक्षा का एक परिणाम तो यह होता है कि हमारी वर्तमान तथा भावी पीढ़ियां अपने निकट अतीत के इतिहास से भी अनभिज्ञ रह जाती हैं। दूसरे, वे उन यशस्वी पूर्व-पुरुषों के कार्यकलापों से उपयुक्त प्रेरणा एवं मार्गदर्शन प्राप्त करने से भी वंचित रह जाती हैं।

स्व० आचार्य प० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' की जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में समाज पर उनका जो ऋण है उगका स्मरण करते हुए उनके प्रति हम विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

कुछ समय पूर्व 'अनेकान्त' परिवार ने यह निर्णय लिया था कि इस अवसर पर अनेकान्त का एक उपयुक्त विशेषांक अध्येय मुख्तार साहब की स्मृति में निकाला जाय। वास्तव्य अनिवार्य कारणों से इस समयोचित कार्य में कुछ विग्रह हो गया जिसका हमें खेद है। प्रसन्नता की बात है कि उनके प्रति आशिक कृतज्ञताज्ञापन-स्वरूप हम यह "श्री 'युगवीर' जन्म शताब्दी अंक" प्रस्तुत कर रहे हैं।

— ज्योतिप्रसाद जैन

अनेकान्त

का

साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक

जून, १९७८ में प्रकाश्य, 'अनेकान्त' का आगामी अंक 'साहू शान्तिप्रसाद जैन स्मृति-अंक' होगा। दो खण्डों में विभक्त, इस अंक के प्रथम खण्ड में 'साहू जी' के गौरवशाली व्यक्तित्व के विविध पक्षों एवं उनके परमार्थमय जीवन और अन्य कल्याण-कार्यों विषयक लेखादि तथा द्वितीय खण्ड में जन साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास पर मौलिक गवेषणापूर्ण सामग्री सम्मिलित होगी।

'अनेकान्त' के वर्ष ३१ की किरणें १ और २ इसी अंक में समाहित होंगी।

सभी सम्मान्य विद्वानों, मनीषियों, लेखकों एवं सुविज्ञ पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि इस अंक के लिए कृपया शीघ्रातिशीघ्र अपने लेख, सस्मरण, पत्र, चित्र आदि भेज कर अनुगृहीत करें।

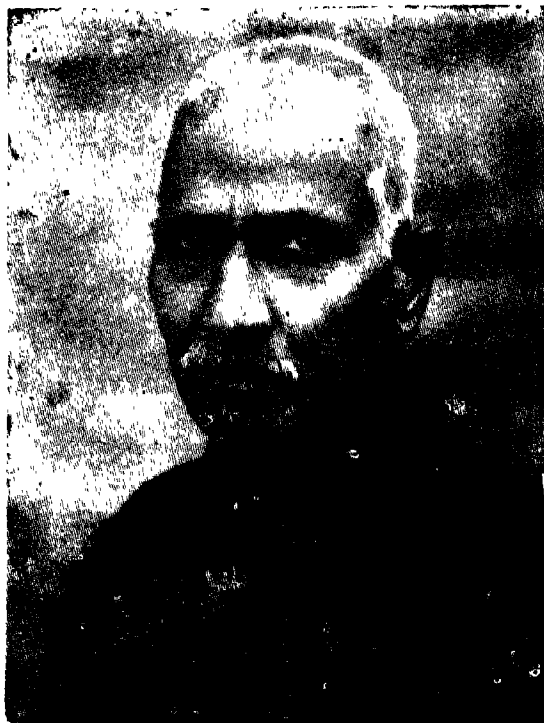
--गोकुल प्रसाद जैन, सम्पादक



आचार्य श्री जुगलकिशोर मुस्तार 'युगवीर'
(जन्म २० दिसम्बर, १८७७ : मृत्यु २२ दिसम्बर, १९६८)



श्री बोर सेवा मन्दिर, दिल्ली का शिलान्यास समारोह (१७ जुलाई, १९५४) ।
(समाज-शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद जी भाषण कर रहे हैं।)



आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
(५ दिसम्बर, १९४३ को सहारनपुर में सम्मान समारोह के समय लिया गया चित्र)



दक्षिण भारत की तीर्थ यात्रा के लिए प्रस्थान करते समय का चित्र

श्रीम् अर्हम्

अनेकान्त

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

वर्ष ३०
किरण ३-४

बीर-सेवा-मन्दिर, २१ दरियागंज, नई दिल्ली-२
बीर-निर्वाण सवन् २५०३, वि० सं० २०३३

{ जुलाई-दिसम्बर
१९७७

चउवीस-तित्थयर-भक्ति

(चौबीस तीर्थकरों की भक्ति)

त्थोस्सामि हं जिणवरे, तित्थयरे केवली अणंतजिणे ।
जरपवरलोयमहिण, विहुरयमले महप्पणे ॥१॥
लोयस्सुज्जोययरे, धम्मं तित्थंकरे जिणे वंदे ।
अरहंते कित्तिस्से चउवीसं चैव केवलिणे ॥२॥
उसहमजियं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥३॥
सुविहिं च पुप्फयंतं, सीयल सेयं वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं भयवं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥४॥
कुंभं च जिणवरिदं, अरं च मल्लिं च सुव्ययं च णमि ।
वंदामि रिट्ठनेमि, तह पागं वड्डमाणं च ॥५॥
एवं मए अभिभूया, विहुरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा तित्थयरा मे पसीयंतु ॥६॥
कित्थिय वंदिय महिया, ए ए लोगोत्तमा जिणा सिद्धा ।
आरोग्गणाणलाहं, दितु समाहिं च मे बोहिं ॥७॥
चंदेहिं णिम्मलयरा, आइच्चोहिं अहियपहा संता ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥८॥ —पाचार्य कुन्दकुन्द

अर्थ—मैं जिनवर, तीर्थकर, केवली और अनन्त जिनकी स्तुति करता हूँ, जो लोक के नरवरों से पूजित, मलरहित और माहात्म्य से युक्त हैं ॥१॥ लोकको प्रकाशित करने वाले तथा धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले जिन देव की वन्दना करता हूँ । अर्हन्त तथा चौबीसों तीर्थकरों का कीर्तन करता हूँ ॥२॥ मैं ऋषभ और अजितनाथ की वन्दना करता हूँ, सम्भव, अभिनन्दन और सुमतिनाथ की वन्दना करता हूँ, पद्मप्रभ, सुपाश्वनाथ और चन्द्रप्रभनाथ की वन्दना करता हूँ ॥३॥ सुविधिनाथ (पुष्पदन्त), शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ और शान्तिनाथ की वन्दना करता हूँ ॥४॥ जिनवर श्री कुन्धुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिबुव्रतनाथ, नमिनाथ, अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्वनाथ और वर्द्धमान (महावीर) की वन्दना करता हूँ ॥५॥ इस प्रकार मेरे द्वारा स्तुति किये गये, कर्म-मल-रजसे रहित, बुढ़ापा तथा मरण से रहित जिनवर, चौबीस तीर्थकर मुझपर प्रसन्न हों ॥६॥ जो जो लोकोत्तम जिन, सिद्ध कीर्तन किए गये, वन्दित और पूजित हैं, वे मुझे आरोग्य, ज्ञान, समाधि और बोधि प्रदान करें ॥७॥ चन्द्रसे भी अधिक निर्मल और सूर्य से भी अधिक प्रभावान् तथा सागर के समान गम्भीर सिद्ध मुझे सिद्धि प्रदान करें ॥८॥

असाधारण प्रतिभा के धनी

□ श्री सुमेरचन्द्र जैन, एम० ए०, नई दिल्ली

जैनधर्म और जैन संस्कृति के प्रचार का कार्य उन्हीं मेधावी पुरुषों ने किया है जिनकी आत्मा में अहिंसात्मक भावनाओं को फैलाने और लोक कल्याण की तीव्र आकांक्षा जन्मजात विद्यमान है। प्राचीनकाल में अनेक लोकोत्तर ऋषि पुण्ड्रव हुए जिन्होंने अपना जीवन आत्म कल्याण और जन साधारण के हित के लिए अर्पित कर दिया। जैन आचार्यों, मुनियों, उपाध्यायों और विद्वानों ने जो अमृतमयी साहित्य का निर्माण किया, उसका प्रमुख उद्देश्य आत्मदर्शन और आत्म वैभव को प्राप्त करना था।

त्याग, वीरता, लोक हित और सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति बनी रहे, यही कल्याणकारी लक्ष्य रहा। फलस्वरूप इतने विशाल साहित्य का निर्माण हुआ जिसको हम भली प्रकार सुरक्षित भी नहीं रख सके। उन गौरवशाली मुनियों, कवियों और दिग्गज लेखकों के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त न कर सके और उनकी अमूल्य निधियों से अपरिचित रहे।

साथ ही, कुछ ऐसे व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने हमारे दैदीप्यमान रत्नों में काँच की तरह चमकते हुए टुकड़ों को उस साहित्य में मिला दिया जिससे उसके सौन्दर्य में विकार आ गया। जन साधारण श्रद्धा के वश उस साहित्य की परीक्षा न कर सका। जब नए युग का प्रादुर्भाव हुआ तो विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने विचार किया कि हमारे यहां परीक्षा-प्रधानी और आज्ञाप्रधानी दोनों में परीक्षा-प्रधानी को अधिक महत्व दिया है। क्यों न हम उस साहित्य का मूल्यांकन करें जो हमारे साहित्य को मलिन कर रहा है। उसे दूर कर भ० महावीर की दिव्य देशना का प्रचार अभिनव रूप से नवीन शैली से किया जाय।

ऐसे ही कुशल आलोचकों, लेखकों और कवियों की वृत्ति में एक तेजस्वी असाधारण प्रतिभा-संपन्न नर-रत्न का ऐसी जगह उदय हुआ जिसकी सभावना बहुत कम थी। परन्तु प्रवाह बहते देर नहीं लगती। एक दिन देव-बन्द के कानूनगो मोहल्ले में बैठे हुए चार व्यक्ति चर्चा कर रहे थे। कचहरी के काम में सचाई नहीं भूठ, बोलना पड़ता है।

सबसे पहलें श्रीमूरजभानु वकील बोले : मेरा मन तो इस कार्य से ऊब गया है। मुझे जैनधर्म पर किए गए आरोपों का मुहतोड़ उत्तर देने में आनन्द आता है। श्री जगल किशोर मुख्तार जो वही उन्हीं की देख-रेख में कार्य करते थे वकील सा. की बात का समर्थन करते हुए कहने लगे : जैनधर्म के प्रचार की बड़ी आवश्यकता है। हमें अपना जीवन इस प्रकार के वातावरण से निकालकर, जिसमें आत्मा की आवाज का हनन होता हो, उसे छोड़कर निर्द्वन्द्व रीति से धर्म प्रचार के कार्य में लग जाना चाहिए। मेरे ऊपर आपका बड़ा प्रभाव है। इधर जब तक आपके नाम की आवाज नहीं आती है तब तक आप कचहरी में ही बैठें जैनधर्म पर होने वाले आक्षेपों का उत्तर लिखने में सलग्न रहते हैं। उधर आवाज पड़ी कि उस मुकद्दमे की पैरवी में खड़े होकर बहस करने लगे। आपकी व्युत्पन्न बुद्धि और तत्काल उत्तर देने की क्षमता अपूर्व है। मेरा मन भी अब इस प्रकार के कार्यों की ओर से शिथिल हो गया है।

श्री इशकलाल पटवारी को जो आर्यसमाजी थे, जैनधर्म के तत्त्वों की ओर आकर्षण था। वे उसके रसिक थे। कहने लगे : पटवारीगिरी के कार्य में सही ढंग से सचाई अपना कार्य नहीं कर पाती। उनमें भी अपने कार्य से विरक्ति का भाव पैदा हो गया। चौथे जैन प्रदीप (उद्गूँ

मासिक पत्र) के सम्पादक श्री ज्योतिप्रसाद जी है जो गुरुकुल पंचकूला के संस्थापक के यहां ग्राम कारिदा थे। उनका मन भी इस प्रकार के कार्यों से झकझोर उठा। जिस व्यापार से सत्य का सौन्दर्य मलिन हो जाता है और असत्य बुद्धि का चमत्कार दिखाकर अपना प्रभाव दूसरों पर डाल देना चाहता है, उस मार्ग की ओर कब तक चलेंगे ?

कौन जानता था कि उस दिन की बैठे-बिठाए चारों मित्रों की बातचीत उनकी दिशा ही बदल देगी। फल-स्वरूप चारों ने एक-साथ अपने-अपने कार्यों से छुट्टी ले ली। तीन तो हमारे समाज के थे और तीनों ने अपने अपने ढंग से जैनधर्म और जैन संस्कृति की महत्वपूर्ण सेवा की।

देववन्द (सहारनपुर) उनके प्रचार का केन्द्र बना। श्री जैनीलाल जी के प्रयत्न से छापे के ग्रंथ छपने लगे और सुविधानुसार सरलतापूर्वक लोगों को मिलने लगे।

मुख्तार सा० ने अब अपना कार्यक्षेत्र देववन्द से हटा कर सरसावा बनाया। अपनी एक लाख की सम्पत्ति का जो स्वयं निज पुरुषार्थ से संचित की थी, उपयोग अर्थात् अपना सर्वस्व दान वीर सेवा मंदिर की स्थापना में लगा दिया।

ग्रांड ट्रंक रोड के समीप भव्य भवन की बिल्डिंग का निर्माण कराया, जहां प्रतिवर्ष विद्वानों को बुलाकर वीर शासन के उत्कर्ष के लिए मंत्रणा की जाती। विद्वानों को आने-जाने का मार्गव्यय प्रदान करना और उत्तम रीति से सभी को सम्मानित करने की भावना वहां पर विद्यमान थी।

उस स्थान को कतिपय सहयोगियों और समाज के नेताओं ने प्रचार जैसे महान कार्य के लिए छोटा समझा। जैन समाज के मूर्धन्य अनभिषिक्त नेता साहू शांतिप्रसाद जी और प्रसिद्ध इतिहासज्ञ एवं जैन संस्कृति के मूर्तिमान रूप बाबू छोटेलाजी कलकत्ते वालों के प्रयत्न से दिल्ली में विशाल भवन बनकर तैयार हो गया जहां से प्रकाशित होने वाला साहित्य और अन्वेषण

सम्बन्धी स्थायी कार्य सदैव मुख्तार सा० की कीर्ति को अक्षुण्ण बनाए रखेगा।

परन्तु खेद है कि ऐसी रमणीक साहित्य वाटिका और साहित्य सृजन के उद्गम की धारा को देखकर भी मुख्तार सा० को हादिक आनन्द नहीं आया, क्योंकि वह संस्था राजनैतिक दांव-पेच की तरह नेतागिरी के चक्कर में फंस गई। मुख्तार सा० दिल्ली से दूर हमारे जिले एटा में अपने भतीजे के पास रहकर तपस्वियों की तरह अस्मी वर्ष की वृद्धावस्था में भी साहित्य सृजन के कार्य में दत्तचित्त रहे।

मुख्तार सा० के द्वारा जितना साहित्य निर्माण कार्य हुआ उसका हम सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। उनकी प्रतिभा आलोचक, कवि, समाज-सुधारक, सुलेखक और नवीन लेखकों का निर्माण करने वाले कुशल शिक्षक के रूप में प्रस्फुटित हुई।

विधिवत् संस्कृत का शिक्षण प्राप्त न करने पर भी सकल तार्किक, चक्रचूड़ामणि, आचार्य समन्तभद्र स्वामी के ग्रंथों का रहस्य सरल और सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपने ग्रंथों में एकान्तवाद का खंडन करके अनेकान्तवाद का मंडन किया है; न्याय और सिद्धान्त सम्बन्धी विषय का युक्ति और तर्क सम्पन्न शैली में प्रतिपादन किया है। ऐसे थुरंवर और दिग्गज आचार्य क रचनाओं को सर्व साधारण के लिए मूल्य बना दिया और दिव्य संदेशों को जनता जनार्दन तक पहुंचा दिया वे उनके अनन्य भक्त थे। समन्तभद्र भारती व्याख्याता के रूप में मुख्तार सा० सदैव स्मरणीय बने रहेंगे।

प्रबल तार्किक होने के कारण उन्होंने उन विषयों पर चोट की जो भट्टारक कालीन समय में, कतिपय व्यक्तियों के द्वारा अनार्ष परम्परा का अनुकरण करने के कारण हमारे यहां विकार का कारण बने। मुख्तार सा० के पदचिह्नों पर कई विद्वान चले और उन्होंने उन विषयों की अच्छी समीक्षा की जिनका उत्तम सुफल निकला।

जब हम उन्हें कवि के रूप में देखते हैं तो उन्हें केवल

कल्पना की उड़ान उड़ाते हुए न पाकर, जीवन में उतारने वाली जनता के कंठस्थ रहने वाली उत्तम रचनाएं करने वाला पाते हैं।

उनकी लोकप्रिय रचना 'मेरी भावना' कैसे रची गई, यह विचारणीय है। एक दिन उनकी विदुषी बहिन ने कहा कि आप तो संस्कृत में सामायिक पाठ, स्तोत्र आदि पढ़ते हैं। हम हिन्दी में उन्हें कैसे पढ़ें। उन्होंने बात को समझा और ग्यारह पद्यों में इतनी रोचक, सुललित, प्रसाद-गुण-युक्त रचना की जिसका सभी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। उसकी लाखों प्रतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी 'मेरी भावना' ने घर-घरमें बच्चों को प्रार्थना करने के लिए प्रोत्साहन दिया।

वे कुशल अन्वेषक और सुलेखक थे। उनके दृष्टी गुणों से प्रभावित होकर आज से तीस वर्ष पूर्व हमने एक रात्रि लिखकर उन्हें अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट करने के लिए गयाज का ध्यान आकषिप्त किया। हर्ष है कि लाला राजेन्द्र कुमार जी की, जो विद्वानों के महान प्रेमी थे, अध्यक्षा में सहारनपुर में मुस्तार सा० की प्रथम भेंट किया गया।

मुस्तार सा० कलम के धनी और जैन वाङ्मय के यशस्वी प्रस्तोता थे। छोटे से लेख में हम उनकी साहित्य मर्मज्ञता और विषय के अधिकारी रूप का सर्वाङ्गपूर्ण दिग्दर्शन नहीं कर सकते, पर एक बात अवश्य कहेंगे कि उन्होंने सरस्वती की निस्पृहभाव से सेवा ही नहीं की बल्कि

अनेकों उदीयमान विद्वान् युवकों को कुशल पर्यवेक्षक और समीक्षा करने वाले आचार्य जैसे पद के योग्य बना दिया।

उनकी पैनी सूझ, अनवरत लगन, जिन शासन की भक्ति, जैनधर्म प्रचार की अद्भुत कामना, विषय का तल स्पर्शी ज्ञान और चुने हुए मोतियों को छांट छांटकर निकालनेकी प्रवृत्ति ने उन्हें प्राचीन ऋषियों और विद्वानों की परम्परा में सलग्न कर दिया, जिन्होंने अपनी भक्ति और कार्य करने की अद्भुत क्षमता के कारण वीर शासन की सहस्रगुणी वृद्धि की है।

हम आकांक्षा करते थे कि ऐसे साहित्य मनस्वी, त्रैलोक्यमूर्ति सरस्वती के सच्चे साधक हमारी समाज में पैदा होते रहे जो राकाशशि की घबल चांदनी की तरह जिन शासन का सदैव उद्योत करते रहे। विश्व विजया अहिंसा और अनेकान्त इन दो मूल्यों की तरह उनका बीजारोपण किया हुआ 'अनेकान्त' सदैव फूलता और फलना रहे, जिसकी छाया में जन साधारण विश्राम, शांति और सुख का अनुभव करे और विद्वान् परिमार्जित मार्ग को प्रशस्त बनाते रहे। □□□

म० नं० २४७, एफ ब्लॉक,
पाडवनगर, पटपड़गंज,
नई दिल्ली

वृषभ-आह्वान

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममस्वारणाम्।

अपां नपातमस्विना हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्तभोजः ॥ अथर्ववेद १६।४२।४

सर्व पापों से सदा जो मुक्त,
देवताओं में सर्व शीर्षस्थ,
वन्दनीय, वृषभ है नाम जिनका,
आत्म साधकों में प्रथम हैं
और इस भवसिन्धु से
पीत जैसा तारना है काम जिनका,

मेरे सह बन्धुओ !
तुम आत्मबल और
तेज को धारण करो
मैं हृदय से आह्वान करता हूं
वृषभ का।
प्रस्तोता : श्री मिश्रीलाल जैन, गुना

सरसावा के संत तुम्हें शत-शत वन्दन

□ श्री कुन्दन लाल जैन, दिल्ली

१० जून सन् १९४६ की उस पुनीत संध्या का पुण्य-स्मरण मुझे आज भी रोमांचित कर देता है, जब कि मैंने सरसावा स्थिति वीर सेवा मंदिर के विशुद्ध विशाल प्रांगण में पग धरा था। उपर्युक्त भवन के विशाल द्वार के बंद फाटक की निडुरी से आना बिस्तर-पेटो निकाल कर जब यहाँ के सत बाबू जुगल किशोर जी मुख्तार के कमरे के सामने वाली सीढ़ियों पर रखा तो बाबू जी कमरे से निकलकर आए उनका सुन्दर सुगठित शरीर था। उन्होंने बदन में लनी वाली अंगरखी और धोती पहन रखी थी, नंगे सिर थे, पैरों में खड़ाऊ डाले थे। कमरे से बाहर आकर पूछा “कहाँ से आए हो?” “बीना से” मैंने रुखा-सा सक्षिप्त सा उत्तर दिया, क्योंकि थका हुआ था। जून मास का ११ या १२ वजे का समय था। भूख लग रही थी।

मुख्तार सा० तुरन्त ही कमरे के भीतर गए और चाबियों का गुच्छा ले आये और जो कमरा मुझे देना चाहते थे उसका ताला खोल दिया और स्नेह से कहा कि यह रहा आपका कमरा। इसमें अपना सामान रख लीजिए; और तुरन्त ही पं० परमानंदजी को आवाज देकर भोजन की व्यवस्था करा दी। बीना का नाम सुनते ही मुख्तार सा० मेरी नियुक्ति की बाबत सब कुछ जान गये थे, क्योंकि पं० दरबारीलाल जी कोठिया से उनका पत्र व्यवहार हो चुका था जिसमें मेरी नियुक्ति बाबत सब कुछ निश्चित हो गया था।

इस समय मैं संबंधी अनुभवहीन, अपरिपक्वबुद्धि का २० वर्षीय युवा छात्र ही था। इसी वर्ष स्याद्वाद विद्यालय छोड़ा था। सभ्रता, कार्यकुशलता, सेवाभाव आदि मानवीय गुणों की संबंधी कमी थी। केवल मेट्रिक और साहित्यशास्त्री पास था। फलतः मैं अपनी कार्यकुशलता से मुख्तार सा० जैसे कठोर परिश्रमी और सर्वश्रेष्ठ साहित्यान्वेषक को

सन्तुष्ट न कर सका और छः माह बाद मुझे वहाँ से चला आना पड़ा। उन दिनों डा० ज्योतिप्रसादजी, लखनऊ बहा थे। स्व० बा० जयभगवान जी, पानीपत प्रायः आते रहते थे। स्व० बा० छोटेलाल जी कलकत्ता वालों का इस संस्था पर वरद हस्त था। मुख्तार सा० और उनमें रिता-पुत्र का संबंध था। ला० सिद्धोमल जी कागजी मुख्तार सा० का बड़ा आदर करते थे।

आदरणीय मुख्तार सा० कितने अध्ययनशील, कठोर परिश्रमी, मितव्ययी और साहित्यसेवी थे, यह मैं उस समय तो अनुभव न कर सका था, पर जब मुझे साहित्य का चम्का लगा और उनके शोधपरक, युक्तियुक्त, धकाट्य साहित्यिक निबंधों का अध्ययन किया तो हृदय थड़ा से गदगद हो उठा। मुख्तार सा० १६ से १८ घंटे तक अध्ययन एवं लेखन कार्य किया करते थे। उनकी टेबिल सदा ही ग्रंथों से भरी रहती थी। मुख्तार सा० जल्द से ज्यादा मितव्ययी थे। फलतः उनके प्रकाशन कार्यों में प्रायः बाधा आ जाती थी। मुझे अच्छी तरह याद है कि उन दिनों कागज पर कंट्रोल था और अनेकान्त के प्रकाशन के लिए सरकार से कागज का कोटा मिला करता था। प्रायः शासकीय कारणों से कागज समय पर नहीं आ पाता था तो अनेकान्त की किरण लेट हो जाया करती थी और ग्राहकों के उत्सुकता भरे पत्र आने लगते थे, क्योंकि उन दिनों अनेकान्त की प्रतिष्ठा जैन जगत में ही नहीं अपितु जैनतर अनुसंधितसुश्रों में बहुत अधिक थी और वे लोग बड़ी उत्सुकता से प्रत्येक किरण की प्रतीक्षा किया करते थे।

मुख्तार सा० जैन पुरातत्व एवं संस्कृति के वैज्ञानिक सशोधक के रूप में युग-युगों तक साहित्यानुरागियों द्वारा बंदनीय रहेंगे। मुख्तार सा० यद्यपि दिगम्बर आम्नाय के कट्टर अनुयायी थे, पर उसमें जो कड़ा-करकट, अनुचितता

या प्रागम-विरुद्ध मान्यताएं होती थीं उनकी वे प्रबल युक्ति-पूर्ण प्रकाट्य तर्कों से ध्वजियां बिखेर दिया करते थे। उनके प्रमाण एवं तर्क इतने प्रबल और प्रकाट्य होते थे कि अच्छे-मछे विद्वानों के दांत खट्टे हो जाते थे। समाज का बड़े से बड़ा विद्वान भी उनकी युक्तियों का खंडन करने से कतराता था। भट्टारकीय परंपरा एवं उनकी विलासिता तथा प्रागम-विरुद्ध अनौचित्य का मुस्तार सा० ने जिस खूबी से भंडाफोड़ किया था, उससे रूढ़िवादी जैन समाज में बड़ा तहलका मच गया था और ग्रंथभक्तों ने मुस्तार सा० पर बड़ा कीचड़ उछाला था, पर मुस्तार सा० स्थितप्रज्ञ की भांति अपने तर्कों पर सर्वथा अटल रहे।

मुस्तार सा० जो कुछ लिखा करते थे वह बड़ा नाप-तोल कर एवं सोच-समझकर लिखा करते थे। उनके लिखे हुए वाक्य में से एक शब्द का भी परिवर्तन करना संभव नहीं होता था। मुस्तार सा० की लेखनी बड़ी प्रबल और तर्कपूर्ण होती थी। उस समय की यह त्रिमूर्ति (बा० जगलकिशोर जी मुस्तार, प० नाथू राम जी प्रेमी तथा बा० सूरजभान जी वकील) जैन साहित्य गगन में जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति सदा-सदा के लिए प्रालोकित होती रहेगी और आनेवाली पीढ़ी का मार्गदर्शन उनका प्रकाशित साहित्य करता रहेगा। वे लोगों के सदा-सदा के लिए बंदनीय रहेंगे। इन्होंने जैन साहित्य के क्षेत्र में जो अभूतपूर्व शोध-खोज एवं नये-नये अन्वेषण के तथ्यात्मक आयाम प्रस्तुत किए हैं वे किसी से छिपे नहीं हैं। यद्यपि उपर्युक्त त्रिमूर्ति आज पृथ्वी-तल पर नहीं है पर हर समझदार साहित्यानुरागी उनके प्रति आदर और श्रद्धा से नतमस्तक है।

मुस्तार सा० का शिक्षण-दीक्षण यद्यपि पंडिताऊ ढंग पर हुआ था, पर उनकी शैली इतनी वैज्ञानिक एवं तथ्य परक थी कि स्व० डा० उपाध्ये, स्व० हीरालालजी प्रभृति अनेकानेक विद्वान उनकी लेखनी का लोहा मानते थे, यह सब उन्होंने स्वाध्याय से ही अर्जित किया था। मुस्तार सा० बड़े संयमी एवं सादगी-पसंद प्रकृति के व्यक्ति थे। इंगी का परिणाम था कि वे इस घनघोर कलिकाल में भी

नव्वे वर्ष की आयु प्राप्त कर अस्थिर शरीर से मुक्त हुए, पर अपना यशःशरीर स्थिर और चिरस्थायी बना गए। वे उच्चकोटि के विचारक, चिंतक एवं लेखक थे। उनका सारा समय चिंतन, लेखन, अध्ययन एवं मनन में ही व्यतीत होता था। उन्हें किसी तरह का भी व्यसन नहीं था। यदि व्यसन था तो केवल ग्रंथों एवं पुस्तकों के अध्ययन का। उनका एक शब्द “हैजी, हैजी” बड़ा ही तकिया कलाम था जिसे वे बोलते समय हर वाक्य में प्रयोग किया करते थे और मुझे इस पर बड़ी हंसी आती थी, पर वे इसका तनिक भी बुरा नहीं मानते थे।

मुस्तार सा० का शरीर ८५ वर्ष की अवस्था तक भी पूर्णतया सक्षम एवं कार्यरत रहा। अंतिम समय तक उनकी आखें काम देती रही। कानों से प्रलवना कम सुनाई देने लगा था, जिसके लिए वे यंत्र का प्रयोग करने लगे थे। बादाम, मुनक्का और खसखस का सेवन उनका नित्य नियम का काम था। जब सन् १९५७ में मैं दिल्ली आ गया और दरियागंज नं० ७ में रहा करता था तो प्रायः प्रतिदिन उनसे भेंट किया करता था। वे प्रतिदिन दरियागंज नं० ४ में स्थित वीर-सेवा-मंदिर के चार मंजिले भवन से उतर कर अनायाश्रम के मंदिर में बशन करने जाया करते थे और अपनी बहिन जयवंती के यहां भोजन कर इतनी ही सीढ़ियां चढ़कर ऊपर जाया करते थे। बादाम, मुनक्के की चटनी का प्रयोग मैंने उन्हीं से सीखा था।

मुस्तार सा० अपने आचार-विचार से निश्चय ही उच्च कोटि के संत थे और यदि यह कहूं कि वे सबस्त्र मुनि तुल्य थे तो कोई अत्युक्ति न होगी। उन्होंने जैनधर्म, जैन सस्कृति एवं जैन समाज को जो कुछ दिया है उससे जैन समाज ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य-जगत युग-युगों तक उन्मृण नहीं हो सकता। पर जैन समाज ने प्रतिदान में उन्हें कुछ भी नहीं दिया। उनके अभिनंदन-ग्रंथ की कई बार योजना तैयार की गई पर सदा ही टप रही। अंतिम दिनों में उनकी परिचर्या के लिए एक सेवक की भी व्यवस्था यह कृतज्ञ समाज न

कर सका और फलस्वरूप उन्हें वीर सेवा मंदिर, दिल्ली छोड़कर अपने भतीजे श्री श्रीचंद के पास एटा जाकर रहना पड़ा और वहीं उनके प्राण विसर्जित हुए। जिस संस्था के जन्म, निर्माण एवं चरम उत्थान में मुख्तार सा० ने अपना तन-मन-धन सभी कुछ लगाया और अपनी अन्तिम खून की बिंदु भी अर्पित की, उससे उन्हें अंतिम दिनों में आत्मसंतोष न मिल सका, भले ही आज लोग उन्हें श्रद्धा से स्मरण करते हों।

वीर सेवा मंदिर जब तक सरसावे में रहा, तब तक उसकी संपूर्ण साहित्य-जगत में बड़ी प्रतिष्ठा रही और वहां साहित्यिक शोध-खोज का काम भी पर्याप्त एवं सुचारु रूप से सम्पन्न होता रहता था, पर जब से यह संस्था दिल्ली में आई तब से इसका क्रमशः ह्रास होता चला गया और यह राजनीति का झगड़ा बनकर परस्पर मनोमालिन्य और द्वेष एवं कटुता का केन्द्र बनती चली गई और सारी प्रगति अवरुद्ध हो गई, जिससे मुख्तार सा० बहुत ही खिन्न और मन ही मन दुखी रहते थे। अपनी अन्तर्व्यथा किसे सुनाते। वीर सेवा मंदिर जैसा पुस्तकालय एवं सर्वश्रेष्ठ ग्रंथों का भंडार जैन जगत में तो शायद ही कहीं मिले। जो भी उच्च कोटि का ग्रंथ कहीं भी प्रकाशित होता था, मुख्तार सा० उसे अपने पुस्तकालय में अवश्य ही मंगा लिया करते थे। अनेकों श्रेष्ठ पत्र-पत्रिकाएं तो अनेकान्त के प्रयासवर्तन में एकत्रित हुआ ही करती थी।

मुख्तार सा० पर्यूषण पर्व, महावीर जयंती आदि के अवसरों पर जब कभी बाहर जाते थे तो प्राचीन पांडु-लिपियों, गुटकों आदि की तलाश अवश्य ही किया करते थे। एक बार पर्यूषण पर्व में वे कानपुर गये हुए थे। अचानक उन्हें किसी पंसारी की दुकान में कुछ हस्त-लिखित पत्र दिख गए, जिनसे वह सामान की पुड़ियां बना बनाकर बेचा करता था, मुख्तार सा० ने उन पत्रों को उलटा-पलटा तो वे उन्हें किसी जैन ग्रंथ के प्रतीत

हुए, जिसकी वे पिछले कई दिनों से तलाश में थे। वे उस पंसारी से सारा का सारा बस्ता खरीद लाये और घर लाकर जब उन्होंने उनकी छटनी की तो उसमें उन्हें बड़ी महत्वपूर्ण कृतियां प्राप्त हुईं।

मुख्तार सा० पैसे के विषय में बड़े बारीक थे तथा हिसाब-किताब में बड़े साफ थे। मैं उनके साथ ही भोजन करता था। किसी भी माह भोजन खर्च की एकमुस्त पूरी रकम नहीं देनी पड़ी, अपितु हर मास रुपये आने पाइयों में भोजन खर्च आता था, जिसे काटकर वे मेरा वेतन दिया करते थे। मुख्तार सा० स्वयं कठोर परिश्रम किया करते थे और दूसरों से भी उतने ही कठोर परिश्रम की अपेक्षा रखा करते थे। यही कारण था कि दो एक विद्वानों को छोड़कर कोई भी विद्वान वीर सेवा मंदिर में स्थायी रूप से नहीं टिक सका। वैसे वीर सेवा मंदिर में अनेकों विद्वान और कार्यकर्ता रहे, पर श्रम बाहुल्य एवं पैसे की बारीकी के कारण लोग वहां लम्बे समय तक कार्य न कर सके। वस्तुतः सरसावा के संत बा० जुगल किशोर जी मुख्तार ने जैन साहित्यिक शोध-जगत में जो कीर्तिमान और प्रतिष्ठा स्थापित की उससे भावी पीढ़ी युग-युगों तक कृतज्ञता अनुभव करेगी और उनके प्रति श्रद्धा से नतमस्तक रहेगी। पता चला है कि वीर सेवा मंदिर से बहुत से बहुमूल्य अलम्य ग्रंथ यत्र-तत्र चले गये हैं जो अब उपलब्ध भी नहीं हो सकते हैं। वीर प्रभु से प्रार्थना है कि वीर सेवा मंदिर पुनः प्रगति और उन्नति के पथ पर अग्रसर हो, जिससे स्वर्गस्थ मुख्तार सा० की आत्मा को संतोष और शांति लाभ हो सके। उनके रिक्त स्थान को भरने वाला समाज में आज कोई भी विद्वान दिखाई नहीं देता है। □□□

श्रुत कुटीर,
६८, कुन्तीमार्ग,
विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-३२

युगसृष्टा की साहित्य-साधना

□ श्री मती जयवन्ती देवी

प्राच्यविद्या महार्णव श्रद्धेय पं० जुगल किशोर जी का जन्म सरसावा (जि० सहारनपुर) निवासी ला० नन्दाग्र जी के यहाँ हुआ था। रिश्ते में ये मेरे भाई लगते थे। बचपन में ही इनकी प्रतिभा-बुद्धि की प्रखरता न सबको चकित कर दिया था। प्रत्येक स्कूल में इन्हें मान्यता प्राप्त थी। स्कालरशिप मिलते थे। घाषिक परिणति स्वभाव से ही थी। जब ये १० वर्ष के थे तो मध्याह्न में हमसान भूमि में जाकर ध्यान लगाते थे। उन दिनों संस्कृत का विशेष प्रचार नहीं था। ये स्वयं के बुद्धि-बल से संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् हो गए। इन्होंने देववन्दर जि० सहारनपुर में मुख्तारगौरी की प्रैक्टिस शुरू कर दी। यही पर प्रसिद्ध समाज-सेवी श्री सूरजभान वकील एवं श्री ज्योतिप्रसाद जी, सम्पादक 'प्रदीप' भी रहते थे। तीनों में घनिष्ठ मित्रता थी और श्री साहित्य व समाज सेवा की सच्ची लगन। घंटों तक इसी पर तीनों का विचार-विमर्श चलता रहता। इधर गाँवी जी का सत्याग्रह-आन्दोलन भी शुरू हो रहा था। फलस्वरूप सन् १९१४ में ला० सूरजभान जी व मुख्तार साहब ने वकालत और मुख्तारगौरी करना छोड़ दिया और प्राण-पण से समाज में फैली अंधश्रद्धा, कुरीतियों आदि का उन्मूलन करने में जुट गए। हस्तिनापुर क्षेत्र पर दस्सा-बीसा के ऊार भारी भगड़ा होने पर भी ये पीछे नहीं हटे। उसे निबटाकर ही छोड़ा। समय २ पर मासिक पत्रों व साप्ताहिक पत्रों में निरन्तर समाज-सुधारक लेख निकलते थे। स्वयं का 'जैन हितैषी' पत्र निकालकर समाज का बड़ा उपकार किया। इनके दो लड़कियाँ—सम्मति और विद्यावती—हुई जिनमें सम्मति केवल आठ वर्ष की आयु में ही काल-कवलित हो गई। सन् १९१८ में इनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। उस समय छोटी पुत्री विद्यावती केवल तीन मास की थी। उसका पानन-पेषण घर पर घाय रखकर हमारे पास ही हुआ। दुर्भाग्यवश तीन साल की

आयु में वह भी न रही। इन सब संकटों के बावजूद भी मुख्तार साहब साहित्य-निर्माण में और भी अधिक संलग्न हो गए। उनकी स्मृति में इन्होंने एक ग्रंथमाला भी निकालने का विचार किया था, उसका पूरा विवरण अनेकान्त में प्रकाशित है। मेरी भावना, द्रव्य पूजा, पश्चात्ताप आदि छोटे रूप में होते हुए भी बड़ी महत्त्वशाली हैं। स्तुति विद्या, स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धभक्ति, समाधितंत्र आदि अनेको ग्रंथों का सरल अनुवाद करके अल्पज्ञानियों को धर्म का प्रकाश दिया।

ये पूज्य आचार्य समन्तभद्र के परम भक्त थे। इन्हें ही अपना गुरु मानकर, समस्त कार्यों के करने से पहले आचार्य श्री का स्मरण-वन्दन करते थे। इनके प्रति अपार भक्ति व श्रद्धा थी। 'स्वामी समन्तभद्र' नाम का ग्रंथ भी लिखा है, जिसमें स्वामी जी के जीवन-चरित्र व उनके अनुपम धर्म, धर्मप्रचार, चमत्कार आदि का विशद वर्णन है। कदम २ पर वे समन्तभद्र जी का स्मरण करते थे। उनकी कृतियों पर गवेषणापूर्ण कई लेख लिखे हैं।

जैनियों में जो दस्सा, बीसा, ओसवाल, परवार आदि भेद चल रहे थे उन सबको एक करने की उनमें प्रबल भावना थी। वे निर्भीकता से यथार्थ बात कहने में नहीं हिचकते थे, भले ही वह कितना ही विद्वान या घनवान, प्रतिष्ठावान हो।

कानजी स्वामी, स्वामी सत्यभक्त, आदि के कुछ कथनों का इन्होंने डटकर विरोध किया। साहित्य सेवी श्री नाथूराम प्रेमी जी से इनकी घनिष्ठ मित्रता थी। ये भी कई बार बम्बई गए और वे भी इनके पास आए थे। साहित्य-निर्माण में परस्पर परामर्श होते रहते थे। प्रायः सभी लेखक इनको अपने लेख दिवाकर इनकी सम्मति लेते थे, क्योंकि ये अपने समय महान दिग्गज विद्वान थे। सन् १९ में इन्होंने सरसावा में ही बीर सेवा मंदिर संस्था स्थापित की, जिसका उद्देश्य सत्साहित्य की खोज-शोध

एवं प्राचीन महाग्रंथों का सरल भाषा में अनुवाद आदि कराकर धर्म का प्रचार व प्रसार करना था। कई साल तक यह क्रम सुचारु रूप से चलता रहा। इसी बीच उद्योग पति श्री छोटे लाल जी ने सलाह दी कि सरसाबा जैसे छोटे कस्बे में अपने उद्देश्य की पूर्ति होना कठिन है। प्रेस आदि की असुविधा है। अतः इस उपयोगी संस्था को देहली में स्थापित किया जाय, जहाँ नित्य ही विद्वानों का समागम स्वयमेव होता रहेगा और अनेक सुविधाएँ उपलब्ध होंगी।

फलतः २१ नं० दरियागंज में वीर सेवा मंदिर का एक निजी भवन बनाकर संस्था का कार्य चालू किया गया। इतना सब कुछ करते हुए भी ये धर्म में बड़े वत्तचित्त थे। घंटों तक ध्यान, स्वाध्याय व अनेकों पाठ नित्य करते थे। इन्होंने श्री महावीर जी क्षेत्र पर जाकर वर्तमान स्वामी की प्रतिमा के समक्ष सातवीं प्रतिमा धारण की जिगका अन्त समय तक पालन किया। आचरकल के त्यागियों जैसा उनका त्याग नहीं था। जो भी त्याग किया केवल वाह्य न हो आंतरिक ज्यादा रहा। दिल्ली के विद्वानों, श्रीमानों का सहयोग प्राप्त हुआ, इसीके अन्तर्गत वा० छोटे लाल जी व मुख्तार साहब के मन में जैन लक्षणावली बनाने की प्रबल उत्कण्ठा हुई। परन्तु इतना महान कार्य आसानी से होने वाला नहीं था। “यादृशी भावना यस्य सफलीभवति तादृशी” के अनुसार यह दुःसाध्य कार्य प्रारम्भ कर ही दिया, परन्तु खेद है कि उनके जीवन-काल में यह प्रकाशित न हो सका। काश हो जाता तो वे कितना प्रफुल्लित होते। फिर भी उन्हें सन्तोष था कि कभी न कभी अवश्य प्रकाशित हो जायगा। इस कार्यपूर्ति के लिए ग्रंथों का विशाल संग्रह किया गया तथा अति परिश्रम से यह कार्य सम्पन्न हुआ।

मुख्तार साहब के हृदय में वीर भगवान की वाणी का प्रसार करने की उत्कट भावना थी। इससे प्रेरित होकर उन्होंने ‘वीर सेवा मंदिर’ में वीर-शासन-जयन्ती महोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाया। जगह २ से विद्वान बुलाए जिन्होंने वीर शासन का महत्त्व बतलाया। यही तक नहीं, वा० छोटे लाल जी व मुख्तार साहब ने राजगृही में ही, जहाँ भगवान की असली दिव्यध्वनि खिरी थी, यह

महोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया। फिर कलकत्ते में भी धूम-धाम से मनाया, बाद में भी दिल्ली में मनाते रहे। बीच में मुख्तार साहब और वा० छोटे लाल जी में कुछ मतभेद होने के कारण विशेष योजना कार्यान्वित न हो सकी।

भाई साहब हमारे यहाँ बहुत आते थे। हमारी दादी जी उनसे अत्यन्त प्रेम रखती थी, यहाँ तक कि उन्हें गोद लेने को तैयार थी, परन्तु कानून न होने से गोद तो नहीं लिया, फिर भी पुत्रवत् स्नेह करती थी। वे भी माँ के बराबर ही समझते थे। मेरे माता-पिता का देहान्त होगया था। मैं दादी बुआ कि संरक्षण में रही। उन्होंने मुझे पढ़ने के लिए इन्हीं भाई साहब के पास देवबन्द भेज दिया। ये मुझे बड़े प्यार से रखते तथा शिक्षा देते रहे। जब इनकी पत्नी का देहान्त हो गया, तब इन्होंने मुझे शिक्षा प्राप्त करने पं० चन्दाबाई जी के पास भेज दिया। वहाँ रहकर मैंने १३ वर्ष की उम्र में संस्कृत प्रथमा तथा धर्म में विशारद पास की। यह सब श्रेय भाई साहब को ही था, जिन्होंने इतनी शिक्षा प्राप्त कराई। मेरा जन्म, शिक्षा, विवाह तथा वैधव्य आदि सभी इनके ही सान्निध्य में हुआ।

जब आपने वीर सेवा मंदिर स्थापित किया, तब मैं महीनों वहाँ रहती थी। वहाँ पर एक कन्याशाला स्थापित की जिसमें बालिकाओं को स्वयं पढ़ाता था। एक महिला सभा कायम की, जिसमें स्थानीय महिलाएँ भाग लेती थी और बहुत-कुछ भाषण देना सीख गई थी। भाई साहब के संस्था के कार्यों में मैं सहायता करती थी, जैसे ग्रंथों की अनुक्रमणिका का बनाना, लेख आदि की प्रेस कापी बनाना, पत्र-व्यवहार करना आदि २।

जब संस्था दिल्ली में आ गई, मैं तब भी इनके पास रही और वीर सेवा मंदिर की सदस्या हीकर संस्था के कार्यों में यथाशक्य लगी रहती थी। जब ये वृद्धावस्था के कारण अशक्त रहने लगे, तब इस स्थिति में डाक्टरों की आवश्यकता पड़ने लगी। अतः इनके छोटे भाई के लड़के डाक्टर श्रीचन्द इन्हें अपने साथ एटा ले गए। वहाँ परिचर्या होती रही। अन्त में रोग ने जोर पकड़ा और वे समाधिपूर्वक हम सबको छोड़कर चल दिए।

मेरी भावना

□ स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

[इस अमर कृति 'मेरी भावना' की रचना स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' ने सन् १९१६ में की थी। तब से यह उत्तरोत्तर लोकप्रिय और सर्वप्रिय होकर 'सार्वजनीन भावना' बन गई है।

अब तक 'मेरी भावना' का अनुवाद अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, कन्नड़ आदि सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है और विविध रूपों में सैकड़ों संस्करणों में इसकी लाखों प्रतियां प्रकाशित होकर जन-जन में प्रचारित हो चुकी हैं।

इस दृष्टि से, 'मेरी भावना' वस्तुतः अपने रचयिता का सच्चा स्मारक बन गई है और यहां पुनरुद्गान एवं पुनःप्रस्तुतीकरण की प्रार्थना रखती है तथा यह इसी प्रकार चिरकाल तक अपने अमर उद्गाता का पुण्य-स्मरण कराती रहेगी।

—सम्पादक]

(१)

जिसने राग-द्वेष-कामादिक जीते,
सब जग जान लिया,
सब जीवों को मोक्ष-मार्ग का,
निस्पृह हो उपदेश दिया।
बुद्ध, बीर जिन, हरि, हर. ब्रह्मा
या उसको स्वाधीन कहो,
भक्ति-भाव से प्रेरित हो यह,
चित्त उसीमें लीन रहो ॥

(२)

विषयों की आशा नहिं जिनके,
साम्य-भाव धन रखते हैं,
निज-परके हित-साधनमें जो,
निश-दिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ-त्यागकी कठिन तपस्या,
बिना खेद जो करते हैं,
ऐसे ज्ञानी साधु जगत के,
दुख-समूह को हरते हैं ॥

(३)

रहे सदा सत्संग उन्हींका,
ध्यान उन्हींका नित्य रहे,
उनही जैसी चयमें यह,
चित्त सदा अनुरक्त रहे।
नहीं सताऊँ किसी जीवको,
भूठ कभी नहीं कहा करूँ,
परधन-वनिता पर न लुभाऊँ,
संतोषामृत पिया करूँ ॥

(४)

अहंकार का भाव न रखूँ,
नहीं किसी पर क्रोध करूँ,
देख दूसरों की बढ़ती को
कभी न ईर्ष्या-भाव धरूँ।
रहे भावना ऐसी मेरी,
सरल-सत्य-व्यवहार करूँ,
बने जहाँ तक इस जीवन में,
औरों का उपकार करूँ ॥

(५)

मंत्री-भाव जगत में मेरा,
सब जीवों से नित्य रहे,
दीन-बुखी जीवों पर मेरे,
उरसे करुणा-स्रोत बहे ।
दुर्जन-क्रूर-कुमार्ग-रतों पर,
क्षीभ नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव में रक्खूँ उन पर,
ऐसी परिणति हो जावे ॥

(६)

गुणी-जनों को देख हृदय में,
मेरे प्रेम उमड़ आवे,
बने जहाँ तक उनकी सेवा,
करके यह मन सुख पावे ।
होऊँ नहीं कृतघ्न कभी मैं,
ब्राह्म न मेरे उर आवे,
गुण-ग्रहण का भाव रहे नित,
दृष्टि न दोषों पर जावे ॥

(७)

कोई बुरा कहो या अच्छा,
लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ,
या मृत्यु आज ही आजावे ।
अथवा कोई कैसा ही भय
या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा,
कभी न पव डिगने पावे ॥

(८)

होकर सुख में मग्न न फूले,
दुख में कभी न घबरावे,
पर्वत-नदी-स्मशान-भयानक
अटवी से नहीं भय खावे ।

रहे अडोल-अकंप निरन्तर,
यह मन, दृढ़तर बन जावे,
दृष्टवियोग-अनिष्टयोग में,
सहनशीलता दिखलावे ॥

(९)

सुखी रहें सब जीव अगतके,
कोई कभी न घबरावे,
बंद-पाप-अभिमान छोड़ जग,
नित्य नये मंगल गावे ।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की,
दुष्कृत दुष्कर हो जावें,
ज्ञान-चरित उन्नत कर अपना
मनुज-जन्म-फल सब पावें ॥

(१०)

ईति-भीति व्यापे नहीं जग में,
वृष्टि समय पर हुआ करे,
धर्म निष्ठ होकर राजा भी,
न्याय प्रजा का किया करे ।
रोग-मरी-बुभिक्ष न फैले,
प्रजा शान्ति से जिया करे,
परम अहिंसा-धर्म जगत में,
फैले सर्वहित किया करे ॥

(११)

फैले प्रेम परस्पर जग में,
मोह दूर पर रहा करे,
अप्रिय-कटुक-कठोर शब्द नहीं,
कोई मुखसे कहा करे ।
बनकर सब 'युगवीर' हृदय से,
देशोन्नतिरत रहा करें,
वस्तुस्वरूप विचार खुशी से,
सब दुख-संकट सहा करें ॥

सरल स्वभावी महान आराधक

□ श्री रमाकान्त जैन, लखनऊ

अपने बाढ़काल में जो कविताएं मुझे पढ़ने को मिलीं उनमें एक थी 'मेरी भावना'। आत्म-विकास में सहायक और एक अच्छे नागरिक बनने की भावना को प्रस्फुटित करने वाली इस रचना के रचयिता थे पं० जुगलकिशोर मुख्तार। घर में जो पत्र-पत्रिकाएं आती थी उनमें एक था सरसावा जिला महारनपुर से प्रकाशित होने वाला मासिक पत्र 'अनेकान्त'। इस मासिक पत्र के सम्पादक भी पं० जुगलकिशोर मुख्तार थे। अतः अपने बालपन में ही मैं मुख्तार श्री के नाम से परिचित हो गया था। संयोग से सन् १९८७ में जब मैं ग्यारह वर्ष का बालक था तभी उनके दर्शनो का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उन दिनों मेरे पिता जी डा० ज्योतिप्रसाद जी उनके सान्निध्य में सरसावा में रहकर साहित्य-साधना कर रहे थे। अपना ग्रीष्मावकाश पिता जी के पास व्यतीत करने मैं भी पिनऊ में गंगावा गया था।

वही ग्रांड ट्रंक रोड पर स्थित वीर सेवा मन्दिर में, जो प्रचलित अर्थ में मन्दिर न होकर उनका निजी भवन था, उन विद्वान-पत्रकार-कवि की सौम्य आकृति को देखा। उस समय लगभग सत्तर वर्ष उनकी आयु ही होगी। देखने में वृद्ध थे, किन्तु मानसिक अथवा शारीरिक किमी भी प्रकार से शिथिल नहीं थे। उन वयोवृद्ध को, जिन्हें पिता जी भी बुजुर्ग का सम्मान दे रहे थे, मैंने प्रथम दर्शन में बाबा जी कहकर सम्बोधित किया था, ऐसा मुझे स्मरण पड़ता है।

मुख्तार साहब तब केवल नाम के मुख्तार थे। देव-वन्द में मुख्तारी छोड़े उन्हें एक अर्धा बीत चुका था। पत्नी और पुत्री के काफी दिनों पहले ही विदा ले चुकने के कारण घर-गृहस्थी के जंजाल से मुक्त हो एकाकी जीवन व्यतीत करते करते हुए वे खुद-मुख्तार हो गये थे।

कदाचित् शहर के कोलाहलपूर्ण वातावरण से बचने के लिए ही तब उन्होंने सरसावा जैसे कस्बे को अपने

निवास के लिए चुना था और वहां भगवान महावीर की सेवा करने, अथवा यूँ कहिये, उसके बहाने अपनी साहित्य साधना के लिये काफी बड़ी भूमि पर जो सादा किन्तु भव्य भवन बनवाया हुआ था वह मंदिर तो नहीं आश्रम या गुरुकुल सरीखा था। उस भवन की चहारदीवारी के भीतर केवल भगवान महावीर के उपासक साहित्यसाधकों का ही निवास था। पं० जुगलकिशोर जी गुरु और अन्य अनेक विद्वान उनके शिष्य समान प्रतीत होते थे। भवन के मुख्य खण्ड में जिसमें पंडित जी निवास करते थे, तीन कक्ष थे—बीच में एक बहुत बड़ा हाल तथा दो बगली कमरे। बीच के बड़े हाल में पंडित जी का पुस्तक संग्रह था और उसमें पं० परमानन्द शास्त्री और न्याया-चार्य पं० दरवारी लाल कोठिया बैठकर कार्य करते थे। दाहिनी ओर का बगली कक्ष पिताजी का कार्यस्थल और बायीं ओर का बगली कक्ष मुख्तार साहब का विश्राम एवं साधना स्थल था। इन कक्षों के आगे चबूतरा था और उसके आगे बड़ा खुला हुआ आँगन था। चारदीवारी से लगे हुए अन्दर की ओर खुलने वाले कमरों में हमारा और पं० परमानन्द जी शास्त्री का परिवार रहता था। बड़ा शान्तिपूर्ण वातावरण था। भवन में पानी का बम्बा नहीं था अपितु एक हैंड पम्प था। भवन से लगी हुई नीबू और नारंगी के पेड़ों की एक बगिया भी थी, जिसका दरवाजा प्रायः बन्द रहा करता था।

गरमी के दिन थे। अतः तड़के ही उठकर स्नानादि से निवृत्त हो कस्बे के मंदिर में दर्शन कर पिताजी सात बजे तक अपने कक्ष में पहुँच जाते थे और मैं भी उनका साथ देता। अन्य विद्वान भी अपने कक्ष में आ जाते थे। पंडित जुगलकिशोर जी भी अपने कक्ष में अपने कार्य पर लगे दीखते। पिता जी दस बजे तक अनवरत रूप से अपने कार्य में लगे रहते। मैं भी समय काटने हेतु उनके पास बैठा हुआ कुछ न कुछ अध्ययन-अभ्यास करता और

कुछ नहीं तो पंडित जी के पुस्तकालय से निकलवाकर कोई रोचक किताब ही पढ़ता रहता था। दस बजे उठ कर मैं पंडित जी को भोजन के लिये बुलाने चला जाता था। उन दिनों वह हमारे यहाँ ही भोजन करते थे। भोजन के समय वह प्रायः मौन रहते थे। वैसे भी मित-भाषी थे। 'अनेकान्त' के सम्पादकाचार्य मुझे तो एकान्त-प्रिय और स्वकेन्द्रित प्रकृति के ही लगे। अधिकांशतः वह अपने कक्ष में बैठे हुए लेखनी ही चलाते रहते थे।

सायंकाल के भोजनोपरान्त कभी-कभी हम लोगों के पास भी आ बैठते और पिताजी से इधर-उधर की विविध विषयों पर चर्चा होती और मैं मौन श्रोता का कार्य करता। किन्तु एक दिन मैंने भी चर्चा में भाग लेने का साहस किया। कक्षा सात की संस्कृत की पोथी में सुभाषितानि में मैंने श्लोक पढ़ा था—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तवन्तु,
लक्ष्मी समाविशन्तु गच्छन्तु वा यथेष्टम्,
अथैव मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्ययः प्रविचलन्ति पद न धीराः ॥

मुझे लगा कि पंडित जी की मेरी भावना का निम्न पद उनकी मौलिक रचना न होकर उपर्युक्त श्लोक का अनुवाद मात्र है—

कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे।
अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पद डिगने पावे।

हर्दा की गांठ लेकर पंसारी बन बैठने की कहावत को चरितार्थ करते हुए मैंने एक सायंकाल पंडित जी का छोड़ ही दिया कि उनकी 'मेरी भावना' के पद तो संस्कृत सुभाषितों के अनुवाद मात्र हैं, जैसे 'कोई बुरा कहो या अच्छा' वाला पद 'निन्दन्तु नीतिनिपुणाः' श्लोक का अनुवाद है। बिना बुरा माने वह सहज भाव से बोले—'तुमने यह बात सही पकड़ी है कि 'मेरी भावना' के पद संस्कृत सुभाषितों के अनुवाद है, किन्तु वे मात्र शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद या छायानुवाद हैं और, उनमें अपनी

हचि से मैंने कुछ घटाया-बढ़ाया है, जैसे उस पद में जहाँ मैंने यह कहा है "अथवा कोई कैसा ही भय या लालच देने आवे" उसका कोई उल्लेख तुम्हारे श्लोक में नहीं है और वैसे भी कई शाब्दिक हेरफेर हैं।' पंडित जी के स्थान पर कोई अन्य व्यक्ति होता तो कदाचित् मुझसे रुष्ट हो जाता और बिगड़कर कहता कि छोटे मुँह बड़ी बात करते हो, किन्तु पंडित जी ने जिस सहज भाव से मेरी बात सुनकर उसे सराहते हुए अपनी बात समझाई वह उनके विनम्र स्वभाव और बड़प्पन की परिचायक है।

बीर सेवा मन्दिर में मैं लगभग डेढ़ माह रहा। इस बीच यहाँ दो एक साधु-मन्तोंकी, जो जैनेतर थे, आते-ठहरते देवा। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को बीर-शासन-जयन्ती का आयोजन हुआ। प्रभात-फेरी के उपरान्त ध्वजारोहण हुआ। उस अवसर पर बाहर से भी कई सज्जन पधारे थे जिनमें दिल्ली के श्री मार्टिंदयान जैन के नाम का मुझे अब भी स्मरण है, और मुख्तार माहब की ओर से सबके सामूहिक भोजन का प्रबन्ध हुआ था।

श्रीष्णावकाश समाप्त होने पर मैं लखनऊ वापस चला आया और कुछ दिनों बाद पिताजी भी सरनावा से लखनऊ चले आये। अब तीस वर्ष पुरानी वह प्रवास कथा हो गई है और उसके संस्मरण भी स्मृतिपटल पर धूमिल हो चले हैं। अभी तीन-चार दिन पूर्व पिताजी से यह सुनकर कि पंडित जुगल किशोर मुख्तार की जन्मशती आगामी २० दिसम्बर को और उनकी नौवीं पुण्यतिथि २२ दिसम्बर को पड़ रही है, मुझे भी अकस्मात् पंडितजी के साथ बीता वह डेढ़ माह का प्रवास और अपने बाल-मन पर पड़ी उनकी छाप की याद ताजा हो आई। फलस्वरूप प्रस्तुत संस्मरण द्वारा उन सरल स्वभावी ऋषि-तुल्य, सरस्वती के महान आराधक के प्रति इस सुअवसर पर अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने हेतु लेखनी को नहीं रोक सका।

□□□

ज्योति निकुंज,
चारबाग, लखनऊ-१

अनुसंधान के आलोक-स्तम्भ

□ डा० प्रेमसुमन जैन

श्रद्धेय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार जैन समाज के उन कीर्ति स्तम्भों में से हैं, जो समाज व देश को जगाने के लिए ही जन्मते हैं। मुख्तार जी का सम्पूर्ण जीवन जैन-साहित्य के अध्ययन-अनुसंधान में ही व्यतीत हुआ। समाज के अधिकांश विद्वानों के वे प्रेरणास्रोत थे। पत्र-कारिता के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किया है। मेरा दुर्भाग्य है कि मुझे उनके दर्शन प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ। यद्यपि उनके गवेषणापूर्ण लेखों एवं ग्रन्थों का अवलोकन मैं मननपूर्वक करता रहा हूँ। उनकी गवेषणात्मक निष्पक्ष दृष्टि ने मुझे अधिक प्रभावित किया है।

श्री मुख्तार जी में अनुसंधान की प्रवृत्ति १९०७ में जैन गजट के सम्पादक होने के बाद प्रारम्भ हुई। इसी वर्ष में १ सितम्बर के अंक में प्रकाशित आपके लेख 'हर्ष समाचार' से अनुसन्धान के प्रति आप की बढ़ती हुई अभिरुचि का पता चलता है तथा ८ सितम्बर, १९०७ के अंक में सम्मेलन शिखर तीर्थ के सम्बन्ध में लिखा गया आपका अग्रलेख इस प्रवृत्ति की पुष्टि करता है। 'जैनगजट' के सम्पादक कार्य से जो समय बचता था, मुख्तार जी उसे जैन-साहित्य के गम्भीर अध्ययन में लगाते थे। इस अध्ययन का यह सुफल हुआ कि भट्टारको द्वारा जैन शास्त्रों में जो जैन-धर्म के विरुद्ध बातें लिख दी गयी थी, उनका निराकरण करना मुख्तार जी ने प्रारम्भ कर दिया। केवल इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अध्ययन के आधार पर एक मौलिक खोज यह भी की कि जैन-शास्त्रों के प्रक्षिप्त अश्यों के मूल स्रोत भी खोज निकाले। बाद में यही खोज 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक पुस्तक के चार भागों में प्रकाशित हुई।

मुख्तार जी ने जैन-साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान के लिए मुख्तारगिरी को भी छोड़ दिया। एकचित्त होकर वे जैन-साहित्य की सेवा में लग गये। १९१६ के लगभग आपने अपने गम्भीर अध्ययन के आधार

पर 'जैनाचार्यो तथा जैन तीर्थंकरों में शासनभेद' के नाम से एक लेखमाला का प्रारम्भ किया, जिसमें आप ने प्रमाणित किया कि बीरशासन (जैनधर्म) का प्राप्त रूप एकान्त मौलिक नहीं है। उसमें बहुत कुछ मिश्रण हुआ है और संशोधन की आवश्यकता है। यद्यपि इसके विरुद्ध भी भावजें उठायी गयीं, लेकिन श्री मुख्तार जी अपनी स्थापनाओं पर अटल रहे और शान्त भाव से अध्ययन करने रहे। आप अपनी स्थापना के प्रति विश्वस्त रहते थे, क्योंकि कोई बात बिना प्रमाण के नहीं लिखते थे। श्री नाथूराम जी प्रेमी ने आप की प्रमाणिकता के विषय में लिखा है—'आप बड़े ही विचारशील लेखक हैं। आप की कलम से कोई कच्ची बात नहीं निकलती। जो लिखते हैं वह सप्रमाण सुनिश्चित।'।

'ग्रन्थपरीक्षा' का तीसरा भाग जब १९२८ में प्रकाशित हुआ तो मुख्तार जी के गहन अध्ययन एवं प्रमाणिकता से अधिकाधिक लोग परिचित हुए। जो लोग जैन धर्म को प्रक्षेपों से दूषित कर रहे थे, सत्यता प्रकट होते ही शान्त हो गये। श्रीमान् प्रेमी जी ने उक्त ग्रंथ की भूमिका में लिखा है—'मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षों से किसी भी जैन विद्वान ने कोई इस प्रकार का समालोचक ग्रंथ इतने परिश्रम से लिखा होगा.....' इस प्रकार के परीक्षा लेख जैन साहित्य में सब से पहिले हैं जांच करने का यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैन धर्म का तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करने वालों के लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।'

श्री मुख्तार जी की इन सूक्ष्म और मौलिक दृष्टि से मैं तभी परिचित हुआ जब किसी वसुनन्दि नाम के आचार्य द्वारा लिखित प्राकृत रचना 'तत्त्व-विचार' का परीक्षण कर रहा था। यह ग्रन्थ ३०० गाथाओं का है। आचार सम्बन्धी जैन धर्म के प्रमुख तत्त्वों का इसमें सुन्दर

वर्णन है। श्री मुख्तार जी ने बम्बई प्रवास में इसकी पांडुलिपि देखी थी। वहाँ से आकर आप ने अनेकान्त में एक लेख लिखा, जिसमें यह सम्भावना व्यक्त की कि 'तत्त्व विचार' मौलिक ग्रन्थ प्रतीत नहीं होता। इसे सग्रह ग्रन्थ होना चाहिए। मुख्तार जी की इस सूचना ने मुझे सतर्क कर दिया और जब मैंने सूक्ष्म दृष्टि से ग्रन्थ का परीक्षण किया तो सचमुच 'तत्त्वविचार' की लगभग २५० गाथायें अग्र्यान्व २०-२२ प्राकृत के ग्रंथों से संगृहीत की गयी मिली, जिनमें कुछ श्वेताम्बर ग्रन्थ भी हैं। श्री मुख्तार सा० के 'पुरातन जैन वाक्य सूची' ग्रन्थ से इस सम्बन्ध में मुझे पर्याप्त सहायता मिली। श्री मुख्तार सा० का यह प्रयत्न अपने ढंग का अकेला रहा है। वे कितने परिश्रमी थे यह जानने के लिए अकेला यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है।

अनुसंधान के क्षेत्र में श्री मुख्तार सा० का दूसरा प्रशंसनीय कार्य जैनाचार्यों के विषय में खोजबीन करने का है। पात्र केसरी और विद्यानन्द की पृथक्ता आप के प्रयत्न से ही मान्य हो सकी। पंचाध्यायी के कर्त्ता की आपने खोज की तथा महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र के इतिहास एवं साहित्य के विषय में तो आपने अपना जीवन ही लगा दिया है। श्री मुख्तार सा० की जैन शासन के प्रति इस सेवा की देखने हुए प० राजेन्द्रकुमार जी का कथन यथार्थ है कि 'मुख्तार साहिब यह काम न करते तो दिगम्बर-परम्परा ही अस्त-व्यस्त हो जाती। इस कार्य के कारण मैं उन्हें दिगम्बर परम्परा का संरक्षक मानता हूँ।' इसी तरह महावीर भगवान् के समय आदि के सबन्ध में जो मतभेद एवं उलझनें उपस्थित थीं उनका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके आपने सर्वमान्य समन्वय किया और वीर शासन-जयन्ती की खोज तो आपके जीवन का एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है।

श्री मुख्तार साहब ने एक और महत्वपूर्ण कार्य का सूत्रपात किया। वह है विलुप्तप्राय ग्रन्थों का सन्दर्भों के

आधार पर पुनराकलन। आपने विशाल जैन-साहित्य में लिखे उल्लेखों के आधार पर ऐसे बहुत से अप्राप्य ग्रन्थों की एक सूची तैयार की थी। कुछ ग्रन्थों की प्राप्ति भी उन्हें हुई थी। किन्तु यह अधिकांश कार्य अधूरा ही पड़ा है। इसके लिए गहन अध्ययन एवं अथक परिश्रम की आवश्यकता है। फिर भी मुख्तार साहब के इस कार्य को पूरा करने से, मैं समझता हूँ, उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि ही अर्पित नहीं होगी, अपितु जैन-साहित्य की बहुत बड़ी सेवा भी।

श्री मुख्तार साहब की अनुसंधान प्रवृत्ति के विकास का फल 'अनेकान्त' है। अनेकान्त के प्रकाशन से केवल जैन-साहित्य ही प्रकाश में नहीं आया, बल्कि जैन विद्वानों की एक लम्बी परम्परा प्रारंभ हुई। मुख्तार सा० के सम्पादकीय टिप्पणों से कोई अच्छे से अच्छा लेखक भी नहीं छूट सका। उन्होंने लेख को हमेशा देखा है, लेखकों को नहीं। शायद इसी का यह परिणाम है कि लेखन में दिनोंदिन प्रामाणिकता की वृद्धि होती गयी और कई लेखक मुख्तार सा० को इतना कृपा से पाठकों में उनसे भी ऊँचा स्थान प्राप्त कर सके।

इस तरह स्वर्गीय श्री मुख्तार सा० की जैन-साहित्य के अनुसंधान के क्षेत्र में अपूर्व देन है। जीवन के अन्तिम दिनों में भी वे उसी उत्साह और लगन के साथ साहित्य साधना में रत रहे। वे अनुसंधान के एक ऐसे आलोक-स्तम्भ थे, जिससे निरन्तर अनेक दीपक प्रज्वलित होते रहे हैं। मुख्तार सा० ने हमेशा सबको गति प्रदान की है। ऐसा लगता है कि अपने अन्तिम दिनों में भी वे इस स्वभाव को नहीं भूले तथा जब अपनी अन्तिम साँसों के कारण गतिरोध हो रहा था तो मुख्तार सा० ने अपनी साँसें उन्हें प्रदान कर दी। समय भी उनसे उपकृत हो गया। ऐसे महान् तपस्वी के चरणों में मुझ अकिंचन के अनन्त प्रणाम।

□□□

१. अनेकान्त, वर्ष प्रथम, किरण ५, पृ० २७५.

२. इस विषय का लेखक का एक लेख अनेकान्त की वर्ष २१ की किरण ७ में प्रकाशित हुआ है।

३. 'जैन जागरण के अग्रदूत' में प्रकाशित परिचय के आधार पर।

जैन समाज के भीष्मपितामह

□ श्री देवेन्द्रकुमार जैन

उन्नीसवीं शताब्दी का वह अरुण युग जिसमें सभ्यता और संस्कृति ही नहीं शिक्षा और संस्कार पश्चिमोदय के प्रभाव में इस देश के जन-मानस पर अंकित हो रहे थे, वसी युग में भारतीय श्रमण संस्कृति में आप्पायित, पूर्व जन्म के सुसंस्कारों से समन्वित बालक 'किशोर' ने जैन कुल में जन्म लिया। बचपन से ही उसकी प्रतिभा तथा सुसंस्कारों का विकास हो चला था, यह उनके जीवन की विविध घटनाओं से प्रमाणित होता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का वास्तविक उन्मेष संघर्षों के बीच होता है। जिसके जीवन में और जिस समाज में संघर्ष न हो उसे मृतप्राय समझना चाहिए। जुगलकिशोर मुख्तार के रूप में जैन समाज को एक ऐसा ही व्यक्ति मिला था जो जन-जीवन को झकझोर कर उसे वास्तविक रूप में ला देना चाहता था। बाबू सूरजभानु वकील, अर्जुनलाल जी सेठी और जुगलकिशोर जी ऐसे ही परम्परा के प्रवर्तक थे, जिसे आज की भाषा में समाजमुधारक कहते हैं। वास्तव में इस परम्परा का प्रवर्तन जैन समाज के अनुपम विद्वान् गुरुवर्य पं० गोपालदास जी बरैया ने किया था। समय-समय पर इन विद्वानों के लेखों ने तथा वक्तृताओं ने जैन समाज में जागृति का शखनाद फूँका, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पं० मुख्तार जी इसी पीढ़ी के विद्वानों में से थे। किन्तु अपनी पीढ़ी में उन्होंने सबसे अधिक कार्य किया। क्या इतिहास, क्या दर्शन, क्या साहित्य और क्या धर्म-संस्कृति तथा राष्ट्रीयता सभी क्षेत्रों में मुख्तार जी की प्रवृत्तियाँ सलग्न रही हैं। उन समस्त प्रवृत्तियों के कार्य-कलापों के मध्य 'युगवीर' का प्रबल व्यक्तित्व संलक्षित होता है।

असाधारण व्यक्तित्व की भाँति पं० मुख्तार जी का कृतित्व भी असाधारण रहा है। इसलिए वे जैन समाज में भीष्मपितामह के तुल्य थे, जिसने समाज की अभावों

को सदा अकेले ही झेल कर राष्ट्र का पथ प्रशस्त किया। वे संघर्षों से अकेले जूझते रहे और सदा समाज को कुछ न कुछ नहीं अर्पित बहुत ही अमूल्य लत्तन देते रहे। उनके जीवन में अवरोधक बहुत रहे, किन्तु उनकी उन्होंने कभी चिंता नहीं की। उनकी जीवन-व्यापिनी चिंता एक ही रही और वह थी साहित्य की गवेषणा तथा जैनसिद्धान्त की प्रतिष्ठा। उनका जीवन ऐसे ही पार्थ धनुर्धरों के लिए समर्पित था। वे आसन्न काल तक कभी इस भीष्म व्रत से विचलित नहीं हुए, सदा अटल ही रहे। उनकी जीवन-साधना जितनी सरल और निश्छल थी उनका महान् उनको व्यक्तित्व भी। युग-युगों के अनुभवों तथा कर्म-निरत साधना में संपृक्त हो उन्होंने समाज को जो दिया वह अपरिमेय तथा अमूल्य है। उन्होंने साहित्य सम्बन्धी जितना कार्य अकेले किया उतना एक सस्था भी सम्भवतः न कर पाती। बीरसेवा मन्दिर के प्रकाशनों से स्पष्ट है कि उस महान् साहित्यकार ने कितना अधिक कार्य किया। कठिन से कठिन तथा अप्रकाशित ग्रन्थों को सरल भाषा में प्रकाशित कर जनमुलम बनाने में आपकी कर्मठ साधना तथा कठोर श्रम एवं विद्वत्ता इलाघनीय है। इतना ही नहीं, मौलिक साहित्य का सर्जन कर आप ने समाज को एक चेतना तथा जागृति प्रदान की। 'मेरी भावना' तो एक राष्ट्रीय गौरव की कृति बन गई है। अकेली इस रचना ने ही आपको पर्याप्त यश तथा लोकाश्रय प्रदान किया। इसी प्रकार, साहित्य के अनाघात क्षेत्र में 'जैनग्रंथ परीक्षा' और चिन्तन-मनन के साथ प्रकाशित 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' जैसे ग्रन्थ लिख कर आपने अनुसन्धान जगत् में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

सम्पादन तथा अनुवाद :

'जैन गजट', 'जैन हितैषी' तथा 'अनेकान्त' जैसे

समाज के मुख्य पत्रों के सम्यक् सम्पादन के अतिरिक्त आप ने कई ग्रन्थों का सम्पादन तथा हिंदी अनुवाद भी किया है। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत से हिन्दी में अनूदित किए गए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :—

(१) आचार्य प्रभाषन्द का तत्त्वार्थसूत्र, (२) युक्त्यनुशासन, (३) स्वयम्भूस्तोत्र, (४) योगसार प्राभृत (५) समीचीन धर्मशास्त्र, (६) अष्टात्म रहस्य, (७) अनित्यभावना, (८) तत्त्वानुशासन, (९) देवागम (पाप्त-मीमांसा), (१०) मिद्धिसोतान (आ० पूज्यपाद विरचित पिद्धभक्ति का भावात्मक हिन्दी पद्यानुवाद), (११) सत्साधुस्मरणमंगलपाठ (संकलन तथा पिन्दी अनुवाद)।

सम्पादन तथा अनुवाद में लेखक ने मूल भाव को बनाये रखने का पूरा यत्न किया है और यही उनकी मुख्य विशेषता है। मूल लेखक के भावों को हृदयगम कर उसके भावों को सरल भाषा में प्रकट करना मुख्तार जी का ही कार्य है। 'युक्त्यनुशासन' जैसे जटिल, दार्शनिक तथा महान् ग्रन्थ का प्रामाणिकता के साथ हिन्दी अनुवाद कर यथार्थ मर्म को प्रकाशित करना मुख्तारश्री की प्रतिभा का ही कार्य है। इसी प्रकार 'देवागम' तथा 'अष्टात्म-रहस्य' जैसे कठिन ग्रन्थों की गुत्थियाँ सुलझा कर हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने की सामर्थ्य आप में ही लक्षित हुई है। विस्तार से यहाँ पर सम्पादन तथा हिन्दी अनुवाद की विवेचना न करके इतना कहना ही पर्याप्त समझना है कि सम्पादन तथा अनुवाद कार्य के क्षेत्र में आप जैन समाज के बिरले ही विद्वान् हैं। दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् प० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य के शब्दों में : 'युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थ का सुन्दरतम अनुवाद, समन्तभद्र के अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने जिस अकल्पनीय सरलता से प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्या के अभ्यासियों के लिए आलोक देगा। सामान्य-विशेष, युतिसिद्धि अयुत-सिद्धि, क्षणभंगवाद, संतान आदि परिभाषिक दर्शन शब्दों का प्रामाणिकता से भावार्थ दिया है। आचार्य जुगल-किशोर जी मुख्तार की यह एकान्त साहित्य-साधना आज

के मोल-जोल वाले युग को ही महंगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा-सा भी अन्तर्मुख होकर इस तरस्वी की निष्ठा का अनुवाद की पक्ति-वक्ति पर दर्शन करेगा। स्पष्ट ही, लेखक की साहित्य-साधना महान् है। इस साहित्य देवता की सभी विशेषताओं पर प्रकाश डालना संभव भी नहीं है। इस छोटे से लेख में कितना लिखा जा सकता है? किन्तु साहित्यिक मूल्यांकन की दृष्टि से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आपका कितना साहित्य सृजन का कार्य है वह अत्यन्त अमसाध्य निष्ठा तथा लगन से परिपूर्ण है। सम्पादन तथा अनुवाद-जगत् में ऐसी रचनाएँ अत्यन्त अल्प हैं। इनके महत्त्व की वही समझ सकता है जो ऐसे दुर्लभ ग्रन्थों का अनुवाद करने बैठा हो और अपनी सच्चाई तथा ईमानदारी के कारण सफल न हो सका हो। इससे अधिक इस सम्बन्ध में और क्या कहा जा सकता है? वास्तविकता यही है कि विद्वानों के वास्तविक महत्त्व का मूलांकन उस विषय का विशेषज्ञ विद्वान् ही कर सकता है।

मुख्तारश्री बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता, लेख, निबन्ध तथा समाजसुधारक से सम्बन्धित सामयिक साहित्य पर सफल तथा सरल रचनाएँ प्रस्तुत कर उन्होंने जैन समाज में अमिट स्थान बना लिया है। मैं समझता हूँ कि उनके लगभग पाँच सौ से भी अधिक निबंध प्रकाशित हो चुके हैं और लगभग दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। उन सब का विवेचन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

वस्तुतः जैन समाज के एक महान् व्यक्तित्व मुख्तारश्री साहित्य जगत के कीर्तिमान नक्षत्र थे। इसमें कोई सदेह नहीं। आश्चर्य तो यह है कि उन्होंने जीवन की अन्तिम सास तक लेखन-पठन कार्यों में व्यवधान नहीं आने दिया। बाहर से कोई न कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मगवाकर उसका श्रवण-मनन चिन्तन करना उनके जीवन का सहज व्यापार हो गया था। समाज ऐसे विद्या धनी तपःपूत, साहित्यसेवी और विद्वद्वर तथा जैन समाज के भीष्मपितामह की जन्म शताब्दी पर अपनी भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। □ □ □

साहित्य-तपस्वी की अमर साधना

□ श्री अग्ररत्न नाहटा

मनुष्य जन्म के समय तो प्रायः एक समान बालक होता है। यद्यपि पूर्व जन्म के सस्कार और अपने समय के वातावरण द्वारा उसका विकास भिन्नता लिए होता है, पर छोटी उम्र तक इतना अधिक अन्तर नहीं दिखाई देता। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता चला जाता है, स्वतन्त्र गुणों का विकास अधिक स्पष्ट हो जाता है। फिर भी कई बालक बाल्यावस्था में तो साधारण से लगते हैं, पर आगे चलकर तेज निकल आते हैं। उनकी प्रतिभा, परिश्रम, संयोग और परिस्थितियाँ अपना रंग दिखाती हैं। कभी-कभी तो किसी आकस्मिक संयोग से जीवन-धारा पूर्णतः बदल जाती है; एक विलासी व्यक्ति परित्यागी बन जाता है। एक मूर्ख व्यक्ति पंडित बन जाता है। शारीरिक विकास भी इतना अधिक अन्तर वाला होता है कि एक ही व्यक्ति के समय-समय पर लिए हुए चित्रों से उसे पहचानना कठिन हो जाता है। बाल्यावस्था में जो दुबला-पतला होता है, वह बड़ा होने पर काफी स्थूल याने मोटा-ताजा हो जाता है। नेहरू जी आदि अनेक व्यक्तियों के बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था के अनेक चित्रों को देखते हैं तो यह कल्पना में भी नहीं आता कि ये सभी एक ही व्यक्ति के चित्र हैं। कुछ इसी तरह का आन्तरिक चित्र स्वर्गीय श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार का भी मुझे दिखाई देता है। साधारणतया मुख्तारगिरी याने मुख्तारपने का काम या पेशा करने वाले व्यक्ति भिन्न प्रकार के होते हैं। मुख्तार साहब इस दृष्टि से एक निराले ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने जीवन के करीब ४० वर्ष साहित्य सेवा में लगा दिये। मुख्तार साहब की सक्षिप्त जीवनी डा० नेमिचन्द्र शास्त्री के द्वारा लिखी हुई, जैन विद्वत्परिषद से प्रकाशित हुई है। उससे अभी तक जो बातें ज्ञात नहीं थीं, वे प्रकाश में आई हैं। उनके निवृत्त सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति और भी बहुत-से अज्ञात

तथ्य बतला सकते हैं। मुख्तार साहब की बहुमुखी प्रतिभा, सतत अध्ययनशीलता और विशिष्ट लेखन अवश्य ही हमारे लिए एक स्पृहणीय व्यक्तित्व का भव्य चित्र उपस्थिति करता है।

मुख्तार साहब का परिचय तो मुझे बहुत पीछे मिला। पर जब मैं जैन पाठशाला में पढ़ता था तभी उनकी 'मेरी भावना' नामक कविता देखने को मिली, और वह बहुत ही अच्छी लगी। ऐसी सुन्दर भावना वाले व्यक्ति 'युग वीर' संज्ञक कौन हैं, इसका उस समय कुछ भी पता नहीं था। जब साहित्य-शोध रुचि पनपी तथा अनेक नये-नये ग्रंथों का अध्ययन चालू हुआ तभी मुख्तार साहब की 'ग्रन्थपरीक्षादि' पुस्तकें पढ़ने में आईं। कहीं 'मेरी भावना' के लेखक मुख्तार साहब और कहीं 'ग्रन्थ-परीक्षा' के लेखक मुख्तार साहब। कुछ भी ताल-मेल नहीं बैठ सका। 'ग्रन्थ-परीक्षा' में गहरी छानबीन करके सत्य को बड़े नग्न रूप में उपस्थित किया गया है जो श्रद्धाशील व्यक्तियों के लिए मर्मन्तिक प्रहार और कटु सत्य-सा कहा जा सकता है, क्योंकि जिन ग्रन्थों को जिन आचार्यों की रचना मानते रहे, उनको उन्होंने बहुत पर-वर्ती रचनाएँ सिद्ध किया, और जिन विधि-विधान वाले ग्रन्थों को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखा जाता था उनमें से रोमाचक बातों को प्रकाश में लाना जिससे उन ग्रंथों के प्रति धारणा ही बदल जाय, इस प्रकार का आन्तिकारी कदम बहुत विरले व्यक्ति ही उठा पाते हैं। कई व्यक्ति सही बात को जानते भी हैं पर समाज के विद्रोह एवं निन्दा के भय से साहसपूर्वक उन्हें प्रकट नहीं कर पाते, जबकि मुख्तार साहब ने 'ग्रन्थ-परीक्षा' में बड़ा निर्भीक और साहसिक कदम उठाया और परीक्षा का एक आदर्श उपस्थित किया। वास्तव में परी-क्षक पक्षपात से काम नहीं ले सकता। उसे तो तथ्य पर ही पूर्ण निर्भर रहना पड़ता है।

मुख्तार साहब का वास्तविक परिचय तो मुझे जबसे उनका 'अनेकान्त' पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ, तभी मिला। 'अनेकान्त' अपने ढंग का निराला मासिक पत्र देखने में आया। उसमें सम्पादक की सत्य संशोधक वृत्ति, विशाल अध्ययन, गम्भीर चिन्तन, जैन साहित्य और शासन की सेवा भावना आदि कई बातें एक साथ देखने को मिलीं, जिससे मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनके सूचित अल्प ग्रन्थों की खोज का काम भी मुझे बहुत आवश्यक लगा। मुख्तार साहब ने ऐसे कई ग्रन्थों की सूची 'अनेकान्त' में प्रकाशित की थी जिनका उल्लेख तो मिलता है पर प्रतियों के अस्तित्व का पता नहीं चलता। इसी तरह मुख्तार साहब के कई लेख तो बहुत ही पठनीय लगे।

उनसे मिलने का प्रसंग तो दिल्ली में वीर सेवा मंदिर की स्थापना के समय ही मिला। अपने व्यापारिक केन्द्र कलकत्ता व आसाम जाते-आते समय मैं दिल्ली में प्रायः ठहर जाता और 'वीर-सेवा-मंदिर' में जाकर मुख्तार साहब से मिलने की उत्सुकता रहती। इतने बड़े विद्वान् होने की छाप तो मुझ पर पहले से ही अनेकान्त और उनके ग्रन्थों से पड़ चुकी थी, पर वे इतने सरल और प्रेम-भूति होंगे, इसकी कल्पना नहीं थी। मेरे लेख 'अनेकान्त' में छपने लगे। इससे वे मेरी शोध प्रवृत्ति और रुचि से भली भांति परिचित हो चुके थे। अतः प्रथम मिलन में ही उन्होंने बहुत हर्ष व्यक्त किया और इससे मुझे भी बड़ा आनन्द हुआ। फिर तो वीर सेवा मंदिर उनसे मिलने के लिए जाना एक जरूरी कार्य हो गया और प्रायः जब तक वे दिल्ली में रहे, मैं उनसे मिलने पहुंचता ही रहा।

नये-नये ग्रन्थों की खोज और उन पर प्रकाश डालने के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। एक बार मैं जब वीरसेवा मंदिर गया तो उन्होंने मुझे अजमेर के भट्टारकीय भण्डार से लाई हुई कुछ प्रतियां दिखाईं। छोटी या बड़ी कोई भी रचना उन्हें अच्छी लगती तो उसके सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन में वे जुट जाते। प्रारम्भ में वे मुझे कुछ सम्प्रदायनिष्ठ लगे, पर मेरे साथ उनका व्यवहार सच्चे स्वधर्मी-वास्तव्य के रूप में ही रहा।

बीच में मैं एक बार मिलने गया तो कलकत्ते के बाबू छोटेला जी जैन भी वहीं थे। कलकत्ता में छोटेला जी

से मिलना होता ही रहता था। मुख्तार साहब के वे बड़े भक्त थे और उन्होंने मुख्तार साहब को काफी सहयोग भी दिया। पर आगे चलकर कुछ बातों में मतभेद हो जाने से उन दोनों को मैंने दुःखी-सा अनुभव किया। अन्तिम बार जब मुख्तार साहब से मिला तो उन्हें काफी परेशान-सा पाया। उनकी इच्छा के अनुरूप कार्य नहीं हो रहा था, इससे वे बड़े व्यग्र थे और संस्था के प्रति उदासीन भी नजर आये। मुख्तार साहब बहुत कर्मठ व्यक्ति थे और वीर सेवा मंदिर की स्थापना द्वारा उन्होंने बहुत सुन्दर स्वप्न देखे थे, अतः इच्छानुरूप कार्य न होते देख उन्हें दुःख होना स्वाभाविक भी था। यद्यपि वीर सेवा मंदिर द्वारा अनेकान्त पत्र भी प्रकाशित होता है, दो विद्वान् भी वहां कार्यरत हैं, पर मुख्तार साहब के वहां रहते हुए जो आकर्षणप्रद बात वहां थी वह उनके बाद दिखाई न देना स्वाभाविक ही है। अनेकान्त को जो रूप उन्होंने दिया था उसमें भी परिवर्तन हुआ और अन्य कार्य जितनी तेजी से हो रहे थे, उनकी गति भी मन्द पड़ गई। फिर भी उनके द्वारा स्थापित संस्था अच्छा कार्य कर रही है। मुख्तार सा० के प्रारम्भ किये हुए 'लक्षणावली' ग्रंथ के तृतीय(अन्तिम) भाग का प्रकाशन अब पूर्ण होने वाला है।

मुख्तार साहब बृद्धावस्था में भी जिस तरह कार्यरत थे, दूसरे व्यक्ति विरले ही नजर आते हैं। ६२ वर्ष की उम्र में भी उनका स्वाध्याय और लेखन बराबर चलता रहा, यह बहुत ही उल्लेखनीय है। अनेक ग्रन्थों पर उन्होंने गम्भीर विवेचन लिखा। इन वर्षों में उनका भुक्तानु-अध्यात्मिक ग्रन्थों की ओर अधिक नजर आया। 'पुरातन वाक्य-सूची' को तैयार करने और लेखकों का बिस्तृत परिचय देने में उन्हें बहुत अधिक अध्ययन और श्रम करना पड़ा है। विविध विषयों पर उन्होंने काफी लिखा है। उनकी सत्यनिष्ठा, अध्ययनशीलता, अटूट लगन और गम्भीर चिन्तन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। दान को उन्होंने परिग्रह का प्रायश्चित्त बतलाया। इस तरह के अनेक नये विचार उनके द्वारा हमें मिले। शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा था, अतः विचार भी उच्च थे। उन्होंने अपनी सम्पत्ति का बहुत अच्छा सदुपयोग किया। समाज और साहित्य के

[शेष पृष्ठ २५ पर]

मुख्तारश्री और समीचीन धर्म शास्त्र

□ श्री सी. एत. सिधई 'पुरन्दर'

स्वतन्त्र भारत ने सारनाथ स्थित अशोक स्तम्भ के शीर्षस्थ सिंहों को राज्य-चिह्न के रूप में अपनाकर सम्राट् अशोक द्वारा धर्मविजय को युद्धविजय से श्रेष्ठ प्रदर्शित करने वाली नीति का महत्व प्रतिपादित किया। इस देश में दिग्विजयी सम्राटों के स्वर्ण-मुकुट धर्मविजयी संतों के चरणों में झुकते रहे हैं लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसी धर्मविजय फणिमण्डलांतर्गत उरगपुर (पांड्य प्रदेश की राजधानी) के संन्यस्त राजपुत्र ने की थी। करहाटक की राजसभा में उसने निम्नांकित श्लोक के रूप में आत्मपरिचयादि दिया था, जो श्रवण वेत्तगोल के शिलालेख (शिला लेख क्र० ५४) में उत्कीर्ण है।

“पूर्वं पाटलिपुत्रमध्य नगरे भेरीमया ताडिता,
पञ्चान्मालव सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वंदिते।
प्राप्तोऽपि हं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सकटं,
वादार्यो विचराम्यहं नरपते शार्ङ्गलविकीडितं॥”

इस गर्वोक्ति से प्रकट होता है कि न केवल दक्षिण भारत की कांची नगरी के वादर्थियों को स्वामी समन्तभद्र ने पराजित किया था, अपितु उत्तर भारत स्थित पाटलिपुत्र (पटना), मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब का एक भाग), विदिशा (आजकल मध्यप्रदेश में है) आदि में भी विजयपताका फहराई थी। उक्त श्लोक तो विख्यात है। मुख्तार साहब ने समीचीन धर्मशास्त्र की प्रस्तावना में श्री समन्तभद्र की दो अन्य गर्वोक्तियां भी अंकित की हैं जिनका अधिक प्रचार नहीं हो सका है —

“कांच्यां नगनाटकोऽहं, मलमलिनतनुलुंघितो पांडुपिंडः,
पुण्ड्रोऽहं शाकभक्षी, दशपुरनगरे मिष्टभोजीपरिघ्राट्।
वारानस्यामभूवं शशधरघवलः, पांडुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्याऽस्तिशक्तिः, स ववति पुरतो जैननिग्रंथवासी॥”

कांची के इस नगनाटक (विगम्बर साधु) को आप्त-

मीमांसा की ताड़पत्रीय प्रति में राजकुमार प्रकट किया गया —

‘इति श्री फणिमण्डलालंकारस्योरगपुराधिप सूतोः,
श्रीस्वामीसमन्तभद्रमुनेः कृतो आप्तमीमांसाधाम् ।’

उन्हें धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र और साहित्यशास्त्र के साथ ज्योतिषशास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र, तन्त्रादि विषयों में भी निपुणता प्राप्त थी, जैसा कि निम्नांकित आत्म-परिचय से प्रकट है :—

“आचार्योहं, कविरहमहं, वादिराट्, पंडितोहं,
देवज्ञोहं, भिषगहमहं, मान्त्रिकस्तात्रिकोहं।
राजन्नस्यां जलधिचलयामेखलायाभिलाषाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहम्॥”

उक्त पद्य में आचार्य प्रवर के १० विशेषणों का उल्लेख हुआ है :—

(१) आचार्य, (२) कवि, (३) वादिराट्, (४) पंडित, (५) देवज्ञ (ज्योतिषी), (६) भिषक्, (७) यांत्रिक, (८) तांत्रिक, (९) आज्ञासिद्ध, (१०) सिद्ध सारस्वत।

स्वामी समन्तभद्र की तुलना में निर्भीक एवं प्रभावक अन्य आचार्य नहीं ठहरते। इसी से स्व० प० जुगलकिशोर उन पर मुग्ध थे।

उन्होंने २१ अप्रैल, १९२६ को दिल्ली में समन्तभद्राश्रम की स्थापना की थी। आगे चलकर यही वीर सेवा मन्दिर कहलाया। उन्होंने आचार्यश्री के अनेक ग्रन्थों पर भाष्य लिखे और उन्हें सटीक प्रकाशित कराया। उनकी अन्तिम इच्छा एक मासिक पत्र और निकालने की थी, जिसका नाम भी ‘समन्तभद्र’ प्रस्तावित किया था। प्रस्तावित मासिक-पत्र की आवश्यकता की पूर्ति, वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित अनेकान्त ही करेगा, ऐसी आशा है।

श्री समन्तभद्र के ग्रन्थ ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक लोकप्रियता उनके उपासकाचार को प्राप्त होने का कारण, इस ग्रन्थ की सरल संस्कृत भाषा और अधिकतर अनुष्टुप छन्दों में गृहस्थाचार का विशद विवेचन है। 'गागर मे सागर' भर दिया है। विषयवस्तु और शैली दोनों ही उत्कृष्ट है।

सर्वप्रथम इसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने लिखी। कन्नड़, मराठी आदि भाषाओं में अनेक टीकायें लिखी गईं। हिन्दी में सर्वप्रथम विस्तृत भाष्य पंडित सदासुख कासलीवाल (जयपुर निवासी) ने लिखा जो दूंदारी गद्य में है। जयपुर के आसपास का क्षेत्र दूंदार कहलाता है। यह भाष्य वि० सं० १९२० में लिखा गया। मुख्तार सा० ने श्रावकाचार की विस्तृत व्याख्या २०० पृष्ठों में की है और ११९ पृष्ठों में तो केवल प्रस्तावना ही लिखी, जिसे माघ सुदी ५ सं० २०११ वि० को पूर्ण किया। जीवन के बहुमूल्य १२ वर्ष इसमें लगाये। यह ग्रन्थ गोर सेवामन्दिर से अप्रैल १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ है।

स्व० मुख्तार सा० ने ग्रन्थ का बहुप्रचलित नाम रत्नकरंड श्रावकाचार न रखकर 'समीचीन धर्मशास्त्र' रखा है। ग्रन्थकर्ता श्री समन्तभद्र ने ग्रन्थारम्भ में सकल्प किया है कि—

देशायामि 'समीचीनं धर्म'-कर्म-निवर्हणं।

संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

मुख्तार सा० ने रत्नकरंड नाम ग्रन्थांत के निम्नलिखित श्लोक से फलित किया है :—

येन स्वयं बीत कलंक-विद्या-वृष्टि-क्रिया-'रत्नमरंड'-भायं।

नीतस्तमायाति पतीच्छयेव सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषुविष्टपेषु ॥१४९

ग्रन्थकर्ता ने ग्रन्थ ग्रन्थों के भी दो-दो नाम गिनाये हैं, जैसे—देवागम का अपरनाम आप्तमीमांसा, स्तुति-विद्या का अपर नाम जिनस्तुतिशतक या जिनशतक, स्वयंभूस्तोत्र का अपर नाम समन्तभद्र स्तोत्र, और यह भी लिखा है कि वे सब प्रायः अपने-अपने आदि या अन्त के पद्यों की दृष्टि से रखे गये हैं।

ग्रन्थकर्ता के ग्रन्थान्य ग्रन्थ कठिन भाषा में है और विषय भी दुरुह है। अतः कुछ विद्वानों को संदेह हुआ कि देवागम, युक्त्यनुशासन जैसे ग्रन्थों के कर्ता उद्भट विद्वान प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र ने यह ग्रन्थ नहीं लिखा। इसके कर्ता कोई दूसरे ही समन्तभद्र होंगे। इस संदेह का प्रधान कारण है इस ग्रन्थ में उस तर्कपद्धति का अभाव जो ग्रन्थ ग्रन्थों में प्राप्त है। स्व० मुख्तार सा० ने इसे सप्रमाण श्री समन्तभद्राचार्य प्रणीत सिद्ध किया है। इसी सम्बन्ध में डा० हीरालाल जैन ने १९४४ ई० में एक निबन्ध लिखा था—'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय। इसका विस्तृत और सप्रमाण उत्तर मुख्तार सा० ने अनेकान्त द्वारा १९४८ में दिया था, जिसे विस्तारपूर्वक इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में दिया है। प्रस्तावना में ६ ग्रन्थ समन्तभद्रों का उल्लेख करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि ये ग्रन्थ उन्हीं समन्तभद्र स्वामी की रचनाएँ हैं जिनकी कृतियाँ आप्तमीमांसादि हैं।

वास्तव में आचार्यश्री ने ये ग्रन्थ लिखकर बालकों एवं बालबुद्धि गृहस्थों पर अत्यन्त अनुग्रह किया है। प्रत्येक परीक्षालय ने इसे पाठ्यक्रमों में स्थान दिया है, प्रत्येक पाठशाला में इसका पठनपाठन होता है, प्रत्येक जिनमन्दिर तथा सुशिक्षित गृहस्थ के गृह में यह प्राप्तव्य है।

इस ग्रन्थ की अनेक बालबोधटीकाएँ हिन्दी में हुई हैं। सोनगढ से भी हिन्दी टीका सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

'समीचीन धर्मशास्त्र' का प्राक्कथन डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एव (आमुख) डा० आ० ने० उपाध्ये महोदय से लिखा कर गौरवबुद्धि की गई है। समर्पण पत्र श्री समन्तभद्र स्वामी के नाम हैं :—

'स्वदीयं वस्तु भोः स्वामिन् ! तुभ्यमेव समर्पितम् ।'

ग्रन्थ को ७ सात अध्यायों में विभक्त करना मुख्तार सा० की सूझबूझ है। यह विभाजन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है।

स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल ने १८९८ ई० में ग्रन्थ के २१ पद्यों के क्षपक होने का संदेह व्यक्त किया

था। मराठी भाषा के विद्वान पं० नाना रामचन्द्र नाग ने तो केवल १०० श्लोक मान्य करके ५० कम कर दिये। मुख्तार सा० को जैन सिद्धान्त भवन, आरा मे ताडपत्रीय ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमे १६० श्लोक है परन्तु उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि वास्तव मे १५० श्लोक होना चाहिए। उन्होंने श्री प्रभाचन्द्राचार्य एवं पं० सदा-सुख कासलीवाल के चरणचिन्हों पर चल कर समीचीन धर्मशास्त्र मे १५० श्लोक ही रखे।

श्री समन्तभद्राचार्य का विस्तृत परिचय २५ पृष्ठों में दिया है जिसे मुख्तार सा० ने 'संक्षिप्त परिचय' कहा है। इसका कारण यह है कि उन्होंने आचार्य प्रवर के सम्बन्ध में बहुत शोध की थी, इसलिए इतना लिखने पर भी लगता था कि बहुत कम लिखा है।

श्री आ० ने० उपाध्ये ने भूमिका में लिखा है कि— 'हिन्दी व्याख्या केवल मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद नहीं है, बल्कि जैन न्याय सम्मत विषयो पर कुछ सदृश प्रकरणों को श्री समन्तभद्र तथा उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से लेकर गुण-दोष-विवेचिका विचारणा को भी प्रस्तुत करती है।'।

व्याख्या के क्रम मे कुछ शब्दों की शोधपूर्ण विवेचना दृष्टव्य है; यथा—

श्लोक क्र० २८ मे 'पाण्डि' का प्रचलित अर्थ धूर्त, दम्भी या कपटी अमान्य करके पाप का खडन करने वाला तपस्वी किया है। इसी अर्थ मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसार की गाथा क्र० १०८ अति प्राचीन साहित्य में प्रयुक्त होना बताया है।

श्लो० क्र० २८ में 'मातगदेहजम्' का अर्थ चाण्डाल का काम करने वाला ही नहीं, चाण्डाल के देह से उत्पन्न अर्थात् जन्म या जाति से चाण्डाल भी किया है।

श्लोक क्र० ५८ में 'विलोम' की व्याख्या है अल्प मूल्य में मिले हुए द्रव्यो को अन्य राज्य मे बहुमूल्य बनाने का प्रयत्न। इससे अपने राज्य की जनता उन द्रव्यों के उचित उपयोग से वंचित रह जाती हैं। इसलिए यह एक प्रकार का अपहरण है। विलोप में दूसरे प्रकार का अपहरण भी शामिल है जो किसी की सम्पत्ति को नष्ट करके रतुत किया जाता है।

श्लोक क्र० ५६ में 'परदार-निवृत्ति' की व्याख्या— जो स्वदार नहीं, वह परदार है। कुछ लोग परदार का अर्थ पर की स्त्री करते हैं। एकमात्र उसी का त्याग करके कन्या तथा वेश्या सेवन की छूट रखना संगत प्रतीत नहीं होता।

श्लोक क्र० ७७ में हिसादान की व्याख्या— हिसा के ये उपकरण यदि कोई गृहस्थ इसलिए माँगे देता है कि उसने भी आवश्यकता के समय उनसे वैसे उपकरणों को माँग कर लिया है और आगे भी उसके लेने की सम्भावना है तो ऐसी हालत में उसका वह देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। उसमें भी यह कुछ बाधा नहीं डालता। जहाँ इन हिसोपकरणों को देने में कोई प्रयोजन नहीं है, वही यह व्रत बाधा डालता है।

श्लोक क्र० ८५ मे वे ही कंदमूल त्याज्य हैं जो प्रासुक अथवा अचित्त नहीं है। प्रासुक कंदमूलादि वे कहे जाते हैं जो सूखे होते हैं, अग्न्यादिक में पके या खूब तपे होते हैं, खटाई तथा लवण से मिले होते हैं अथवा यंत्रादि से छिन्न-भिन्न किये होते हैं, जैसा कि निम्न प्राचीन प्रसिद्ध गाथा से प्रकट है :—

“सुकं पक्कं तप्तं, अंचिल लवणेण मिस्सियं दब्बं।

अं जंतेण य छिण्णं, तं सव्वं फासुयं भणियं॥”

नवनीत मे अपनी उत्पत्ति से अंतर्भूत के बाद ही सम्पूच्छन जीवों का उत्पाद होता है। अतः इस काल-मर्यादा के बाहर का नवनीत ही वहाँ त्याज्य कोटि में है, इसके पूर्व का नहीं।

श्लोक ८६ मे 'अनुपसेव्य' की व्याख्या—स्त्रियो को ऐसे अति महीन एवं भीने वस्त्र नहीं पहनना चाहिए जिनसे उनके गुह्य अंग स्पष्ट दिखाई पड़ते हों।

श्लोक क्र० ११६ में द्रव्यपूजा की व्याख्या—वचन तथा काय को अन्य व्यापारों से हटा कर पूज्य के प्रति प्रणामांजलि तथा स्तुति पाठादि के रूप में एकाग्र करना ही द्रव्यपूजा है। जल, चन्दन, अक्षतादि से पूजा न करते हुए भी पूजक माना है। श्री अमृतगति आचार्य के उपासकाचार से भी द्रव्यपूजा के इसी अर्थ का समर्थन होता है :—

बचो-बिग्रह-संकोचो, द्रव्यपूजा निगद्यते ।
तत्र मानससंकोचो, भावपूजा पुरातनः ॥”

श्लोक क्र० १४७ में ‘भैक्ष्य’ की व्याख्या—भैक्ष्य का अर्थ भिक्षासमूह है। उत्कृष्ट श्रावक अनेक घरों से भिक्षा लेकर अन्त के घर या एक स्थान पर बैठकर खाता है, जिसका समर्थन श्री कुंदकुंदाचार्य के सुत्तपाहुड में आए हुए ‘भिवखं भमेइ पत्तो’ से होता है (पात्र हाथ में लेकर भिक्षा के लिए भ्रमण करना)। ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक भेद श्री समन्तभद्र स्वामी के समय में नहीं थे। श्री मुख्तार सा० क्षुल्लक पद को पुराना और ऐलक पद को पश्चाद्वर्ती मानते थे, जैसा कि उनके गवेषणापूर्ण निबंध ‘ऐलक पद-कल्पना’ स्पष्ट है, जो अनेकान्त, वर्ष १० की

संयुक्त किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ था।

इसी श्लोक में ‘गृहतो मुनिवनमित्वा’ से सूचित किया है कि मुनिजन तब वनवासी थे, चैत्यवासी नहीं थे। श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने ‘वनवासी और चैत्यवासी’ शीर्षक शोधपूर्ण लेख १९२० ई० में जनहिताधी में प्रकाशित कर इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

उन दृष्टान्तों से प्रकट होता है कि स्व० पं० जुगल-किशोर का ज्ञान तलस्पर्शी था और उनकी मौलिक स्थापनाएं बेजोड़ थीं। वाङ्मयाचार्य की उपाधि से वे विभूषित किये गये थे। काश! जैन समाज ने कोई विश्वविद्यालय स्थापित किया होता तो निश्चयरूपेण वे डाक्टरेट की मानद उपाधि से विभूषित किये गये होते।



[पृष्ठ २१ का शेषांश]

लिए उनका सर्वस्व दान प्रशंसनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है। जैसा कि मैंने अपने ‘जैन सन्देश’ वाले लेख में लिखा था उनकी अन्तिम भावनाओं को हमें शीघ्र ही मूर्त रूप देना चाहिए। अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हो सका तो अनेकान्त का ‘स्मृति-अंक’ ही निकला। वीर सेवा मन्दिर को एक शोध केन्द्र का रूप दिया जाय। दिल्ली में ऐसी संस्था उचित व्यवस्था करने पर बहुत उपयोगी हो सकती है। उसके ग्रंथालय कोस मृद्ध बनाया जाय और लोग अधिकाधिक लाभ उठा सकें, ऐसी सुव्यवस्था की

जाय। अन्त में उनकी जन्म शताब्दी के पुण्य अवसर पर मैं माननीय मुख्तार साहब को सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मेरे प्रति उनका जो वात्सल्य भाव था उसे स्मरण कर गद्गद् होता हूँ। वास्तव में मुख्तार साहब ने अपने जीवन में इतना काम किया कि वे व्यक्ति ही नहीं संस्था बन गये। पुण्य प्रभाव से मुख्तार साहब ने सृष्टि भी अच्छी पाई और स्वास्थ्य भी ठीक रहा। लगन थी ही, अतः वे काफी कार्य कर सके।



ऋषभ वन्दना

अग्निमीडे पुरोहितं यक्षस्य देवमृत्विजम् होतारं रत्नघातमम् ।

अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीउत्रो नूतनेस्त स देवो एह वक्षसि ॥ ऋग्वेद १.१.१.२

ऋषभ वन्दना—

अग्र-नेता आदि ब्रह्मा की
वन्दना के स्वर जगाता हूँ।
विश्व के जो हैं हितेष्ठी,
सर्व कार्यों के शुभारम्भ में
जिन्हें आह्वान करना है जरूरी,
मुक्ति पथ के यात्रियों को जो सदा आदर्श,
त्रिरत्नधारी,

जन्म-मृत्यु से भरे संसार को
हवि के प्रदाता,
दिव्य शक्तिवाँ वे मेरे सान्निध्य में लायें,
आत्म वैभव जागृत करके
मुझे पावन बनाय।
मैं ऋषभ की वन्दना के स्वर जगाता हूँ।
प्रस्तोता : श्री मिश्रीलाल जैन
एडवोकेट, गुना

मुख्तार श्री को बहुमुखी प्रतिभा

□ पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

साहित्य के अनन्य उपासक स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार एक ख्यातिप्राप्त इतिहासकार थे। उनका लौकिक शिक्षण हाई स्कूल तक ही हो सका था। घातक शिक्षण भी एक स्थानीय (सरसावा) छोटीसी पाठशाला में साधारण ही हुआ था। परन्तु वे बाल्यावस्था से ही प्रतिशय प्रतिभाशाली रहे हैं, तर्कणाशक्ति भी उनकी प्रदभुत थी। इसीलिए वे गुरुचिपूर्ण सनन अथर्वसाय से एक आदर्श साहित्यचमूटा और समीक्षक हो सके। उन्होंने जीवन में वह महान् कार्य किया है जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्वानों से सम्भव नहीं हुआ।

जिस समय समाज में रुढ़िवाद प्रबल था, उस समय उन्होंने घोर सामाजिक विरोध का दृढ़ता से सामना करते हुए, भट्टारकों के द्वारा भद्रवाद, कुन्दकुन्द, पूज्यपाद और अकलंक जैसे प्रतिष्ठाप्राप्त पुरातन आचार्यों के नाम पर जो भद्रवादसहिता, कुन्दकुन्द-आवकाचार, पूज्यपाद-आवकाचार और अकलंकप्रतिष्ठा-पाठ आदि ग्रन्थ लिख गये हैं उनका अन्तःपरीक्षण कर उन्हें जैनागम के विरुद्ध सिद्ध किया। समय-समय पर लिखे गये उनके इस प्रकार के निबन्ध 'ग्रन्थ-समीक्षा' के नाम से पुस्तकरूप में ४ भागों में प्रकाशित हुए हैं। उनके इस दृढ़तापूर्ण कार्य को देखकर यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने आचार्य प्रभाचन्द्र की 'त्यजति न विदधानः कार्यमुद्दिश्य धीमान् खलजनपरिवृत्तेः स्पर्धते किन्तु तेन।' इस उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ किया है। उन्होंने जिस विरोधी वातावरण में इस कार्य को सम्पन्न किया है उसमें अन्य किसी को यह माहय नहीं हो सकता था कि उद्युक्त ग्रन्थों को इस प्रकार से अप्रामाणिक घोषित कर सके।

भाष्यकार के रूप में :

उन्होंने सन्मत्तापूर्वक निरन्तर चलने वाले अपने

अध्ययन से जो उत्कृष्ट आध्यात्मिक और सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया, वह आश्चर्यजनक था। इस प्रकार से जो उन्होंने प्रत्येक पाण्डित्य प्राप्त किया उसके बल पर ही स्वयम्भूतोन्न, युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डआवकाचार, तत्त्वानुशासन, देवागमस्तोत्र, कल्याण कल्पद्रुम (एकीभाव-स्तोत्र) और योगसार-प्राभूत जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भाष्य लिखे हैं। ग्रन्थ के अन्तर्गत ग्रन्थ को प्रस्तुत करने वाले उनके इन भाष्यों की भाषा भी तदनुसार सरल और सुबोध है। इन भाष्यों के परीक्षण से ग्रन्थकार के अभिप्राय को समझने में किसी को कोई कष्टनाई नहीं हो सकती। उनकी पद्धति यह रही है कि प्रथमतः ग्रन्थ के विवक्षित श्लोक आदि का नपे-तुने शब्दों में शब्दानुवाद करते हुए यदि उसमें कहीं कुछ विशेष शब्दार्थ की आवश्यकता दिखी तो उसे दो डैजो (—) के मध्य में स्पष्ट कर देना और तत्पश्चात् वाक्यगत पदों की गम्भीरता को देखकर व्याख्या के रूप में तद्गत ग्रन्थाकार के आशय को उद्घाटित कर देना।

मु० सा० कुशाग्रबुद्धि तो थे ही, साथ ही वे अध्ययन-शील भी थे। जब तक वे किसी ग्रन्थ का मननपूर्वक पूर्ण-तया अध्ययन नहीं कर लेते तब तक उसके अनुवादादि में प्रवृत्त नहीं होते थे। आवश्यकतानुसार वे एक-दो बार ही नहीं, बीसो बार ग्रन्थ को पढ़ते थे। साथ ही ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ प्रयुक्त विभिन्न शब्दों के असीम आशय के ग्रहण करने का भी पूरा विचार करते थे। कारण कि इसके बिना ग्रन्थ के मर्म का उद्घाटन नहीं किया जा सकता।

उदाहरणार्थ समीचीन-धर्मशास्त्र—उनके रत्नकरण्ड-आवकाचार के भाष्य—को ही ले लीजिए। वहाँ श्लोक २४ में 'पावण्डी' शब्द का प्रयोग हुआ है^१। इसका प्राचीन

१. योगसार-प्राभूत की प्रस्तावना (पृ० २५) में उन्होंने स्वयं उस ग्रन्थ के सौ से भी अधिक बार पूरा पढ़ जाने की सूचना की है।

२. सप्रन्यारम्भ-हिंसानां संसाराऽऽवर्तवर्तिताम् । पापण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ (स. घ. शा. २४, पृ. ५६)

अर्थ मूल में 'पाप का खण्डन करने वाला (साधु)' रहा है। पर बाद में वह 'धूर्त' या 'ढोमी' अर्थ में रूढ़ हो गया। अब यदि उसके उपर्युक्त अर्थों को न लेकर वर्तमान में प्रचलित 'धूर्त' अर्थ को ले लिया जाय तो प्रकृत श्लोक का अर्थ ही असंगत हो जाता है। कारण कि वहाँ पाखण्डियों के आदर-सत्कार को पाखण्डिमूढता—जो पाखण्डी नहीं है उन्हें पाखण्डी समझ लेना—बतलाया है। अब यदि पाखण्डी का अर्थ 'धूर्त' ग्रहण कर लिया जाता है तो उसका अभिप्राय यह होगा कि जो वास्तव में धूर्त नहीं है, उन्हें धूर्त मानकर उनका धूर्तों जैसा आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डिमूढता है। यह अर्थ प्रकृत में कितना असंगत व विपरीत हो जाता है यह ध्यान देने के योग्य है और जब उसका यथार्थ अर्थ 'पाप का खण्डन करने वाला समीचीन साधु' किया जाता है तब वह प्रकृत में संगत होता है जो ग्रथकार को अभीष्ट भी रहा है। यथा—

“जो परिग्रह, आरम्भ और हिमा में निरत है तथा अवभ्रमण करने वाले कुस्मित कर्णरूपा आर्त—जल की चक्राकार घूमने रूप भँवर—में फँसे हुए है, ऐसे वेपथारी साधुओं को यथार्थ साधु समझकर उनका यथार्थ साधुओं के समान आदर-सत्कार करना, इसका नाम पाखण्डिमूढता—पापप्रवृत्तक यथार्थ साधुविषयक अज्ञान—है।”

इससे पाठक समझ सकते हैं कि श्रद्धेय मुख्तार साहब कितने तलस्पर्शी अध्येता थे। विवक्षित ग्रंथ की व्याख्या के लिए उन्होंने उसके समवक्ष अन्य अनेक ग्रंथों का गम्भीर-पूर्ण अध्ययन किया है। इस सब के व्याख्येय ग्रंथों में जहाँ-तहाँ तुलनात्मकरूप से अन्य कितने ही ग्रंथों के उद्धरण दे सके हैं। साथ ही उन्होंने महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनाओं में भी इस मर्म को उद्घाटित किया है। पर्याप्त चिन्तन के साथ ही उन्होंने विवक्षित श्लोक आदि की व्याख्या की है। ग्रंथ के मर्म को प्रस्फुटित करने के लिए जहाँ जितना आवश्यक था उतना ही उन्होंने लिखा है—अनावश्यक या ग्रंथ के बाह्य उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा।

मुख्तार सा० का यह कार्य इतना विस्तृत है कि उस सबका परिचय कराना अशक्य है। यहाँ मैं केवल उनके अन्तिम भाष्य—योगसार-प्राभूत की व्याख्या—का संक्षेप

में परिचय करा देना चाहता हूँ। यह भाष्य उन्होंने लगभग ८५-८६ वर्ष की अवस्था में लिखा है। उसके पढ़ने से अनुमान किया जा सकता है कि इस वृद्धावस्था में भी—जब कि बहुतों की बुद्धि व इन्द्रियाँ काम नहीं करती—उनकी ग्रहण-धारणशक्ति कितनी प्रबल रही है।

इसकी प्रस्तावना (पृ० १७-१९) में उन्होंने ग्रन्थ के 'योगसार-प्राभूत' इस नाम की सार्थकता को प्रकट करते हुए बतलाया है कि यह नाम योग, सार और प्राभूत इन तीन शब्दों के योग से निष्पन्न हुआ है। इनमें योग शब्दके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए नियमसार (सा० १३७-३९) के आधार से बतलाया है कि आत्मा को रागादि के परित्याग और समस्त सकल्प-विकल्पों के अभाव में जोड़ना—उससे संयुक्त करना, इसका नाम योग है। साथ ही विपरीत अभिप्राय को छोड़कर त्रिगोपदिष्ट तत्त्वों में आत्मा को संयुक्त करना, यह भी योग कहलाता है। योग शब्द का यह अर्थ 'युक्ति आत्मानिमित्त योग' इस निश्चिति के अनुसार किया गया है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि रागादि के साथ समस्त सकल्प-विकल्पों को छोड़कर तत्त्वविचार में सलग होना, इस प्रकार की प्रशस्त ध्यातरूप प्रवृत्ति का नाम योग है।

दूसरा जो सार शब्द है, उसका अर्थ विपरीतता का परिहार—यथार्थता—है (नि० सा० ३)। इस प्रकार 'योगसार' का अर्थ हुआ—विपरीतता से रहित योग का यथार्थ स्वरूप। इसके अतिरिक्त श्रेष्ठ, स्थिराश, सत् और नवनीत, इन अर्थों में भी उक्त सार शब्द का प्रयोग देखा जाता है। तदनुसार 'योगसार' का अर्थ 'योगविषयक कथन का नवनीत' समझना चाहिए। जिस प्रकार दही को त्रिलोक उसके सारभूत अंश नवनीत को निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार अनेक योगविषयक ग्रंथों का मंथन करके उनका सारांशरूप प्रकृत योगसार ग्रंथ है।

तीसरा शब्द प्राभूत है, जिसका अर्थ 'भेट' होता है। तदनुसार जिस प्रकार किसी राजा आदि के दर्शन के लिए जाने वाला व्यक्ति उसे भेट करने के लिए कुछ न कुछ सारभूत वस्तु ले जाता है, उसी प्रकार परमात्मरूप राजा का दर्शन करने के लिए भेटरूप यह ग्रंथकार का प्रकृत ग्रंथ है।

निष्कर्ष यह हुआ कि यथार्थ योगस्वरूप का प्ररूपक यह योगसार-प्राभृत ग्रन्थ ग्रन्थेता के लिए परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाला है।

जयध्वला (१, पृ० ३२५) के अनुसार प्राभृत (प्र+प्राभृत) यह होता है जो प्रकृष्ट अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर द्वारा प्रस्थापित हुआ है, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् विद्यास्वरूप धन से सम्पन्न ऐसे भारतीय आचार्यों के द्वारा धारण किया गया—जिसका व्याख्यान किया गया है—या पूर्व परम्परा से जो लाया गया है।

यह है मूर्तार सा० की सूक्ष्म दृष्टि जो ग्रन्थकार के हृदय को स्पर्श करती है। इस ग्रन्थ-नाम की यथार्थता में ग्रन्थकार को योग शब्द से उपर्युक्त प्रशस्त ध्यान ही अभीष्ट रहा है। यथा—

विविक्तात्मपरिज्ञान योगात् संजायते यतः।

स योगो योगिभिर्गीतो योगनिर्धूतपातकैः॥

—यो० सा० प्रा० ६-१०

अर्थात् योग से कर्म-कालिमा को धो डालने वाले योगियों ने योग उसे ही कहा है जिसके आश्रय से विविक्त—समस्त पर भावों से भिन्न शुद्ध—आत्मतत्त्व का बोध होता है। इस प्रकार, चूँकि वह आत्मावबोध प्रशस्त ध्यान से ही सम्भव है, अतः वही प्रकृत में ग्राह्य रहा है।

इस प्रकार, अपने उक्त सार्थक नाम के अनुसार योग-स्वरूप की प्ररूपणा करने वाला प्रस्तुत ग्रंथ अतिशय मनो-मोहक है; उसकी भाषा सरल व सुनलित है; विषय के प्रतिपादन की शैली भी उत्कृष्ट है। ग्रन्थकार श्री अमित-गति ने भगवान् कुन्दकुन्द के समस्त आध्यात्मिक साहित्य का मनन कर तदनुसार ही इस ग्रंथ को रचा है। उसके बहुत से श्लोकों में समयसारादि ग्रन्थों की छाया स्पष्टतया दृष्टि-गोचर होती है। इसे भाष्यकार ने तुलनात्मक रूप से कही अपनी व्याख्या के मध्य में और कही टिप्पणी के रूप में इतर ग्रन्थगत समान उद्धरणों को देकर स्पष्ट भी कर दिया है।

ग्रन्थ का प्रमुख विषय योग है। उसके विवेचन के लिए जिन प्रासंगिक विषयों का—जीवाजीवादि तत्त्वों का—विवेचन आवश्यक प्रतीत हुआ, उनका भी वर्णन ग्रन्थ में कर दिया गया है। तदनुसार ग्रन्थ इन नौ अधिकारों में विभक्त

है—(१) जीवाधिकार, (२) अजीवाधिकार, (३) प्राज्ञ-वाधिकार, (४) बन्धाधिकार, (५) संवराधिकार, (६) निर्जराधिकार, (७) मोक्षाधिकार और (८) चारित्र्याधिकार। प्रतियों में नौवें अधिकार का कोई विशेष नाम नहीं उपलब्ध हुआ—उसका उल्लेख प्रायः 'नवमाधिकार' के नाम से हुआ है। भाष्यकार ने उसका निर्देश 'चूलिकाधिकार' नाम से किया है। इसका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार से किया है—

"दूसरे अधिकारों की तरह उसका कोई खास नाम नहीं दिया गया, जबकि ग्रन्थसन्दर्भ की दृष्टि से उसका दिया जाना आवश्यक था। वह अधिकार सातों तत्त्वों तथा सम्यक्-चारित्र्य जैसे आठ अधिकारों के अनन्तर 'चूलिका' रूप में स्थित है—अधिकारों के विषय को स्पर्श करता हुआ उनकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख करता है—और इसलिए उसका नाम यहां 'चूलिकाकार' दिया गया है। जैसे किसी मन्दिर (भवन) की चूलिका—चोटी—उसके कल-शादि के रूप में स्थित होती है, उसी प्रकार 'योगसार-प्राभृत' नामक इस ग्रन्थ-भवन की चूलिका—चोटी—के रूप में यह नवमा अधिकार स्थित है, अतः इसे 'चूलिका-धिकार' कहना समुचित जान पड़ता है।"

—(प्रस्तावना पृ० २५)

ग्रन्थगत समस्त श्लोक संख्या ५४० है। विषय का विवेचन अधिकारों के नामानुसार यथास्थान रोचक आध्यात्मिक पद्धति से किया गया है। उसका परिचय भाष्यकार ने प्रस्तावना पृ० २५-३१ में श्लोक संख्या के निर्देशपूर्वक स्पष्टता से करा दिया है।

प्रथम जीवाधिकार के अन्तर्गत आत्मा और ज्ञान के प्रमाण तथा ज्ञान की व्यापकता को बतलाने वाला निम्न श्लोक प्राप्त होता है—

ज्ञानप्रमाणमात्मानं ज्ञानं ज्ञेयप्रमं विदुः।

लोकालोकं यतो ज्ञेयं ज्ञानं सर्वगतं ततः॥१६॥

यह श्लोक प्रवचनसार, गा० १-२३ का प्रायः छाया-नुवाद है^१। इस श्लोक की व्याख्या मूर्तार सा० ने सरलता-पूर्वक विस्तार से की है। आत्मा ज्ञानप्रमाण क्यों है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि

यदि आत्मा को ज्ञान से—आयिक अनन्त केवलज्ञान से—बड़ा माना जाय तो उसका वह बड़ा हुआ अंश ज्ञानविहीन होने से अचेतन (जड़) ठहरेगा। तब वैसी अवस्था में वह ज्ञानस्वरूप कैसे माना जा सकता है? इसके विपरीत, यदि उसे ज्ञान से छोटा माना जाता है तो उस आत्मा से ज्ञान का जितना अंश बड़ा हुआ होगा वह इवाश्रयभूत आत्मा के बिना निराश्रय ठहरता है। सो यह सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण कभी गुणी (द्रव्य) के बिना नहीं रहता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा ज्ञान के प्रमाण है—न उससे बड़ा है और न छोटा भी'।

आगे यह गान ज्ञेय—अपने विषयभूत लोक-अलोक—प्रमाण है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्या में लोक और अलोक के स्वरूप को दिखलाकर कहा गया है कि ज्ञेय तत्त्व लोक और अलोक है, कारण कि उनसे भिन्न अन्य किसी ज्ञेय पदार्थ का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। इसका भी कारण यह है कि जो ज्ञान का विषय है वही तो ज्ञेय कहा जाता है। इस प्रकार की ज्ञान की सीमा के बाहर लोक और अलोक को छोड़कर अन्य किसी ज्ञेय का जब अस्तित्व सम्भव नहीं है तब यह स्वयंसिद्ध है कि ज्ञान अपने विषयभूत लोक-अलोक के ही प्रमाण है।

इस प्रकार, जब यह सिद्ध हो गया कि आत्मा ज्ञान प्रमाण और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है तब चूँकि अलोक सर्व-व्यापक है, अतएव उसको विषय करने वाला ज्ञान भी सर्व-गत सिद्ध होता है। इसका यह तात्पर्य निकला कि आत्मा अपने ज्ञान गुण के साथ सर्वव्यापक होकर लोक के साथ अलोक को भी जानता है। यह स्थिति सर्वज्ञता को प्राप्त सभी केवलज्ञानियों की समझना चाहिए।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आगम में जब जहाँ-तहाँ आत्मा—संसारी आत्मा—को अपने प्राप्त शरीर के प्रमाण ही बतलाया गया है, तथा मुक्त जीवों के आत्मप्रदेश अन्तिम शरीर के प्रमाण से कुछ हीन ही रहते हैं, यह भी कहा गया है; तब उस आत्मा को सर्वगत कहना कैसे संगत होगा? इसके समाधान स्वरूप व्याख्या में यह स्पष्ट किया गया है कि मुक्तात्मायें सभी वस्तुतः स्वात्मस्थित^२—अपने अन्तिम शरीर के आकार में विद्यमान आत्मप्रदेशों में ही स्थित—हैं, उनके बाहर उनका अवस्थान नहीं है, फिर भी आत्मा को जो सर्वगत कहा गया है वह औपचारिक है।

इस उपचार का कारण यह है कि ज्ञान उस दर्पण के समान है जिसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं^३, अर्थात् दर्पण जैसे न तो पदार्थों के पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा वे पदार्थ भी न तो दर्पण के पास आते हैं और न उसमें प्रविष्ट ही होते हैं; फिर भी वे पदार्थ उसमें प्रतिबिम्बित होकर तद्गत से दिखते अवश्य हैं, इसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान भी न तो पदार्थों के पास जाता है और न उनमें प्रविष्ट ही होता है, तथा पदार्थ भी न ज्ञान के पास आते हैं और न उसमें प्रविष्ट भी होते हैं; फिर भी वे उस ज्ञान के विषय अवश्य होते हैं—उनके द्वारा निश्चित ही जाने जाते हैं। यह वस्तु स्वभाव ही है—जिस प्रकार दर्पण और पदार्थों की इच्छा के बिना ही उसमें उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञान और पदार्थों की इच्छा के बिना ही उस केवलज्ञान के द्वारा अलोक के साथ लोक में स्थित सभी पदार्थ जाने जाते हैं। इस प्रकार, विषय की व्यापकता से विषयी ज्ञान को भी

१. इस स्पष्टीकरण की आधारभूत प्रवचनसार की अगली ये तीन गाथायें रही हैं—

णाणप्पमाणमादा ण ह्वदि जस्सेह तस्स तो आदा । हीणो वा अघिणो वा णाणादो ह्वदि धुवमेव ॥२४॥

हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदं ण जाणादि । अघिणो वा णाणादो णाणेण विणा क्हं णादि ॥२५॥

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जग्गि अट्ठा । णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा ॥२६॥

२. स्वात्मस्थितः सर्वगतः समस्तव्यापारवेदी विनिवृत्तसगः । प्रवृद्धकालोऽप्यजरो वरेण्यः पायादपायात् पुरुषः पुराणः ॥
(विषापहार १)

३. नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने । सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्यादपेणायते ॥ (२० क० आ० १)

तज्जयति पर ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः । दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमानिका यत्र ॥(पु०सि० १)

सर्वव्यापक कहा गया है'।

दूसरे अजीवाधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार धर्मादि द्रव्यों के उपकार को बतलाकर (१५-१७) आगे यह कहा गया है—

पदार्थानां निमग्नानां स्वरूपे [-पे] परमार्थतः ।

करोति कोऽपि कस्यापि न किञ्चन कदाचन ॥

यहां 'परमार्थतः' पद पर बल देते हुए व्याख्या में उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि यह जो उपकार का कथन है वह व्यवहार नय के आश्रित है। निश्चयनय की अपेक्षा सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूप में निमग्न होकर स्वभाव परिणमन ही करते हैं—उनमें से कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का उपकार-अपकार नहीं करता। इन द्रव्यों में धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभाव में परिणत रहते हैं, इसलिए वे वस्तुतः किसी का भी उपकार नहीं करते। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य वैभाविकी शक्ति से सहित होने के कारण स्वभाव और विभाव दोनों प्रकार का परिणमन करते हैं। जीवों में जीव विभाव परिणमन होता है वह कर्म तथा शरीरादि के सम्बन्ध से समांगी जीवों में ही होता है—मुक्त जीवों में कर्म और शरीर का अभाव हो जाने के कारण वह नहीं होता, उसमें केवल स्वभाव परिणमन ही होता है। पुद्गलों में से परमाणुओं में स्वभाव परिणाम और स्कन्धों में विभाव परिणमन होता है।

पञ्चास्तिकाय (७४-७५) आदि ग्रन्थों में जो पुद्गल के स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु इस प्रकार चार भेद निर्दिष्ट किये गये हैं तथा उनका स्वरूप भी कहा गया है, वह उसी प्रकार प्रकृत ग्रन्थ में भी (२-१६) संक्षेप से कहा गया है। इसकी व्याख्या में भाष्यकार ने उसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि सख्यात, असंख्यात, अनन्त अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्डरूप वस्तु को स्कन्ध कहा जाता है। स्कन्ध का एक-एक परमाणु करके खण्ड होते-होते जब वह आधा रह जाता है तब वह देश स्कन्ध कहलाता है। इसी क्रम से जब यह देश स्कन्ध आधा रह जाता है तब वह प्रदेश स्कन्ध कहलाता है। प्रदेश स्कन्ध के खण्ड होते-होते जब उसका खण्ड होना सम्भव नहीं रहता तब वह परमाणु कहलाता है। इस प्रकार, मूल स्कन्ध के उत्तरवर्ती और देश स्कन्ध के पूर्ववर्ती जितने भी खण्ड होंगे उन सबको स्कन्ध ही कहा जाता है। इसी प्रकार, देश स्कन्ध आदि नामों का क्रम भी जानना चाहिए^१।

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि मूलतः सा० ने जितने ग्रन्थों का भाष्य लिखा है वह उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है—वे इस महत्वपूर्ण कार्य में सर्वथा सफल रहे हैं। उनके इन भाष्यों से ग्रन्थों का महत्व और भी बढ़ गया है। इन भाष्यों के आधार से सर्वसाधारण उन ग्रन्थों के मर्म को भली भाँति समझ सकते हैं। □□□

१. इस व्याख्या का आधार आचार्य अमृतचन्द्र की वृत्ति रही है—ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्य-पर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्ताम्, तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद् भगवानपि सर्वगत एव। एव सर्वगतज्ञानविषयत्वात् सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाध्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात् तद्गता एव भवन्ति। तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणमीक्यसवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते। तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानबलोभय सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिष्ठत्वात्। अयं क्रमो जानेऽपि निश्चेयः। (प्रवचनसार १-२६)।
२. इस व्याख्या का आधार पञ्चास्तिकाय की यह जयसेनवृत्ति रही है—समस्तोऽपि विवक्षितघट-पटाद्यखण्डरूपः सकल इत्युच्यते, तस्यानन्तपरमाणुपिण्डस्यस्कन्दसज्ञा भवति। तत्र दृष्टान्तमाह—षोडशपरमाणुपिण्डस्य स्कन्द-कल्पना कृता तावत् एकैकपरमाणोरपनयेन नवपरमाणुपिण्डे स्थिते ये पूर्वविकल्पा गतास्तेऽपि सर्वे स्कन्दा भण्यन्ते। अष्टपरमाणुपिण्डे जाते देशो भवति, तत्राप्येकैकापनयेन पञ्चपरमाणुपर्यन्तं ये विकल्पा गतास्तेषामपि देशसज्ञा भवति। परमाणुचतुष्टयपिण्डे स्थिते प्रदेशसज्ञा भण्यते, पुनरप्येकैकापनयेन द्वयणुकस्कन्दे स्थिते ये विकल्पा गतास्तेषामपि प्रदेशसज्ञा भवति।.....परमाणुश्चैवाविभागीति। (पञ्चास्तिकाय ७५)

मुख्तार श्री : व्यक्तित्व और कृतित्व

□ श्री परमानन्द जैन शास्त्री

मुख्तार श्री जुगल किशोर जी का जन्म का नूनगोयान वंश में मगसिर सुदी एकादशी सं० १८३४ में सरसावा में हुआ था। उनके पिता का नाम चौधरी नत्थूमल था और माता का नाम भूदेवी था। मुख्तार साहब बाल्यकाल से पढ़ने में चतुर थे। उन्होंने उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी में मॅट्रिक की परीक्षा पास की थी। पढ़ने की रुचि अधिक थी। अनएव धार्मिक ग्रन्थों का भी अध्ययन किया। शुरू में मुख्तारकारी का काम सहरानपुर में किया, किन्तु बाद में देवबन्द चले गए और वहाँ अपना कार्य करने लगे। उनका विवाह हो गया और वे गार्हस्थ्य-जीवन बिताने लगे। कुछ समय बाद उन्हें वकादत से घृणा हो गई और उन्होंने उसका परित्याग कर दिया।

आचार्य जुगल किशोर मुख्तार इस युग के साहित्य तपस्वी और जैन साहित्य और इतिहास के वयोवृद्ध विद्वान लेखक थे। वे पक्के सुधारक, स्वाभिमानी, अपनी बात पर अडिग, प्रतिभा के धनी और समीक्षक थे। उनकी प्रतिभा तर्क की कसौटी पर कसकर ही किसी बात को स्वीकार करती थी। वह जो कुछ भी लिखते, निडर होकर लिखते, दूसरे के लेखों में कमी या विरुद्धता पाते तो उसका निराकरण करते। उनकी भाषा कुछ कठोर होती तो भी वे उसे सरल नहीं बनाते। हा, वे जो कुछ लिखते थे उसे बराबर सोच समझकर लिखते। उसमें विलम्ब भले ही हो जाता, पर वह सम्बद्ध विचारधारा से प्रतिकूल नहीं होता था। मुझे उनके साथ सरसावा और दिल्ली में बीर सेवा मन्दिर में काम करने का वर्षों अवसर मिला है। जो लेख वे लिखना चाहते थे उन पर वे पहले चर्चा कर लेते थे, और फिर लिखने बैठते। लेख पूरा होने पर या कभी-कभी तो अधूरा लेख ही सुना देते या पढ़ने को दे देते थे। उसके सम्बन्ध में वे जो कुछ पूछते व प्रमाण मांगते वह यथा संभव मैं उन्हें तलाशकर देता था।

कभी-कभी वे रात को दो वजे लिखने बैठ जाते, तब मुझे आवाज देकर बुलाते और मैं आकर उन्हें यथेष्ट ग्रंथ या प्रमाण निकालकर दे देता। वे लिखना प्रारम्भ करते और उसे पूरा करने में लगे रहते, उठने-बैठने सदा उसी का विचार करते रहते थे। उसके पूरा होने पर ही वे विराम लेते। फिर मुझे उसकी कापी करने को देते और कापी होने पर वे उसे छपने को भिजवाते थे। जब मैं कोई लेख लिखता तो उन्हें जरूर सुनाता। सुनकर वे जो कुछ निर्देश करते उसके अनुसार ही उसे पूरा कर उन्हें दे देता। इससे लेख में प्रामाणिकता आ जाती और अशुद्धिवा भी नहीं रहती थीं।

यद्यपि मुख्तार साहब की प्रकृति में नीरसता थी और वह कभी-कभी कठोरता में भी परिणत हो जाती थी तथा कषाय का आवेश भी उनमें भूँभूलाहट उत्पन्न करता, पर वे उसे बाहर प्रकट नहीं करते थे। अवसर आने पर उसका प्रभाव अवश्य कार्य करता था। वे इतिहास की दृष्टि में असम्प्रदायिक थे। उन्हें सम्प्रदाय से इतना व्यामोह नहीं था, वे सत्य को पसन्द करते थे। प्रमाण व युक्ति से जो बात सिद्ध होती थी, उसे कभी भी बदलने को तैयार नहीं होते थे। अनेक अवसरों पर वे इस बात में खरे थे। प्रमाण-विरुद्ध बात को कभी स्वीकार नहीं करते थे और न सुनी सुनाई बातों पर आस्था ही करते थे। जैसे कोई दार्शनिक या वकील अनेक तरह की दलीलें देकर मुकदमा या विवाद को जीतने का प्रयत्न करता है, वैसे ही मुख्तार साहब भी प्रमाणों के आधार पर अपना अभिमत व्यक्त करते यथवा लेख का निष्कर्ष निकालते थे। इसलिए उनके लेख विद्वत-जगत में ग्राह्य और प्रमाण रूप में माने जाते हैं। वे अपनी सूक्ष्म विचार धारा एवं आलोचना और समीक्षात्मक दृष्टि से पदार्थ पर गहरा चिन्तन तथा मनन करते थे। उनके समीक्षा ग्रंथ भी इसी बात के द्योतक

हैं। भट्टारकों की अधार्मिक प्रवृत्तियों और आम्नाय विरुद्ध चर्चाओं पर उन्होंने जो समीक्षाएँ लिखी हैं, वे जैन समाज में प्रमाण रूप से मानी जाती हैं और अभी समाज में उनकी अवश्यकता बनी हुई है। यद्यपि वे अप्राप्य हैं किन्तु भावी पीढ़ी के लिए वे अधिक प्रमाणभूत होंगी भविष्य के विचारकों को वे पथ प्रदर्शन का काम अवश्य करेंगी। समीक्षा ग्रन्थ लिखकर उन्होंने विद्वानों के लिए आलोचना का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। अब कोई भी विद्वान निर्भय होकर आर्य मार्ग के विरुद्ध ग्रन्थों की समीक्षा कर सकता है।

आपने कभी कोई लेख भट-पट नहीं लिखा। सम्मति तर्क के कर्ता सिद्धसेन दिवाकर पर जो 'सम्मति-सूत्र और सिद्धसेन' नाम का निबन्ध मुख्तार सा० ने लिखा है और वह अनेकान्त वर्ष ६ की किरण ११-१२ में प्रकाशित हुआ है। वह कितना युक्ति-पुरस्सर है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं, पाठक उसे पढ़कर स्वयं अनुभव कर सकते हैं। उसमें जो युक्तियाँ दी गई हैं, उनका उत्तर आज तक भी नहीं दिया गया। खीचा-तानी की जा सकती है, पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर मुख्तार साहब का लिखना युक्ति-संगत और प्रमाणभूत है यह स्वयं अनुभव में आ जाता है। उसमें तथ्यों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं गया है प्रत्युत वास्तविक तथ्यों को देने का उपक्रम किया गया है। मुख्तार सा० की समीक्षात्मक दृष्टि बढ़ी पैनी और तर्कशालिनी है। समीक्षा लेखों के अतिरिक्त शोध-खोज लेख भी उनके महत्वपूर्ण हैं; उदाहरण के लिए 'स्वामी पात्रकेशरी और विद्यानन्द' वाला लेख कितने विचारपूर्ण और नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाने वाला है। उसमें उन दोनों को एक समझने वाली आति का उन्मूलन कर वस्तुस्थिति को स्पष्ट किया गया है। इसी तरह भगवान् महावीर और उनका समय वाला लेख भी सम्बद्ध और प्रामाणिक है। यद्यपि उनके लेख कुछ विस्तृत हैं पर वे रोचक और वस्तुस्थिति के यथार्थ निदर्शक हैं। इसी तरह श्वेताम्बर-तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जाँच, तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की एक सटिप्पण प्रति, समन्त-भद्र का मुनि जीवन और आपात्काल, समन्तभद्र का समय और डा० के० बी० जो पाठक, सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र

का प्रभाव, जैन तीर्थंकरों और जैनाचार्यों का शासन भेद, आदि लेख भी वस्तुतत्त्व के उद्बोधक हैं। लेखों की भाषा भी प्रौढ़ और सम्बद्ध एवं स्पष्ट है।

उपासना सम्बन्धी लेख भी उनके कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे भक्तियोग पर अच्छा प्रकाश डालते हैं और निष्काम-भक्ति की महत्ता के हार्द को प्रस्फुटित करते हैं। भक्तिपरक निबन्धों में उपासनातत्त्व, उपासना का ढंग, भक्तियोगरहस्य, वीतराग की पूजा क्यों? और वीतराग की प्रार्थना क्यों है, जिनमें भक्ति के स्वरूप का सुन्दर विवेचना किया गया है और निष्काम भक्ति से होने वाले सुखद परिणाम का अच्छा चित्रण किया गया है। उन्होंने सिद्धि को प्राप्त शुद्धात्माओं की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम 'भक्तियोग' अथवा भक्ति मार्ग बतलाया है वह यथार्थ है। पूजा, भक्ति, उपासना, आराधना, स्तुति, प्रार्थना, वन्दना और श्रद्धा सब उसी के नामान्तर हैं। अन्तर्दृष्टि पुरुषों के द्वारा आत्मगुणों के विकास को लक्ष्य में रखकर गुणानुराग रूप जो भक्ति की जाती है वही आत्मोत्कर्ष की साधक होती है। लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, यश, भय और रूढ़ि आदि के वश होकर जो भक्ति की जाती है उसे प्रशस्त अध्यवसाय की साधक नहीं कहा जा सकता, और न उससे संचित पापों का नाश, या आत्म गुणों का विकास ही हो सकता है। स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् दार्शनिक आद्यस्तुतिकार ने भी परमात्मा की स्तुति रूप भक्ति को कुशल परिणाम की हेतु बतलाकर उसके द्वारा श्रेयोमार्ग को सुलभ और स्वाधीन बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि वीतराग परमात्मा की यथार्थ भक्ति केवल परिणामों की कुशलता की ही सूचक नहीं, प्रत्युत आत्म-सिद्धि की सोपान है—घातिकर्म का विनाश कर निरंजन भाव की साधिका है। अस्तु, मुख्तार साहब ने जो कुछ लिखा, वह आचार्यों द्वारा प्रतिपादित परम्परा से लेकर लिखा है। उन्होंने उसमें अपनी तरफ से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नहीं किया; किन्तु उसके भाव को अपने शब्दों एवं भावों के भाषा-सौष्ठव के साथ प्रकट किया है।

आपके सामाजिक लेख क्रांति के जनक हैं। आप के उन लेखों से जैन समाज में क्रांति की धारा बह चली।

उनसे समाज में क्रांति तो जरूर हुई किन्तु वह अस्थायी रही। सामाजिक लेखों में, जैनियों में दया का भाव, जैनियों का अत्याचार, नौकरों से पूजा कराना, जैनी कौन हो सकता है, जाति-पंचायतों का दण्ड-विधान, जातिभेद पर आचार्य प्रतिगति, विवाह समुद्देश आदि लेख समाज में जागृति लाने वाले हैं। इन लेखों में उस समय की कुत्सित प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए समाज में नव जीवन लाने के लिये आडम्बरयुक्त प्रवृत्तियों को अनुचित बतलाया तथा यह भी लिखा कि हृदय की शुद्धि के बिना बाह्य प्रवृत्तियाँ मिथ्या हैं, निस्तार है, उनका जीवन में कुछ भी उपयोग नहीं।

पत्र सम्पादक :

मुख्तार साहब सन् १९०७ में 'जैन गजट' के सम्पादक बनाये गये। उस समय के आपके सम्पादकीय लेख देखने से पता चलता है कि उस समय आप में लेखन कला और सम्पादन कला का विकास हो रहा था। उसके बाद वे 'जैन हितैषी' के सम्पादक बनाये गए। उस समय आपकी विचार धारा प्रौढ़ और लेखों की भाषा भी परिमार्जित थी तथा विचारों में गहनता और ऐतिहासिकता आ गई थी। उस समय आपने 'पुरानी बातों की खोज' शीर्षक से अनेक लेख लिखे। सन् १९२६ में आपने दिल्ली के करोलबाग में 'समन्तभद्राश्रम' की स्थापना की और 'अनेकान्त' पत्र को जन्म देकर उसका सम्पादन-प्रकाशन किया। आपकी सम्पादन कला निराली है। वह अपनी ही विशेषता रखती है। 'अनेकान्त' के प्रथम वर्ष में प्रकाशित आपके लेख ऐतिहासिक दृष्टि से वस्तु तत्त्व के विवेचक और मूल-भ्रातियों के उन्मूलक थे। उस समय आप की ऐतिहासिक विचार धारा प्रौढ़ बन गई थी। 'अनेकान्त' में आपके अनेक शोधपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। कितने ही लेख समीक्षात्मक, उत्तरात्मक, दार्शनिक और विचारात्मक लिखे गये। आप के ये सब लेख पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। पाठकों को उनका अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिये।

इतिहास लेखन :

मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र का इतिहास लिखा, जो पं० नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई को समर्पित

किया गया था और जिसका प्रकाशन सन् १९२५ में हुआ था। सन् १९२५ से पहले किसी भी जैन विद्वान ने किसी भी आचार्य के सम्बन्ध में ऐसा खोजपूर्ण इतिहास ग्रन्थ लिखा हो, यह मुझे ज्ञात नहीं, जैसा कि मुख्तार साहब ने स्वामी समन्तभद्र का इतिहास ग्रन्थ लिखा। मुख्तार साहब को रत्नकरण्ड-श्रावकाचार की प्रस्तावना और समन्तभद्र के इतिहास को लिखने में पूरे दो वर्ष का समय लगा। प्रस्तावना और इतिहास दोनों ही शोधपूर्ण हैं। उसके लिए मुख्तार साहब ने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया। दिल्ली की आर्किलाजिकल डिपार्टमेंट की लाइब्रेरी से एपिग्राफिया इंडिका और कर्णाटिका, अनेक जर्नल और कनिष्क के आदि पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थों का आलोचन कर अनेक उपयोगी नोट्स लिये और सरसावा में बैठकर बड़े भारी परिश्रम से समन्तभद्र का इतिहास लिखा। इसमें लेखक ने आचार्य समन्तभद्र के मुनि जीवन पर अच्छा प्रकाश डाला। भस्मक व्याधि के समय आपात्काल में उन्होंने अपनी साधुचर्या का किस कठोरता और दृढ़ता से पालन किया और रोगोपशान्ति के बाद जैन शासन की सर्वोदयी धारा को कैसे प्रवाहित किया और भगवान महावीर के शासन की हजार गुणी वृद्धि की, आदि का विस्तृत वर्णन है। साथ में, उनकी महत्वपूर्ण कृतियों का भी परिचय कराते हुए उनके समयादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आचार्य समन्तभद्र का समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है। इस इतिहास के प्रकाशित होने के बाद भी वे उनके सम्बन्ध में अन्वेषण करते हुए लिखते रहे हैं। समन्तभद्र पर उनकी बड़ी आस्था जो थी। समन्तभद्र का यह इतिहास ग्रन्थ अप्राप्य है। अतः इसका पुनः प्रकाशन होना चाहिए, और परिशिष्ट में समन्तभद्र के सम्बन्ध में जो सामग्री प्रकाश में आई है उसे यथा स्थान दिया जाना चाहिए।

व्यक्तित्व :

मुख्तार साहब का व्यक्तित्व महान है। उनमें सहिष्णुता और कार्य क्षमता अधिक है। वे श्रम करने में जितने दक्ष और उत्साही थे, विरोधियों के विरोध सहने या पचाने में उतने ही सक्षम थे। सन् १९१० में खतीली के दस्ते और बीसों के पूजाधिकार-विषयक ऐतिहासिक मुकदमे में

आपने गुरुवर्य गोपाल दास जी वरैया ने दस्तों की ओर से गवाही दी थी, तब आप स्थिति पालकों के रोष के भाजन बनें, तथा धर्म विरोधी घोषित किये गये और जाति बहिष्कार की घमकी के पात्र हुए। उस समय आपने 'जिन पूजाधिकार-मीमांसा' नाम की एक पुस्तक लिखी थी, जिसमें जिनपूजा, पूजक और उसका अधिकार और फल पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। जहाँ वे प्रबल सुधारक थे, वहाँ कर्मठ अध्वजसायी भी थे और अपने विचारों में चट्टान की तरह अडिग रहने वाले थे। सन् १९१७ में ग्रन्थ परीक्षा के दो भाग प्रकाशित हुए। इनमें से प्रथम भाग में उमास्वामी श्रावकाचार, कुन्दकुन्द श्रावकाचार और जिनसेन त्रिवर्णाचार इन तीन ग्रन्थों की परीक्षा की गई है और दूसरे भाग में भद्रबाहुमहिता की परीक्षा की गई है। इसमें ग्रन्थ के अन्तरंग परीक्षण के साथ प्रत्येक अध्याय का वर्ण्य विषय, तुलनात्मक अध्ययन और ग्रन्थ में असम्बद्ध, अव्यवस्थित तथा विरोधी तथ्यों का स्पष्टीकरण किया गया है। इसमें लेखक की तटस्थ वृत्ति और विषय का प्रतिपादन श्लाघनीय है।

ग्रन्थ परीक्षा, तृतीय भाग में, जो सन् १९५१ में प्रकाशित हुआ है, भट्टारक सोमसेन के त्रिवर्णाचार, धर्म परीक्षा, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और पूज्यपाद उपासकाचार की परीक्षा अंकित है। सोमसेन द्वारा इस त्रिवर्णाचार में वैदिक सस्कृति के हारीति पाराशर और मनु आदि विद्वानों के ग्रन्थों के अनेक पद्य ज्यों के त्यों उठाकर रखे गए हैं। मुख्तार साहब के गम्भीर अध्ययन ने ग्रन्थ की अप्रामाणिकता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है। भट्टारक सोमसेन ने जैन संस्कृति के आचार मार्ग को कलंकित किया था। मुख्तार साहब ने ग्रन्थ परीक्षा द्वारा उस कलंक को धोकर जैन संस्कृति को पुनः समुज्ज्वल किया। ग्रन्थ परीक्षा की उनकी यह स्वतंत्र विचारधारा विद्वानों के द्वारा अनुकरणीय है।

ग्रन्थ परीक्षा का चतुर्थ भाग सन् १९३४ में प्रकाशित हुआ है। इसमें 'सूर्य प्रकाश' ग्रन्थ का परीक्षण किया गया है जिसमें आर्य विरुद्ध एवं असबद्ध बातों का दिग्दर्शन कराते हुए तथा अनुवाद सम्बन्धी त्रुटियों का उद्घाटन करते हुए उसे अप्रामाणिक ठहराया है।

इस तरह मुख्तार साहब के ये चारों परीक्षा ग्रन्थ महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

इन परीक्षा ग्रन्थों के प्रकाशन के समय जैन समाज में जो बवंडर उठा, उसमें मुख्तार साहब को धर्म विघातक बतलाया गया, अनेक घमकी भरे पत्र मिले, पर मुख्तार साहब घबड़ाये नहीं, बिना सोचे-रामभे ही समाज में क्षोभ की लहर फैली, अनेक स्थिति-पालकों ने विविध प्रकार के दोषारोपण किये। उस समय भी आपने साहस और धैर्य से काम लिया। उनकी सहनशीलता ने उन्हें जो शक्ति प्रदान की, उससे विरोधियों को मुंह की खानी पड़ी और धीरे-धीरे वे विरोधी जन भी उनके प्रशंसक बन गए।

सन् १९२२ में जब विवाह-समुद्देश नाम का ट्रेक्ट प्रकाशित हुआ, तब उसके उत्तर में 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नाम का लेख लिखा गया, जिसके उत्तर में मुख्तार साहब ने सन् १९२५ में 'विवाह-क्षेत्र प्रकाश' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' का जोरदार खण्डन करते हुए अनेक प्रमाणों द्वारा अपनी पूर्वमान्यता को पुष्ट किया। सन् १९२२ में 'जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरों का शासन भेद' नाम की पुस्तक लिखी, जिसमें जैनाचार्यों और जैन तीर्थंकरों के शासन भेद का स्पष्ट विवेचन किया। पर किसी विद्वान को मुख्तार साहब के खिलाफ लिखने का साहस नहीं हुआ, क्योंकि मुख्तार साहब ने अपनी लौह लेखनी से जो भी लिखा वह सब सप्रमाण और सयुक्तिक लिखा था। इस कारण विरोधी जनों को अप्रिय एवं अरुचिकर होते हुए भी वे उसका प्रतिवाद करने में सर्वथा असमर्थ रहे। उनके युक्ति-पुरस्सर लेख को देखकर विरोधियों को विरोध करने का साहस भी नहीं होता था। इससे पाठक मुख्तार साहब की लेखनी की महत्ता को सहज ही समझ सकते हैं।

मुख्तार साहब की महत्ता जैन धर्म पर उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा और संयमाराधन की उत्कट भावना में है। वे ज्ञान के साथ चारित्र्य को भी महत्व देते थे और जितना उनसे हो सकता था उसे वे जीवन में करते रहे। वे स्वामी समन्तभद्रोदित सप्तम प्रतिमा का अनुष्ठान करते थे और त्रिकाल सामयिक करना अपना कर्तव्य मानते थे। वे रात-दिन साहित्य-साधना में संलग्न रहते थे। इसी से

सामाजिक और व्यक्तिगत बुराइयों से बचे रहते थे। मैंने उन्हें कभी दूसरों की निन्दा करते हुए नहीं देखा। वे कर्मठ अचपकसादी और साहित्य तपस्वी थे, साहित्य सृजन के प्रति उनकी अद्भुत लगन थी। यद्यपि उनके जीवन में रुढ़ता और कृपणता दोनों का सामंजस्य था, वे एक पैसा भी फिज़ूल खर्च नहीं करते थे। यद्वातद्वा खर्च करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध था, वे उपयोगिता को देख कर खर्च करते थे। वे मितव्ययी थे और जो खर्च करते थे, उसका पाई-पाई का पूरा हिसाब भी रखते थे। राष्ट्र एवं देश के नेताओं के प्रति उनकी महती आस्था थी। महात्मा गांधी के निघन पर 'गांधी स्मारक निधि' के लिए आपने स्वयं एक सौ एक रुपया दिया और पांच-पांच दिन का वेतन अपने विद्वानों से भी दिलावाया था। कांग्रेस के प्रति भी उनकी अच्छी निष्ठा थी। वे मूल कातकर चर्खा मघ को देते और बदले में खादी लेकर कपड़ा बनवाते थे।

कृतित्व :

उनका रहन-सहन सादा था। अधिकतर वह गाढ़े का प्रयोग किया करते थे। राष्ट्र की सुरक्षा में भी उन्होंने राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी के पास एक सौ रुपया भेजा था। वे साहित्य रसिक थे और उसमें ही रचे-पचे रहते थे।

उन्होंने सन् १९१६ में 'मेरी भावना' नाम की एक कविता लिखी, जो राष्ट्रीय गीत के रूप में पढ़ी जाती है। यह कविता बड़ी लोकप्रिय हुई। इसके विविध भाषाओं में अनुवादित अनेक संस्करण निकले। लाखों प्रतियां छपी। उसके कारण लाखों व्यक्ति मुख्तार साहब के परिचय में आये और वे सदा के लिए अमर बन गये। पाठकों को जानकारी के लिए मेरी भावना के तीन पद्य नीचे दिये गये हैं :—

संजो भाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे,
दोन-दुःखी जीवों पर मेरे उर से कहुना खोत बहे।
दुर्जन क्रूर-कुमारगैरतों पर सोम नहीं मुझको आवे,
साम्यभाव रखूं मैं उन पर ऐसी परिणति हो जावे ॥

× × × ×
कोई बुरा कहो या अच्छा, लक्ष्मी आवे या जावे,
लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु प्राण ही आ जावे।

अथवा कोई कंसा ही भय या तालच देने छाने,
तो भी न्यायमार्ग से मेरा कभी न पव डिगने पावे।

× × × ×

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे,
बैर-पाप अभिमान छोड़ जग नित्य नये मंगल गावे।
घर-घर चर्चा रहे धर्म की पुष्कृत पुष्कर हो जावे,
ज्ञान चरित उन्नति कर अपना मनुज जन्म फल सब पावे ॥

मुख्तार साहब ने 'मेरी भावना' के पद्यों में अनेक आप्रग्रन्थों का सार भर दिया है। पद्यों में जहाँ शब्द योजना उत्तम है वहाँ भाव भी उच्च और रमणीय है।

मुख्तार साहब केवल गद्य लेखक ही नहीं थे किन्तु कवि भी थे। आपकी कविता हिन्दी और संस्कृत दोनों भाषाओं में मिलती है। कवि भावुक होते हैं और वे कविता की उड़ान में अपने को भूल जाते हैं। पर मुख्तार साहब की गणना उन कवियों में नहीं होती; क्योंकि उनकी कविता केवल कल्पना पर आधारित नहीं है।

मुख्तार साहब की कविताओं का आधार संस्कृत के वे पद्य हैं जो विभिन्न आचार्यों द्वारा रचे गये हैं। घटना-क्रम की कविता 'अज सम्बोधन' है जिसमें बद्ध भूमि को जाते हुए बकरे का चित्रण किया गया है। उसमें उसका सजीव भाव समाया हुआ है। आपकी हिन्दी की कविताओं में मानव धर्म वाली कविता में, अछूतोंद्वारा को भावना का सजीव चित्रण है—उसमें बतलाया गया है कि मल के स्पर्श से कोई अछूत नहीं होता। मल-मूत्र साफ करने का कार्य तो मानव अपने जीवन काल में कभी न करता ही है। फिर बेचारे इन अछूतों को ही मल-मूत्र उठाने के कारण अपवित्र क्यों माना जाता है—

गर्भवास और जन्म समय में कौन नहीं अस्पृश्य हुआ ?
कौन मलों से भरा नहीं किसने मल-मूत्र न साफ किया ?
किसे अछूत जन्म से तब फिर कहना उचित बताते हो ?
तिरस्कार भंगी-चमार का करते क्यों न लजाते हो ॥४॥
संस्कृत की कविता, 'मदीया ब्रह्म पूजा', वीर स्तोत्र और समन्तभद्र स्तोत्र आदि हैं। समन्तभद्र स्तोत्र की कविता का एक पद्य नीचे दिया जाता है—

वैवज-मान्त्रिक-भिषम्बर-ताम्रिको यः
सारस्वतं सकलसिद्धिगत च यस्य।

मान्यः कश्चिगर्भकवानिमिश्रोमणिः

वायोश्चरो जयति वीरसमन्तभद्रः ॥

‘प्रनित्य भावना’ आचार्य पद्मनन्दी की कृति है जिसका आपने सन् १९१४ में पद्यानुवाद किया था। उसके एक श्लोक का पद्यानुवाद नीचे दिया जाता है—

एक दिवस भोजन न मिले, या नींद न निशि को आवे,
अग्नि सभीपी अम्बुज दल सम, यह शरीर मुरझावे।
शास्त्र व्याधि जल आदिक से भी, यह शरीर मुरझावे,
चेतन क्या फिर बुद्धि देह में, विनशत अचरण को है।

इसी तरह आचार्य देवनन्दी की ‘सिद्धि-भक्ति’ का पद्यानुवाद भी सुन्दर हुआ है, जो ‘सिद्धि-सोपान’ के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। वह सुन्दर और कण्ठ करने योग्य है; यथा—

स्वात्मभाव की लब्धि ‘सिद्धि’ है, होती वह उन दोषों के
उच्छेदन से, अच्छहाक जो ज्ञानादिकगुण-बुद्धों के।
योग्य साधनों की सुयुक्ति से, अग्नि प्रयोगादिक द्वारा,
हेम-शिला से जग मे जैसे हेख किया जाता न्यारा ॥

इस तरह मुस्तार साहब की पद्य रचनाएं सभी सुन्दर और भावपूर्ण हैं।

व्याख्याकार या भाष्यकार :

आपकी समस्त कृतियों की संख्या ३०-३५ है जिनमें कुछ छोटे-छोटे ट्रैक्ट भी हैं। उनमें से आपने जिनका अनुवाद तथा सम्पादन किया है, उनके नाम इस प्रकार हैं:— पुरातन जैन-वाक्य-सूची, बृहत्स्वर्यभूस्तोत्र युक्त्यनुशासन, अध्यात्मरहस्य, समीचीनधर्मशास्त्र, सत्साधुस्मरण मंगलपाठ, प्रभाचन्द्र का तत्त्वार्थसूत्र कल्याणकल्पद्रुम, तत्त्वानुशासन, देवागम, (प्राप्तमीमांसा) योगसार प्राभूत और जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह (प्रथम भाग), समाधितत्र।

आपकी इन कृतियों का अध्ययन करने से स्पष्ट पता चलता है कि मुस्तार साहब ने इन ग्रन्थों के अनुवाद, सम्पादन, प्रस्तावनादि लिखने में पर्याप्त श्रम किया है। मूलानुगामी अनुवाद के साथ व्याख्या या भाष्य द्वारा ग्रन्थ के मर्म को स्पष्ट किया गया है। भाष्यकार को मूल लेखक की प्रवेक्षा उसके हृद को स्पष्ट करने के लिए विशेष परिश्रम और प्रतिभा का उपयोग करना पड़ता

है, मूल ग्रन्थकार के भावों को अनुष्ण रखते हुए उनकी सरल और स्पष्ट व्याख्या करनी पड़ती है, मूल ग्रन्थ की तह में (गहराई में) छिपे हुए तथ्यों को प्रकाश में लाने के लिए भाष्यकार को तलस्पर्शी पाण्डित्य के साथ तथ्यों का विश्लेषण करना अनिवार्य होता है। मूल ग्रन्थकार के द्वारा प्रयुक्त शब्द किन-किन स्थानों में और किस-किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसके लिए मूल ग्रन्थ का गहराई से पारायण करना पड़ता है। भाष्य लिखते समय मूल ग्रन्थ के शब्द को सामने रखते हुए वाच्य-वाचक सम्बन्ध, अभिचेय, सवेदन और वाक्यार्थ को अभिव्यंजना का परि-ज्ञान आवश्यक होता है। तभी भाष्यकार मूल ग्रन्थ के गंभीर अर्थ का प्रतिपादन करने में समर्थ हो सकता है।

मुस्तार साहब ने अनुवाद करने से पूर्व स्वामी समन्त-भद्र भारती के ग्रन्थों का एक शब्दकोष पं० दीपचन्द्र जी पाण्ड्या, केकड़ो से तैयार कराया था। मूल ग्रन्थ के पाठ संशोधन के पश्चात् अनुवाद प्रारम्भ किया। अनुवाद हो जाने के बाद भाष्य लिखने के लिए ग्रन्थ और अनुवाद का पारायण तथा संशोधन किया और भाष्य लिखने से पूर्व मूल ग्रन्थकार की दृष्टि को स्पष्ट करने के लिए विविध ग्रन्थों का परिशीलन किया तथा लिखते समय उन्हें सामने रखा। मुस्तार साहब का दृष्टिकोण मूल के हार्द को स्पष्ट करना था, अतएव उन्होंने मूल ग्रन्थ के पद्यों के अन्दर अन्तर्निहित अर्थ को उसकी गहराई में जाकर, तलदृष्टा बन, मूल को स्पष्ट करने वाली व्याख्या या भाष्य लिखा। अनुवाद और भाष्य लिखने में मुस्तार साहब ने अथक श्रम किया, तभी वह मूल ग्रन्थ के अनुकूल और उपयोगी हो सका है। उसमें उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी मिलाने का प्रयत्न नहीं किया। अतएव वह भाष्य लिखकर वे उममें कितने सफल हुए इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही कर सकते हैं कि स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थों का जो अनुवाद और भाष्य लिखा, वह कितना परिमार्जित और मूल ग्रन्थकार की दृष्टि का अभिव्यंजक है। मैंने उसे लिखते समय पढ़ा और बाद में प्रेस कापी करते हुए भी पढ़ा है। मुझे तो उसमें कोई खलन प्रतीत नहीं हुआ। कारण कि मुस्तार साहब लिखने में बहुत सावधानी रखते थे। साथ

ही शब्दों को जाँच-तोड़ कर रखते थे। उनकी लेखनी फटपट और चलता हुआ नहीं लिखती थी। लिखते समय को उनकी एकाग्रता और संलग्नता अनुकरणीय है।

‘तत्त्वानुशासन’ का भाष्य लिखते समय आचार्य राम-सेन के मूल पद्यों का मूलानुगामी अनुवाद किया और बाद में भाष्य लिखा। भाष्य लिखते समय मूल ग्रंथकार की दृष्टि को धक्षुष्ण रखते हुए पद्यों में धाये हुए विशेषणों का स्पष्टीकरण किया। पाठकों की जानकारी के लिए उसके दो पद्यों का अनुवाद और व्याख्या नीचे दी जाती है—

संग-त्यागः कषायानां निग्रहो व्रतधारणम् ।

मनोक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनि ॥

परिग्रहों का त्याग, कषायों का निग्रह-नियंत्रण, व्रतों का धारण और मन तथा इन्द्रियों का जीतना यह सब ध्यान की उत्पत्ति-निष्ठाति में सहायभूत सामग्री है। व्याख्या में यहां संग-त्याग में बाह्य परिग्रहों का त्याग अभिप्रेत है; क्योंकि अन्तरंग परिग्रह में क्रोधादि कषायों का निग्रह में समावेश है। कुसंगति का त्याग भी संगत्याग में आ जाता है। वह भी सद्ध्यान में बाधक होती है। व्रतों में ग्रहिसादि महाव्रतों तथा अणुव्रतों आदि का ग्रहण है। अनशन ऊनोदर आदि के रूप में अनेक प्रतिज्ञाएँ भी व्रतों में शामिल हैं। इन्द्रियों के जय में स्पर्शन-रसना घ्राण-चक्षु श्रवण ऐसी पाँचों इन्द्रियों की विजय विवक्षित है। ध्यान की ओर भी सामग्री है। परन्तु यहाँ सर्वतो मुख्या सामग्री का उल्लेख है। शेष सामग्री का ‘च’ शब्द में समुच्चय चाहिए। उसे (ग्रन्थ) ग्रन्थों के सहारे जुटाना चाहिये। इस ग्रंथ में भी परिकर्म आदि के रूप में जो कुछ ग्रन्थ कहा गया है उसे भी ध्यान की सामग्री समझना चाहिए।

इन्द्रियाणां प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च मनः प्रभुः ।

मन एव जयेत्समाजिते तस्मिन् जितेन्द्रियः ॥

इन्द्रियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में मन प्रभु सामर्थ्यवान है, इसलिए (मुख्यतः) मन को ही जीतना चाहिए। मन को जीतने पर मनुष्य (वास्तव में) जितेन्द्रिय होता है—इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करता है।

व्याख्या—यहाँ इन्द्रियों से भी पहले मन को जीतने का सहेतुक निर्वेश किया गया है और यह बतलाया है कि मन को जीतने पर मनुष्य सहज ही जितेन्द्रिय हो जाता है। जिसने अपने मन को नहीं जीता वह इन्द्रियों को क्या जीतेगा? मन के संकल्प-विकल्प रूप-व्यापार को रोकना अथवा मन को जीतना (मन की चंचलता को दूर कर उसे स्थिर करना) कहलाता है। मन का व्यापार रकने अथवा उसकी चंचलता मिटने पर इन्द्रियों का व्यापार स्वतः रुक जाता है—वे अपने विषयों में उसी प्रकार प्रवृत्त नहीं होतीं जिस प्रकार कि वृक्ष का मूल छिन्न-भिन्न हो जाने पर उसमें पत्र-पुष्पादिक की उत्पत्ति नहीं हो पाती।

‘तत्त्वानुशासन’ की प्रस्तावना बहुत विचार-विमर्श के बाद लिखी गयी है। उसके लिखने में मुस्तार साहब ने अच्छा श्रम किया है। इस संबंध में मैंने उन्हें पर्याप्त सामग्री दी थी। उन्होंने मेरा उल्लेख भी किया है। रामसेन के समय का निर्णय उन्होंने कितने सुन्दर और सरल ढंग से किया, यह देखते ही बनता है।

आपके ग्रंथों की प्रस्तावनाएँ बड़ी मार्मिक और शोधपूर्ण हैं। ‘अध्यात्म-कमल मार्तण्ड’ की प्रस्तावना में १७वीं शताब्दी के विद्वान् तथा प्रथित ग्रन्थकार पांडे राजमल्ल का परिचय और उनकी कृतियों के संबंध में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

पुरातन जैन वाक्य-सूची की प्रस्तावना और उसका संपादन आपने सहयोगी विद्वानों के साथ किया। ग्रन्थ ग्रन्थ-वर्णन करने वाले विद्वानों के लिए वह उपयोगी है। मुस्तार साहब ने उसकी प्रस्तावना में प्रत्येक ग्रंथ और ग्रंथकार के सम्बन्ध में अच्छा विचार किया है; खासकर सम्मति सूत्र और सिद्धसेन के सम्बन्ध में जो विचार अथवा निष्कर्ष दिया गया है वह मौलिक है। गोमटसार की त्रुटि-पूति पर भी प्रकाश डाला है और भी अनेक विद्वानों के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश डाला गया है जो शोधक विद्वानों के लिए उपयोगी है।

‘समन्तभद्र भारती’ के ग्रंथों का अनुवाद और व्याख्या बहुत ही परिश्रम के साथ सम्पन्न की गई है; खासकर

युक्त्यनुशासन का हिन्दी अनुवाद उन्होंने कितनी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है, यह उनकी महत्वपूर्ण देन है जो दार्शनिक विषय पर भी अच्छा प्रकाश डालती है। देवागम का अनुवाद भी उन्होंने सरल ढंग से प्रस्तुत किया है, जो पठनीय है।

इसी तरह, समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) का अनुवाद, भाष्य और प्रस्तावना बड़ी महत्वपूर्ण है। वह मूल ग्रन्थ पर अच्छा प्रकाश डालती है, और टीकाकार प्रभाचन्द्र के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक दृष्टि से यथेष्ट प्रकाश डालती है।

आपका अन्तिम भाष्य अमृतगति प्रथम का 'योगसार प्राभूत' है जिसका उन्होंने बीसों बार अध्ययन किया है और बहुत-कुछ चिन्तन के बाद उसका मूलानुगामी अनुवाद और भाष्य प्रस्तुत किया है। यह उनकी अन्तिम कृति है। इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ से हुआ है। आशा है समाज उससे विशेष लाभ उठाने का प्रयत्न करेगा।

मुख्तार साहब का जीवन सादा रहा है। वे सदा सिपाही की भाँति कार्य करने के लिए तत्पर रहते थे। परावलम्बी होना उन्हें तनिक भी पसन्द नहीं था। वे अपना सब काम स्वयं करके प्रसन्न रहते थे। उनके इस सेवा कार्य को देखते हुए यह स्वाभाविक लगता है कि ऐसे निःस्वार्थ सेवाभाषी विद्वान का समाज ने कोई सार्वजनिक सम्मान नहीं किया, इसका हमें खेद है। पर कुछ व्यक्ति विशेष की अपनी कमजोरियाँ भी होती हैं जो उसे आगे बढ़ने नहीं देती। मुख्तार साहब का जीवन एकांगी था। वे जितना साहित्यिक विषयों पर विचार करते थे उतना उन्होंने समाज के बारे में कभी चिन्तन नहीं किया। समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः अनुदार सा रहा प्रतीत होता है। इस कारण उनके कितने ही कार्य अधूरे पड़े रहे, जिन्हें वे स्वयं सम्पन्न करना चाहते थे। वे वीर सेवा मन्दिर जैसी उच्चकोटि की संस्था के संस्थापक थे। उन्हें अच्छे कार्यकर्ता विद्वानों का सहयोग भी मिला था। उनकी प्रौढ़

लेखनी से प्रभावित हो बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता ने उन्हें अधिक सहयोग स्वयं दिया और अपने दूसरे मित्रों से दिलाया; मुख्तार साहब के व्यक्तित्व को उभारने का भी प्रयत्न किया। वीर शासन-जयन्ती के अवसर पर सरसावा में अध्यक्ष पद से जो भाषण दिया था उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि 'मैं मुख्तार साहब को वर्तमान मुनियों से भी कहीं अच्छा मानता हूँ जो सामाजिक झगड़ों से दूर रहकर ठोस साहित्य के निर्माण द्वारा जिन शासन और समाज की सेवा कर रहे हैं।' बाबू छोटेलाल जी की उदारता, उत्साह और परिश्रम से तथा पूज्य प० गणेश प्रसाद जी वर्णी की प्रेरणा से वीर सेवा मन्दिर का भवन दिल्ली में बन गया। मुख्तार सा० का बाबू छोटेलाल जी के साथ पिता-पुत्र जैसा सुदृढ़ प्रेम-सम्बन्ध बहुत वर्षों तक रहा, पर कुछ कारणों से परस्पर मतभेद उत्पन्न हो गया था। बाद में उसमें पत्र-व्यवहारादि द्वारा कुछ सुधार हो गया और उनका परस्पर पत्र-व्यवहार भी चालू हो गया था, किन्तु दुर्भाग्य है कि सन् १९६२ के बाद उन दोनों का परस्पर मिलन नहीं हो सका।

मुख्तार साहब का अन्तिम जीवन भी सानन्द व्यतीत हुआ। वे वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली से अपने भतीजे डा० श्रीचन्द्र जो संगल के पास एटा चले गए थे। संगल जी ने अपने ताऊजी की सेवा प्रसन्नता से की। डा० साहब का सारा परिवार उनकी सेवा में संलग्न रहता था। वे उनकी सेवा से प्रसन्न भी थे। डा० साहब ने लिखा है कि उनका अन्त समय बड़ी शांति के साथ व्यतीत हुआ और मैं रातभर उनके पास बैठा रहा। णमोकार मन्त्र और समस्त-भद्रस्तोत्र का पाठ करते हुए उन्होंने अपने शरीर का परित्याग किया। उनका देहावसान २२ दिसम्बर को ६१ वर्ष २२ दिन की आयु में प्रातःकाल हुआ। उनके रिक्त स्थान की पूर्ति होना असंभव है। मैं उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ उनकी आत्मा को परलोक में सुख-शान्ति की कामना करता हूँ।

युगसृष्टा को साहित्य साधना

□ श्री गोकुलप्रसाद जैन, नई दिल्ली

आचार्य श्री जुगल किशोर मुख्तार साहित्य-तपस्वी, स्वाध्याय योगी, समाज सुधारक, कुरीतियों एवं अंधविश्वासों के निराकर्ता एवं यथार्थ मार्गों के प्रणेता थे। आपने सत्य के प्रति अपूर्व निष्ठा थी तथा आपने जिनवाणी की रक्षा का जीवनव्रत लिया था। आपने जैन इतिहास, साहित्य और पुरातत्त्व को गुफाओं, मन्दिरों और सरस्वती भण्डारों की घुटन से बाहर निकाल कर उभे जन-जन के लिए सुलभ बनाया।

भट्टारक प्रायः अपनी यशोगाथा फैलाने की भावना से एवं कवित्व प्रदर्शन के हेतु विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों के अंश चुराकर, भानुमती का कुनवा तैयार कर देते थे। प० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने इस साहित्यिक चोरी को पकड़ा और दिन-रात अथक परिश्रम करके ग्रन्थ-परीक्षा के नाम से एक शोध-खोज ग्रंथ प्रकाशित करवाया, जिससे समाज की वास्तविकता का पता चला।

वस्तुतः मुख्तार साहब का जीवन आरम्भ से ही आदर्श, साधनापूर्ण एवं त्यागमय रहा। सरसावा (जिला सहारनपुर) में मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी, वि० सं० १९३४ को आपका जन्म हुआ। आपके पिता चौधरी नत्थूमल जैन एवं माता भुई देवी थी। शंभव से ही इस बालक में ऐसी चुम्बकीय शक्ति थी कि माता-पिता, पास-पड़ोस तथा सभी सम्पर्की व्यक्तियों को यह अनुरंजित किए रहता था।

बालक जुगल किशोर ने पांच वर्ष की आयु में उर्दू-फारसी की शिक्षा आरम्भ की। शिक्षा दीक्षा में वह बालक मीलवी साहब की दृष्टि में दूसरा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर था। इसकी विलक्षण प्रतिभा देवी-शक्ति-सम्पन्न लगती थी। उसका दूसरा विशेष गुण था उसकी तर्कणा शक्ति। अध्ययन के अलावा वह खेल-कूद के भी प्रेमी थे।

आपने सरसावा में हकीम श्री उग्रसेन जी द्वारा स्थापित पाठशाला में हिन्दी और संस्कृत का अध्ययन

किया तथा संस्कृत में बढ़ती अभिरुचि के कारण आप जैन शास्त्रों के स्वाध्याय के प्रति उन्मुख हुए।

आपने स्थानीय अग्रेजी स्कूल से नौवीं कक्षा तक विधिवत् अध्ययन कर स्वाध्यायी छात्र के रूप से मैट्रिक परीक्षा दी।

जीवन संघर्ष

आपने मैट्रिक परीक्षा पास करने के पश्चात् स्वयं जीविका निर्वाह करने का विचार किया, क्योंकि अभिभावकों पर निर्भर रहना आपने अकर्मण्यता समझी। अतः १८९९ में आपने प्राक्तिक सभा की ओर से उप-देशक का कार्य प्रारम्भ किया। परन्तु दो मास के बाद यह विचार आया कि धर्मप्रचार जैसा पवित्र कार्य बेतन ठीकर न किया जाए। अतः उपदेशक-वृत्ति से त्यागपत्र देकर स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में आपने मुख्तार-गीरी आरम्भ की। इस वृत्ति में आपने सदा न्याय और सत्य का आधार लिया। लगभग १० वर्ष मुख्तारी करके आपने घन और यश दोनों अर्जित किये। वैसे तो आपका अधिकांश समय जैन साहित्य, जैन कला एवं जैन पुरातत्त्व के अध्ययन-अनुसन्धान में व्यतीत होता ही था, किन्तु बाद में आप मुख्तारगीरी छोड़कर मात्र ज्ञान साधना में लीन हो गये।

पारिवारिक जीवन

श्री 'मुख्तार' साहब के कार्यों में उनकी धर्मपत्नी बड़ा योगदान करती थी। आपने पत्नी की यथार्थ सेवा प्राप्त कर अपना बौद्धिक विकास किया। आपके ७ अक्टूबर, १८९९ में एक कन्या का जन्म हुआ किन्तु सन् १९०७ में फैली प्लेग की बीमारी से ८ वर्ष की यह बालिका कालकवलित हो गयी। सन् १९१७ में आपको दूसरी बेटी का सौभाग्य प्राप्त हुआ, परन्तु ठीक सवा तीन माह पश्चात् आप पर दूसरा बज्रपात हुआ और पच्चीस वर्षों की जीवन-संगिनी आपका साथ छोड़

कर चल बसी। पत्नी के इस वियोग ने पंडित जी को झुकझोर दिया। बाद में यह बालिका भी चल बसी।

(वीर सेवा मन्दिर) समन्तभद्रआश्रम—२१ अप्रैल, १९२६ को दिल्ली में मुख्तार श्री ने समन्तभद्र-आश्रम की स्थापना की और यहीं से 'अनेकान्त' मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। बाद में यही आश्रम वीर सेवा मन्दिर में परिवर्तित होकर दिल्ली से सरसावा चला गया और एक शोध संस्थान के रूप में जैन साहित्य की विभिन्न शोध प्रवृत्तियों का प्रकाशन और अनुसंधान करने लगा। मुख्तार साहब ने अपनी समस्त सम्पत्ति का ट्रस्ट कर दिया और उस ट्रस्ट से वीर सेवा मन्दिर अपनी बहुमुखी प्रवृत्तियों का संचालन करने लगा।

पूज्यपाद पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी, पं० नाथूराम जी प्रेमी, बाबू सूरजभान वकील, पं० चन्दाबाई आरा, बाबू राजकृष्ण जी दिल्ली, साहू शान्ति प्रसाद जी आदि प्रमुख व्यक्तियों ने मुख्तार सा० के अगाध पांडित्य और ज्ञान-साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की। बाबू छोटेलाल जी जैन ने तो कलकत्ते में 'वीर शासन महोत्सव' के अवसर पर उन्हें बाङ्गमयाचार्य की उपाधि से विभूषित किया।

कवि : मुख्तार साहब की काव्य रचनाओं का संग्रह 'युग भारती' के नाम से है। आपकी सबसे प्रसिद्ध और मौलिक-रचना 'मेरी भावना' तो वस्तुतः 'राष्ट्रीय भावना' ही बन गई है।

निबन्धकार : आपके निबन्धों का संग्रह 'युगवीर निबन्धावली' के नाम से दो खण्डों में प्राप्त है, जिसमें समाज सुधारात्मक एवं गवेषणात्मक निबन्ध हैं। इसके अलावा आपने 'जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया, जिसमें ३२ निबन्ध हैं। आपके निबन्धों में सामयिक, राष्ट्रीय, आचारमूलक, भक्तिपरक, दार्शनिक एवं जीवनशोधक निबन्ध हैं जो आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को आलोकित करते हैं। आप एक सामाजिक क्रांतिद्रष्टा थे।

भाष्यकार : मुख्तार साहब केवल मौलिक लेखक ही नहीं एक मेधावी भाष्यकार भी थे। आपने आ० समन्तभद्र की प्रायः समस्त कृतियों पर ग्रंथ लिखे हैं। भाष्य ग्रंथों में लिखित आपकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनाओं

से वे ग्रंथ और भी अधिक उपयोगी बन गये हैं।

समीक्षक : आपके साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ ग्रंथ परीक्षा और समीक्षा से ही होता है। ग्रंथ परीक्षा के दो भागों का प्रकाशन १९१६ में हुआ था।

इतिहासकार : विभिन्न ऐतिहासिक शोध निबन्ध लिखकर आपने अपनी सच्ची इतिहासकार की प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसे निबन्धों में, 'वीर शासन की उत्पत्ति और स्थान', 'श्रुतावतार कथा', 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य और उनके सूत्र', 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा और 'स्वामि-कुमार' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

सम्पादक : आचार्य श्री ने स्वयम्भू स्तोत्र, युक्त्यनु-शासन, देवागम, अध्यात्म रहस्य, तत्त्वानुशासन, समाधि तन्त्र, पुरातन जैन वाक्यसूची, जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह (प्रथम भाग), समन्तभद्र भारती आदि ग्रंथों का सम्पादन किया और उनकी महत्वपूर्ण प्रस्तावनायें लिखी, जो अत्यन्त उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक हैं।

पत्रकार : श्री मुख्तार साहब प्रथम कोटि के सम्पादक रहे। आपका पत्रकार जीवन साप्ताहिक पत्र 'जैन गजट' के सम्पादन से प्रारम्भ हुआ। समाज ने आपकी सम्पादन कला की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। नौ वर्ष तक इसका सफल सम्पादन करने के बाद श्री नाथूरामजी प्रेमी ने आपको "जैन हितैषी" का सम्पादक नियुक्त किया, जिसका सम्पादन उन्होंने सन् १९३१ तक किया। आपने वीर सेवा मन्दिर के मुख पत्र 'अनेकान्त' का सम्पादन एवं प्रकाशन भी प्रारम्भ किया जो जैन शोध और समीक्षा विषयक प्रामाणिक एवं सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है।

आपका सारा जीवन वस्तुतः चिरन्तन साधना, अध्यवसाय एवं तपस्या का जीवन रहा है। आप वस्तुतः जितेन्द्रिय, सयमी, निष्ठावान् एवं ज्ञान तपस्वी थे। आप प्रकाण्ड ज्ञानी, दृढ़ अव्यवसायी एवं महान साहित्य साधक थे। आपका व्यक्तित्व उदात्त था। आपने लोक सेवा एवं साहित्य सेवा द्वारा ऐसे ज्ञानालोक की सृष्टि की है जो युगयुगान्तर तक जैन परम्परा को आलोकित करती रहेगी। □□□

३, राम नगर,
नई दिल्ली-५५

नेमिदूत काव्य के पूर्ववर्ती संस्करण

□ श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

जैन विद्वानों ने संस्कृत साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है। छोटे-मोटे हजारों ग्रन्थ एवं स्तोत्र आदि फुटकर काव्य जैनों के लिखे हुए, संस्कृत में आज भी प्राप्त हैं, पर जैन संस्कृत साहित्य का उल्लेख संस्कृत साहित्य के इतिहास में बहुत ही कम होता रहा। हर्ष है कि इधर कई ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनसे विशाल और महत्त्वपूर्ण जैन संस्कृत साहित्य की काफी जानकारी प्रकाश में आयी है। गुजराती में प्रो० हीरालाल कापड़िया ने 'जैन संस्कृत साहित्य का इतिहास' लिखा, वह ३ भागों में प्रकाशित हो चुका है। डा० नेमिचन्द्र जैन का भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी में 'भारतीय ज्ञानपीठ' से प्रकाशित हुआ है। जैन संस्कृत महाकाव्यों पर जैनैतर विद्वानों ने शोध प्रबन्ध लिखे हैं, जिनमें से डा० श्यामसुन्दर दीक्षित के शोध प्रबन्ध का एक भाग जयपुर से छप भी चुका है। डा० सत्यव्रत का शोध प्रबन्ध अभी अप्रकाशित है। जैन स्तोत्र साहित्य आदि पर भी शोध कार्य हुआ है, पर वे शोध प्रबन्ध अभी तक प्रकाशित नहीं हुए। अभी अनेको शोध प्रधान ग्रन्थ संस्कृत साहित्य पर लिखे जाने अपेक्षित है।

जैन विद्वानों ने पाद पूति काव्य भी काफी बनाये हैं, जिनके सम्बन्ध में काफी वर्ष पहले मेरा खोजपूर्ण लेख 'जैन सिद्धांत भास्कार' में प्रकाशित हुआ था। ऐसे काव्यों में मेघदूत के चतुर्थ पाद पूति रूप विक्रम कवि का नेमिदूत काव्य भी उल्लेखनीय है। वीर निर्वाण ग्रन्थ प्रकाशन समिति, इन्दौर से नेमिदूत काव्य का नया संस्करण अभी मई ७६ में ही प्रकाशित हुआ है जिसकी प्रति मुझे हाल ही में प्राप्त हुई है। प्रकाशन सुन्दर है। इस में मूल काव्य के अतिरिक्त स्वर्गीय लक्ष्मण अमरजी भट्ट का समश्लोकी हिन्दी अनुवाद और उन्हीं के पोते भंवरलाल भट्ट 'मधुप' का हिन्दी अनुवाद या टीका भी प्रकाशित है। पूज्य उपाध्याय विद्यानन्द जी की प्रेरणा से प्रकाशित यह संस्करण अवश्य ही बहुत उपयोगी और महत्त्व का है। समश्लोकी अनुवाद और टीका जैनैतर विद्वानों की रचना है। इसे प्रकाश में लाना अवश्य ही निर्वाण समिति का एक उल्लेखनीय व उत्तम कार्य है। समश्लोकी अनुवाद

सम्बत् १९८६ में लक्ष्मण भट्टजी ने किया। वास्तव में यह बहुत कठिन कार्य है और हिन्दी टीका द्वारा यह ग्रन्थ सब के समझने योग्य हो गया है। पर मालूम होता है कि लेखक, प्रकाशक आदि को यह जानकारी नहीं थी कि इससे पहले भी इस काव्य का एक अच्छा संस्करण, संस्कृत टीका और हिन्दी पद्यानुवाद के साथ, करीब ३० वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका है। इसलिए इस लेख में आवश्यक जानकारी दी जा रही है।

विक्रम कवि का नेमिदूत काफी वर्ष पहले काव्य माला के द्वितीय गुच्छक में सर्व प्रथम प्रकाशित हुआ था। स्वर्गीय पंडित उदयलालजी कासलीवाल ने इसका हिन्दी अनुवाद भी किया और वह भी प्रकाशित हो चुका है। सन् १९१६ में, अर्थात् ६० वर्ष पहले स्वर्गीय नाथूरामजी प्रेमी ने जैन हितैषी पत्रिका में 'विक्रम का नेमि चरित्र' लेख प्रकाशित किया था जो उनके 'जैन साहित्य और इतिहास' नामक ग्रन्थ में सुलभ है। उन्होंने विक्रम कवि को दिगम्बर आग्नाय का श्रावक व १४ वीं शताब्दी का अनुमानित किया था। वंगे उन्होंने स्वयं लिख दिया था कि "यों काव्य के विषय से तो कवि श्वेताम्बर या दिगम्बर किस सम्प्रदाय का था, इसका कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि काव्य में जो कुछ कहा गया है वह सम्प्रदाय की सीमा से बाहर है।" प्रेमीजी ने खभात के सबत् १३५८ के शिलालेख में जो सागण का नाम आया है, उसे नेमिदूत के कर्त्ता विक्रम का पिता सागण मान लिया है। 'हुंकार वंश' को हूँबड़ और सिंहपुरवंश को नरसिंहपुरा मान लिया, पर ये तीनों ही बातें उनके अनुमान पर ही आधारित समझनी चाहिये, मेरी राय में ये वास्तविक नहीं हैं। कवि ने तो अतिमध्य में अपने को केवल सागण का पुत्र विक्रम ही बतलाया है। इसमें अधिक जाति, स्थान या रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया।

नेमिदूत का एक उल्लेखनीय संस्करण त्रिनयनागरजी ने संवत् २००४ में सम्पादित करके श्री हिन्दी जैनागम प्रकाशक समिति कार्यालय, जैन प्रेम, कोटा द्वारा संवत् २००५ में प्रकाशित करवाया था, जिसका मूल्य रु० १-५०

है। यह ग्रंथ कई वर्षों तक संस्कृत के पाठ्यक्रम में भी रहा है। इसके प्रारम्भिक 'दो शब्द' में विनयसागरजी ने तो कवि विक्रम को खंभात के रहने वाले १४ वीं शताब्दी के श्वेताम्बर खरतरगच्छाधीश जिनेश्वर मुरि के भक्त श्रावक थे, लिखा है। उन्होंने मुनि विद्याविजय जी के नेमिदूत पद्यानुवाद की प्रस्तावना में कवि विक्रम को १२ वीं सदी के कर्णावती के मंत्री "सांगण का पुत्र कहा है," इसका भी उल्लेख किया है परन्तु उल्लेखित नेमिदूत पद्यानुवाद और मुनि विद्याविजय जी का वक्तव्य मेरे देखने में नहीं आया।

कोटा के उपरोक्त संस्करण में डा० फतेसिंह लिखित 'नेमिदूत का काव्यत्व' और सन् २००४ में लिखी हुई मेरी 'प्रस्तावना' प्रकाशित हुई थी। मैंने नेमिदूत की संस्कृत टीका की २ प्रतियाँ विनयसागरजी को भेजी थीं और टीकाकार गुणविनय के सम्बन्ध में प्रस्तावना में विशेष प्रकाश डाला था। इस संस्करण में गुणविनय की अज्ञात टीका सर्व प्रथम प्रकाशित हुई, जोकि सन् १९४४ में बीकानेर में रची गई थी। इन संस्करण की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें भैरगेड गढ़ (मेवाड़) के महाराज श्री हिम्मतसिंहजी 'साहित्यरजन' का किया हुआ नेमिदूत का हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रकाशित हुआ था। यह पद्यानुवाद समझौती तो नहीं, पर महत्त्वपूर्ण है। चूड़ावत वन के ठाकुर एक जैनवर कवि हिम्मतसिंहजी ने नेमिदूत का पद्यानुवाद करके अवश्य ही एक उल्लेखनीय कार्य किया है। इस पद्यानुवाद का पहला और अन्तिम पद्य पाठको की जानकारी के लिए नीचे उद्धृत किया जा रहा है।

'जीवन्तान मे दत्तचित्त हो, बन्धुवर्ग परिजन भव-भोग ।
उग्रसेन तनुजा को भी तज, लिया उन्होंने विचल योग ॥
श्री मन्नेमिनाथ प्रभो वह, मोक्ष मार्ग में करके प्रेम ।
छायावाले रम्य रामगिरी, पर जा रहे धार दृढ़ नेम ॥'

अन्तिम पद्य

'मेदपाट भू के अन्तर्गत, दुर्ग एक अत्यन्त ललाम ।
चर्मण्यनी नदी-तट गिरि पर भैररोडगढ़ जिसका नाम ।
क्रिया यहाँ पर 'हिम्मत' ने यह संस्कृत से भाषा अनुवाद ।
काव्य रसिक पढ़ करके इसका लेवें काव्य कला का स्वाद ॥

प्रस्तुत पद्यानुवाद के पद्यानुवाद कवि ठाकुर हिम्मतसिंहजी ने महिषासुर वध और अनिश्वर कथा नामक २

और काव्य भी लिखे हैं, अर्थात् ये अच्छे कवि थे।

विनयसागरजी को नेमिदूत की प्राचीनतम प्रति सन् १४७२ और १५१९ की प्राप्त हुई थी। उन्होंने तीन मूल प्रतियों और २ टीका की प्रतियों के आधार से उपरोक्त संस्करण का सम्पादन किया था। संस्कृत टीका और हिन्दी पद्यानुवाद के साथ-साथ उन्होंने काव्य की अकारादि पद्यानुक्रमिका भी दे दी थी। इस तरह यह संस्करण काफी उपयोगी बन गया था, पर हिन्दी टीका या गद्य में अर्ध इस संस्करण में नहीं छपा था जोकि इन्दौर वाले संस्करण में छपा है। उदयलाल कासलीवाल ने जो इसका हिन्दी अनुवाद किया था, वह अब प्राप्त नहीं है। इन्दौर वाले संस्करण में पहले समझौती अनुवाद, उसके बाद उसकी हिन्दी टीका (१-१ पद्य के नीचे) छपी है और अन्त में मूल संस्कृत काव्य छपा है। समझौती पद्यानुवाद में चौथा चरण नेमिदूत वाला संस्कृत में ही ज्यों का त्यों रख दिया है, अर्थात् उसका हिन्दीकरण नहीं किया गया। मेरी राय में, उसका भी हिन्दी पद्यानुवाद कर दिया जाता तो अच्छा होता, अन्यथा हिन्दी टीका के बिना उन पत्रियों को समझना हिन्दी पाठकों के लिए कठिन ही होता।

इन्दौर वाले नये संस्करण के प्रकाशकीय में श्री बाबूलालजी पाटोदी ने, जो प्रकाशन समिति के मंत्री हैं, कवि विक्रम के आगे 'मुनिवर' और 'मुनिश्री' विशेषण लगा दिए हैं और हिन्दी टीकाकार भंवरलाल भट्ट ने भी कवि का जैन मुनि लिख दिया है, वह ठीक नहीं है। वास्तव में कवि विक्रम मुनि नहीं थे, विद्वान् श्रावक ही थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से अपने को सांगण का पुत्र ही लिखा है। अतः उसे मुनि बतलाना अमोत्पादक है।

पूज्य उपाध्याय विद्यानन्दजी की प्रेरणा से स्थापित इन्दौर की श्रीवीर-निर्वाण-ग्रंथ प्रकाशन समिति ने वास्तव में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसके सभी प्रकाशन सुन्दर एवं उपयोगी हैं। विशेषतः बीरेन्द्रकुमार जैन का महाकाव्यात्मक उपन्यास 'अनुत्तरयोगी तीर्थंकर महावीर' (तीन खण्ड) जैसा अद्भुत ग्रंथ प्रकाशित करके समिति ने एक कीर्तिमान स्थापित कर दिया है। २५०० वें वीर निर्वाण महोत्सव की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानी जायेगी। □ □ □ नाहटा भवन, बीकानेर (राज०)

जैन साहित्य और शिल्प में रामकथा

□ श्री माहतिनन्दन तिवारी

मर्यादा पुद्गोत्तम राम प्राचीन काल से ही हिन्दू देवसमूह के लोकप्रिय देवता रहे हैं। हिन्दू देवकुल के अतिरिक्त राम को जैन एवं बौद्ध देवकुलों में भी विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त थी। राम, लक्ष्मण और सीता के जीवन की विस्तृत विवेचना करने वाली वात्मीकि की रामायण सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास में सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ रही है। पर्वर्ती युगों में भी रामकथा से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ रचे गए। महाभारत और पुराणों के अतिरिक्त भास, कालिदास, भवभूति और राजशेखर जैसे रचनाकारों ने भी अपने ग्रन्थों में रामकथा के प्रेरक प्रसंगों के उद्धरण दिए हैं। अद्भुतरामायण, अध्यात्म-रामायण और आनन्दरामायण जैसे ग्रन्थ सीधे रामकथा से सम्बन्धित हैं। विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में भी रामायण की रचना की गई थी, जिनमें तुलसीकृत रामचरितमानस सर्व प्रमुख है। हिन्दुओं के अतिरिक्त बौद्धों एवं जैनो ने भी रामकथा सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना की थी। बौद्ध ग्रन्थ दशरथजातक मूलतः रामकथा से ही सम्बन्धित है।

कृष्ण, गणेश, लक्ष्मी एवं सरस्वती जैसे हिन्दू देवताओं के समान ही राम को भी हिन्दू देवकुल से जैन देवकुल में ग्रहण किया गया है। जैन ग्रन्थों में राम और कृष्ण को विशेष प्रतिष्ठा प्रदान की गई थी। इसकी पुष्टि उक्त देवों पर स्वतन्त्र जैन ग्रन्थों की रचना से होती है। उत्तराध्ययन-सूत्र, अंतगडदसाओं, त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र और हरिवंशपुराण जैसे जैन ग्रन्थ कृष्ण के जीवनचरित्र के विस्तृत निरूपण से सम्बन्धित हैं। राम-लक्ष्मण और कृष्ण-बलदेव के प्रति प्रारम्भ से ही जनमानस का पूज्य-भाव रहा है और इन्हें अवतारपुरुष स्वीकार किया गया है। जैनो ने धार्मिक लोकमान्यताओं के सम्मान की दृष्टि ही उक्त देवों को अपनी परम्परा में सम्मिलित किया है। यही नहीं, जैन ग्रन्थों में रावण और जरासंध जैसे

अत्याचारी व्यक्तित्वों को भी सम्मानित स्थान प्रदान किया गया था। इन अनार्य शासकों को अपने देवकुल में सम्मिलित कर जैनो ने सम्भवतः अनार्य जातियों की भावनाओं की रक्षा की थी। रामकथा के तीन प्रमुख चरित्रों राम, लक्ष्मण और रावण को जैन देवकुल के तिरमठ शलाकापुरुषों की सूची में सम्मिलित किया गया है। राम (पद्म), लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवें बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव रहे हैं।

रामकथा में सम्बन्धित जैन ग्रन्थों की रचना तीसरी शती ई० से निरन्तर सोलहवीं शती ई० तक होती रही है। रामकथा के निरूपण से सम्बन्धित कुछ प्रमुख जैन ग्रन्थ विमलमूर्तिकृत पउमचरिय (तीसरी शती ई०), संघदासकृत वसुदेवहिंटी (६०६ ई०), रविषेणकृत पद्मपुराण (६७८ ई०), स्वयंभूकृत पउमचरित (आठवीं शती ई०), शीलाकाचार्यकृत चउपन्नमहापुरिमचरिय (८६८ ई०), गुणभद्रकृत उत्तरपुराण (नवीं शती ई०), पुष्पदन्तकृत महापुराण (९६५ ई०), भद्रेश्वरकृत कहावली (ग्यारहवीं शती ई०), हेमचन्द्रकृत त्रिपष्टिशलाकापुरुष-चरित्र (बारहवीं शती ई०) एवं देवविजयगणिकृत राम-चरित (१५९६ ई०) रहे हैं। स्पष्ट है कि विमलमूर्तिकृत पउमचरिय ही रामकथा से सम्बन्धित प्राचीनतम जैन कृति है। जैन परम्परा में निरूपित रामकथा की कुछ मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :

अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी शासक दशरथ के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नाम के चार पुत्र थे। राम का विवाह विदेह के शासक जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ था। लंका के शासक रावण ने सीता के सौन्दर्य के वशीभूत होकर उसका अपहरण किया। इससे राम अत्यन्त दुःखी हुए। सीता की खोज के कार्य के अन्तर्गत ही राम-लक्ष्मण की भेंट वानरराज सुग्रीव से हुई। राम-

लक्ष्मण ने किष्किन्धा के राज्य को प्राप्त करने में सुग्रीव की सहायता की। बाद में सुग्रीव की सेना के साथ ही राम-लक्ष्मण ने लंका की ओर प्रस्थान किया। रावण के अनुज विभीषण ने रावण को अपहृत सीता ससम्मान राम को लौटा देने का परामर्श दिया, जिसे रावण ने अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप सीता की मुक्ति के लिए राम को रावण से युद्ध करना पड़ा। राम और रावण की सेनाओं के मध्य हुए भयंकर युद्ध में रावण की मृत्यु हुई। अन्ततः राम ने सीता को प्राप्त किया और लंका के सिंहासन पर विभीषण को प्रतिष्ठित किया।

लंकाविजय के पश्चात् राम और लक्ष्मण सीता के साथ अयोध्या लौट आए। जैन परम्परा के अनुसार, राम की ८००० रानियाँ थीं जिनमें सीता और तीन अन्य प्रमुख थीं। लक्ष्मण की १६००० रानियाँ थीं, जिनमें पृथ्वीसुन्दरी प्रमुख थी। स्मरणीय है कि हिन्दू परम्परा में राम और लक्ष्मण दोनों को एकपत्नीक बताया गया है। जैन परम्परा के अनुसार, लक्ष्मण की मृत्यु के बाद राम साधु हो गए। सतत साधना के पश्चात् राम को केवल-ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति हुई। जैन तीर्थंकरों (या जिनों) द्वारा उद्बोधित मार्ग का अनुसरण न करने के कारण ही मृत्यु के बाद लक्ष्मण को नरक में जाना पड़ा। शास्त्रविरोध कार्यों को करने के कारण रावण भी नरक में उत्पन्न हुआ। जैन आधिका का जीवन व्यतीत कर सीता ने मोक्ष प्राप्त किया।

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि कुछ बातों के अतिरिक्त अन्य दृष्टियों से जैन परम्परा की रामकथा हिन्दू परम्परा पर ही आधृत है। राम और लक्ष्मण की अनेक पत्नियों, लक्ष्मण द्वारा रावण के वध, राम द्वारा जिन-मार्ग का अनुसरण कर मोक्ष प्राप्त करने जैसे उल्लेख स्पष्टतः हिन्दू परम्परा से भिन्न हैं। जैन परम्परा में रावण को दशमुखी राक्षस के स्थान पर विद्याधरवंशी शासक बताया गया है जो मनुष्य था। ग्रीवा के हार की नौ मणियों में पड़ने वाले प्रतिवियों के कारण ही उसे दशानन बताया गया है।

जैन ग्रन्थों में रामायण का निरूपण जहाँ अत्यन्त लोकप्रिय विषय रहा है, वहीं मूर्त अंकनों में रामकथा या राम के स्वतंत्र चित्रणों के उदाहरण अत्यन्त सीमित हैं। किसी श्वेताम्बर स्थल से राम के मूर्त अंकन के उदाहरण नहीं प्राप्त होते हैं। राम के मूर्त चित्रणों के उदाहरण केवल खजुराहो के पार्श्वनाथ जैन मन्दिर से ही प्राप्त होते हैं। चन्देल शासकों के काल में निर्मित ९५४ ई० का यह पार्श्वनाथ मन्दिर दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। मन्दिर के मण्डप की उत्तरी भित्ति पर राम-सीता की मूर्ति उत्कीर्ण है। त्रिमंग मुद्रा में अवस्थित राम-सीता के पार्श्व में कपिमुख हनुमान आमूर्तित है। चतुर्भुज राम की दो भुजाओं में लंबा शर है। ऊर्ध्व वाम भुजा से राम वाम पार्श्व में अवस्थित सीता का आलिंगन कर रहे हैं, जिसमें उनकी उंगलियाँ सीता का स्तन स्पर्श करती हुई प्रदर्शित हैं। राम की निचली दाहिनी भुजा हनुमान के मस्तक पर आशीर्वाद देने की मुद्रा (पालित मुद्रा) में है। किरीटमुकुट, कर्णफूल, चेन्नवीर, मेखला, वनमाला और धोती आदि से शोभित राम की पीठ पर तूणीर चित्रित है। द्विभुज सीता की वाम भुजा में भीलोत्पल प्रदर्शित है, जब कि दक्षिण भुजा आलिंगन की मुद्रा में राम के कंधों पर स्थित है। सीता स्तनहार, अलङ्कृत शिरोभूषा, धोती आदि से सुशोभित है। राम के दक्षिण पार्श्व की हनुमान आकृति कौपीन एवं अन्य आभूषणों से सज्जित है। हनुमान की एक भुजा राम की उंगलियों का स्पर्श करने की मुद्रा में ऊपर उठी है।

उपर्युक्त चित्रण के अतिरिक्त पार्श्वनाथ मन्दिर के दक्षिणी शिखर के समीप रामकथा का एक दृश्य भी चित्रित है। दृश्य में रावण द्वारा अपहृत सीता को अशोक-वाटिका में एक वृक्ष के नीचे आसीन दरशाया गया है। कपिमुख हनुमान कलांतमुखी सीता को राम का सन्देश और मुद्रिका देने की मुद्रा में प्रदर्शित है। हनुमान खड्गधारी राक्षस आकृतियों से वेष्टित है।

□ □ □

जैन कर्म-सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन

□ डा० राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दू संस्कृति का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान है पुनर्जन्म-वाद में आस्था। पुनर्जन्मवाद का मूल है कर्मवाद। हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत परिगणित होने वाली तीनों धाराएं—ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णवादि), जैन और बौद्ध कर्मवाद में आस्था रखती हैं। ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के अन्तर्गत परिगणित होने वाला मीमांसा दर्शन तो 'कर्म' ही को सब कुछ मानता है—'कर्मोति मीमांसकाः'। बौद्ध सृष्टिमत समस्त वैचित्र्य का मूल कर्म को स्वीकार करते हैं और जैन कर्म तथा जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। तीनों ही धाराओं में सृष्टि का मूल 'कर्म' मानने वाले उपलब्ध हैं—मानवेतर किसी सर्वोपरि सत्ता 'ईश्वर' को अस्वीकार करते हैं। तीनों अनादि वासना, कषाय और तण्हा को कर्मबन्ध का मूल मानते हैं। तीनों ही इनका समुच्छेद स्वीकार करते हैं। इन तमाम समानताओं के बावजूद 'कर्म' के स्वरूप के सम्बन्ध में जैनदर्शन की धारणा सर्वथा भिन्न है।

जैनेतर दर्शनों में वैशेषिक दर्शन 'कर्म' को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है। उनकी दृष्टि में, 'कर्म' वह है जो द्रव्य समवेत हो, जिसमें स्वयं कोई गुण न हो और जो संयोग तथा विभाग में करणान्तर की अपेक्षा न रखता हो। गुण की तरह यहाँ कर्म भी द्रव्याश्रित धर्म विशेष है। गुण द्रव्यगत सिद्ध धर्म का नाम है जबकि क्रिया 'साध्य' है। कर्म मूर्त द्रव्यो में ही रहता है और मूर्त द्रव्य वे होते हैं जो अल्प परिमाण वाले होते हैं। वैशेषिकों के यहाँ आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा विभु या व्यापक हैं—अतः इनमें कर्म नहीं होता। पृथ्वी, जल, वायु, तेज तथा मन इन्हीं मूर्त पांच द्रव्यों में कर्म की वृत्ति रहती है। यह कर्म पांच प्रकार का है—उत्प्रेक्षण, आकुचन, प्रसारण तथा गमन। अन्य सर्वाविध क्रियाओं का अन्तर्भाव 'गमन' में ही हो जाता है। यहाँ कभी-कभी क्रिया और

कर्म पर्याय रूप में भी समझे जाते हैं, कभी-कभी क्रिया आत्मा के द्वारा प्राप्य 'कर्म' कहा जाता है। पाणिनी ने 'कर्म', जो कर्त्ता की क्रिया से ईप्सिततम रूप में प्राप्त होता है—उसे कहा है। विवेकशील मानव के सन्दर्भ में मीमांसा दर्शन ने 'कर्म' के नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषेध्य रूपों पर पर्याप्त विचार किया है। मानव के ही सन्दर्भ में प्रारब्ध, सचित और त्रियमाण कर्मचक्र का विचार उपलब्ध होता है। गीता में 'कर्म' शब्द का विशिष्ट और सामान्य, संदर्भ-सापेक्ष तथा संदर्भ-निर्गपेक्ष अनेक रूपों में प्रयोग मिलता है। शांकर अद्वैत-वेदात् की दृष्टि से, 'गीताकार' के 'मृतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसमिन्' की व्याख्या करते हुए लोकमान्य तिलक ने जो कुछ कहा है, उसका आशय यह है कि निःस्पंद ब्रह्म में मायोपाधिक आद्यस्पंद या हलचल ही 'कर्म' है। इस प्रकार, सारी सृष्टि ही गत्यात्मक होने से क्रियात्मक या कर्मात्मक है। स्थिति तो केवल ब्रह्म है। 'स्थिति' के वक्ष पर ही 'गति' है—हलचल है—वनना-बिगड़ना है—संसार है। वैशेषिक दर्शन का कर्म भी वही है—वैसे उसे माया अथवा मायोपाधिक स्पंद का पता नहीं है। जैन दर्शन भी जब कायवाङ्मना कर्म को योग कहता है, तब वह काय, वाक् तथा मन प्रदेश में होने वाले आत्मपरिस्पंद को ही क्रिया या योग कहता है। यहाँ योग, क्रिया तथा कर्म को सामान्यतः पर्याय रूप में लिया गया है—वैसे अन्यत्र 'कर्म' का स्वरूप सर्वथा भिन्न रूप में कहा गया है।

जैन दर्शन में 'कर्म' के स्वरूप पर विचार करते हुए यह माना गया है कि कर्म और जीवात्मा का अनादि सम्बन्ध है। कर्म ही के कारण जीव व शरीर एक साथ होता है यानी जीव एवं शरीर होता है। कर्मों के ही कारण जीव में कषाय आती है और कषाय के ही कारण कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा में उपश्लेष होता है।

इस प्रकार जो पौद्गलिक, मूर्त तथा द्रव्यात्मक है—भौतिक है—बहु आयतन घेरता है। जिस प्रकार पात्र विशेष में फल-फूल तथा पत्रादि का मदिरात्मक परिणाम विशेष होता है, उसी प्रकार आत्मा में एकत्रयोग, कषाय तथा योग्य पुद्गलों का भी जो परिणाम होता है—वही 'कर्म' है। कषायवश काय, वाक्, मनःप्रदेश में आत्मपरिस्पंद होता है और इसी परिस्पंदवश योग्य पुद्गल खिंच आते हैं। इस प्रकार कर्म से आत्मा का बन्ध या सम्बन्ध होता है और सम्बन्ध होने से विकृति या गुण प्रच्युति होती है। प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का कहना है कि आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं। उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाले पुद्गल को भी कर्म कहा जाता है। जिन भावों के द्वारा पुद्गल आकृष्ट होकर जीव में सम्बद्ध होते हैं—वे भाव कर्म कहलाते हैं और आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गलपिंड को द्रव्य कर्म कहा जाता है। पचाध्यायी में तो यह भी बताया गया है कि आत्मा में एक वैभाषिक शक्ति है जो पुद्गलपुंज के निमित्त को या आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है। यह विकृति कर्म और आत्मा के संबन्ध से उत्पन्न होने वाली एक अन्य ही आगन्तुक अवस्था है। इस प्रकार, आत्मा शरीर रूपी कावड में कर्म रूपी भाग को निरन्तर बहन करता रहता है। इसी से राहत पाना है, आत्मा को निरावृत करना है।

आत्मा से कर्म का सम्बन्ध 'बन्ध' का कारण बनता है। यह कर्म या तन्मूलक बन्ध चार प्रकार का होता है—प्रकृति, स्थिति, अनुभव या अनुभाग और प्रदेश। कर्म या बन्ध का स्वभाव ही है—आत्म की स्वभावगत विशेषताओं का आवरण करना। 'स्थिति' का अर्थ है—अपने स्वभाव से अच्युति। स्वभाव का तारतम्य अनुभव है और 'इयत्ता' प्रदेश। स्वभाव की दृष्टि से 'कर्म' आठ प्रकार के कहे गये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते हैं, क्योंकि ये आत्मगुण-ज्ञान, दर्शनादि का घात करते हैं। अवशिष्ट चार अघातिया हैं। जीवनमुक्त के शरीर से ये सम्बद्ध रहकर भी उसके आत्मगत गुणों का घात नहीं

करते। हां, विदेहमुक्त-सिद्ध में घातिया 'अघातिया' कर्मों की स्थिति नहीं रहती। जैन कर्म सिद्धान्त में इन कर्म भेदों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है। लेकिन सामान्य से समझने के लिये कर्म के १४८ भेद हैं। ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के बयालीस, गोत्र के दो तथा अन्तराय के चार भेद हैं। फिर इनके अवान्तर भेद हैं।

इस कर्मबन्ध का जिस प्रकार ब्राह्मणदर्शनों या बौद्ध दर्शन में 'चक्र' मिलता है—वह कर्मचक्र यहां भी आचार्यों ने निरूपित किया है। ब्राह्मण दर्शनों में माना गया है कि कर्म अपने सूक्ष्म रूप में जो संस्कार (अदृष्ट या अपूर्व रूप में) छोड़ते हैं—वे 'संचित' होने जाते हैं। इस 'संचित' भण्डार का जो अंश फलदान के लिये उन्मुख हो जाता है—वह 'आरब्ध' या 'प्रारब्ध' कहा जाता है और जो तदर्थ उन्मुख नहीं है—वह 'अन्तारब्ध' या 'संचित' कहा जाता है। किया जा रहा कर्म 'क्रियमाण' है। इस प्रकार 'क्रियमाण' से 'संचित' और 'संचित' से 'प्रारब्ध' और फिर 'प्रारब्ध' योग के रूप में 'क्रियमाण' कर्म और फिर इससे आगे-आगे का चक्र चलता रहता है। बौद्ध दर्शन में उसे 'अविज्जप्ति कर्म' कहते हैं, जिसे ऊपर वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अदृष्ट' तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार 'अपूर्व' कहा गया है। सांख्य कर्मजन्य सूक्ष्म बात को 'संस्कार' नाम से जानता है। अविज्जप्तिकर्म का ही स्थूल रूप 'विज्जप्ति कर्म' है। वस्तुतः बौद्ध दर्शन में धर्म, चित्त और चैतसिक सूक्ष्म तत्त्व हैं जिनके घात-प्रतिघात से समस्त जगत् उत्पन्न होता है। एक अन्य दृष्टि से इन्हें 'संस्कृत' और 'असंस्कृत'—दो भेदों में विभक्त किया जाता है। इन्हें 'सास्त्रव' और 'अनास्त्रव' नाम से भी जाना जाता है। संस्कृत धर्म हेतु प्रत्ययजन्य होते हैं। इसके भी चार भेदों में दो भेदों से एक है—रूप। रूप के ग्यारह भेद हैं—पाँच इन्द्रिय और पाँच विषय तथा एक अविज्जप्ति। चेतना जन्य जिन कर्मों का फल सद्यः प्रकट होता है—उन्हें 'विज्जप्ति' कर्म कहते हैं और जिनका कालान्तर में प्रकट होता है—उन्हें 'अविज्जप्ति' कहते हैं। इन्हें 'संचित' 'प्रारब्ध' के समानान्तर रख कर परख सकते हैं। सामान्यतः यह विवेचन वैभाषिक बौद्धों के अनुसार है। (शेष पृ० ४८ पर)

सोलंकी-काल के जैन मन्दिरों में जैनेतर चित्रण

□ डा० हरिहर सिंह

गुजरात में ११वीं से १३वीं सदी तक सोलंकी राजाओं का प्रभुत्व था। इस काल में गुजरात एक शक्तिशाली राज्य बना। इसी राजनैतिक सीमाओं का विस्तार तो हुआ ही, आर्थिक एवं धार्मिक क्षेत्र में भी काफी उन्नति हुई। इस काल में यशोवन्ताम्बर जैनधर्म का बोलबाला था। कलिकाल सर्वज्ञ आ० हेमचन्द्र के प्रभाव से कुमारपाल जैसे प्रतापी राजा ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया और परमार्हन् विन्द में अभिहित हुआ। गुजरात के अधिकांश मन्दिर एवं विज्ञान जैन मन्दिर इसी काल में निर्मित हुए। तत्कालीन सभी जैन मन्दिर ध्वेताम्बर हैं। ये कला एवं स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। आबू (सम्प्रति मिर्गोही, राजस्थान) और कुम्हारिया (बनाम गाटा, गुजरात) के जैन मन्दिर तो न केवल गुजरात प्रत्युत सम्पूर्ण भारत की शान हैं।

विन्यास की दृष्टि से जैन मन्दिर सामान्यतया सम-सामयिक हिन्दू मन्दिरों से साभ्य रखते हैं, तथापि जैन मन्दिरों की कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जैसे गूढमण्डप और रंगमण्डप के बीच में त्रिकमण्डप का निर्माण, मन्दिर के चारों ओर देवकुलिकाएँ, मन्दिर के सामने बलानक की मरचना इत्यादि। उनके अलंकरण में भी थोड़ी भिन्नता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जैनधर्म का अपना देवकुल है। अतः मन्दिर की साज-सज्जा में जैन-मूर्तियों एवं प्रतीकों का ही भरपूर उपयोग किया गया है। परन्तु जैन देवकुल में सभी देवता जैन ही हों ऐसी बात नहीं है। अष्टदिक्पाल, गणेश इत्यादि हिन्दू देवताओं को जैन देवकुल में ज्यों का त्यों आत्मसात् कर लिया गया है। जैन मन्दिरों में कुछ ऐसे भी चित्रण हैं जो निश्चित रूप से हिन्दू ही हैं जिन्हें प्रायः मन्दिर के भूषण स्वरूप ही स्वीकार किया गया है। ऐसे चित्रण कुम्हारिया के शांतिनाथ-मन्दिर में और आबू के आदिनाथ-मन्दिर (विमलवसही) में सुरक्षित हैं।

कुम्हारिया स्थित शांतिनाथ-मन्दिर (१०८१ ई०) के गर्भगृह द्वार तथा उत्तरी मुखचतुष्की द्वार पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। चारों मूर्तियाँ त्रिमंग मुद्रा में खड़ी हैं। इनके एक हाथ में जलपात्र और दूसरा कट्यवलंबित है। पहचान के लिए इनके वाहन भी अंकित हैं अर्थात् गंगा के साथ मकर और यमुना के साथ कूर्म। तत्कालीन हिन्दू मन्दिरों में भी ये इसी प्रकार प्रदर्शित हैं, परन्तु गुजरात के अन्य किसी भी जैन मन्दिर की द्वारशाखाओं पर इनकी मूर्तियाँ नहीं हैं यद्यपि मध्यभारत (वज्राहो आदि) के जैन मन्दिरों में इन्हें यथोचित स्थान प्राप्त है। गुजरात के अन्य जैन मन्दिरों में इनके स्थान पर प्रायः जलपात्र धारण की हुई नारियों का आमूर्णित किया गया है। जैनधर्म में नदी-पूजा का कोई महत्त्व नहीं है और सम्भवतः इसीलिए अन्य जैन मन्दिरों में इन्हें प्रदर्शित नहीं किया गया है। प्रस्तुत जैन मन्दिर में इन नदी-देवियों का अंकन आकस्मिक ही है। सम्भवतः कलाकार हिन्दू धर्मावलम्बी था और उसने अपने धर्म का उद्घाटित करने के लिए जलपात्र धारण की हुई नारियों के साथ देवियों के वाहन अंकित कर उन्हें गंगा-यमुना का रूप दे दिया। यह भी सम्भव है कि सूत्रधार ने भूल से इन्हें यहाँ प्रदर्शित किया हो।

आबू के आदिनाथ-मन्दिर में देवकुलिकाओं के सामने निर्मित पट्टशालिका (भमती या भ्रमन्तिका) के तीन बितानों में हिन्दू चित्रण है। देवकुलिका संख्या ११ में जैन विद्यादेवी रोहिणी के तीन ओर गणेश, वीरभद्र और भैरव के साथ मातृकाओं की मूर्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं। सभी मूर्तियाँ चार भुजावाली हैं और ललितासन मुद्रा में आसीन हैं। प्रत्येक को उसके वाहन एवं आयुधों के साथ उत्कीर्ण किया गया है। इनमें वृष्णवी, चामुण्डा और माहेश्वरी की पहचान स्पष्ट है। जैन देवकुल में सप्तमातृकाएँ नहीं हैं, अतएव इनके हिन्दू होने में किंचित् भी संदेह नहीं है।

देवकुलिका संख्या २९ में कालीय नाग-पाश का दृश्य चित्रित है। संपूर्ण दृश्य को तीन भागों में दर्शाया गया है। वर्गाकार मध्यभाग में वृत्त में कृष्ण द्वारा कालीय के बाँधने का चित्रण है। कालीय तीन फणों से युक्त है, उसका ऊपरी भाग मानवाकार तथा निचला नाग जैसा है। उसे अनेक गिरहों में समूचे वृत्त में रखा गया है। कृष्ण उसके कंधे पर सवार होकर एक हाथ से उसे नाथ रहे है तथा दूसरे में चक्र धारण किये हुए हैं। कालीय शांतमुद्रा में दोनों हाथ जोड़े हुए है जो उसकी पराजय का द्योतक है। इसी दृश्य में हाथ जोड़े हुए गाँव नागिनियों का भी चित्रण है। आयताकार पार्श्व भागों में एक ओर कृष्ण अन्य खिलाडियों के साथ कन्दुक खेल रहे है तथा दूसरी ओर कृष्ण (विष्णु के अवतार) शेषनाग पर ध्यान कर रहे है, लक्ष्मी चंद्र झुला रही है और एक गण उनके पैर का मर्दन कर रहा है। इसी दृश्य में कृष्ण-चाणूर का द्वन्द्व भी प्रदर्शित है। हातांक कालीय पाश की कथा जैन पुराणों में काफी मशहूर है परन्तु प्रस्तुत दृश्य हिन्दू कथा की ही अनुकृति है, क्योंकि कृष्ण के शेषनागी होने तथा कन्दुक खेलने की कथा वैवल हिन्दू पुराणों में ही है।

देवकुलिका संख्या ४६ में नृसिंहावतार का चित्रण है। नृसिंह भगवान् का ऊपरी भाग सिंह जैसा और निचला मानवाकार है। उनकी सोलह भुजाएँ हैं। विभिन्न

□ □ □

(पृष्ठ ४६ का शेषांश)

महर्षि कुन्दकुन्द ने 'पञ्चाग्निताय' में जैन चिन्तनधारा के अनुरूप 'कर्मचक्र' को स्पष्ट किया है। मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग—सभी बन्ध के कारण हैं। यह तो माना ही गया है कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध है, अर्थात् जीव अनादि काल से संसारी है और जो संसारी है वह राग, द्वेष आदि भावों को पैदा करता है, जिनके कारण कर्म आते हैं। कर्म से जन्म लेना पड़ता है, जन्म लेने वाले को शरीर ग्रहण करना पड़ता है। शरीर से इन्द्रिया होती हैं। इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होता है और विषयों के कारण राग-द्वेष होते हैं और फिर रागद्वेष से पौद्गलिक कर्मों का आकर्षण होता है। इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है।

आयुधों से युक्त वह दैत्यराज हिरण्यकश्यप को अपने दोनों पैरों के बीच दबाकर उसके पेट को पीने लाखून से फाड़ रहे हैं। खड्ग एवं ढाल धारण किये हुए दैत्यराज बिलकुल बेबस मालूम पड़ता है। सम्पूर्ण चित्रण सोलह पंख-डियों वाले गोल पद्म के बीच प्रदर्शित है। यद्यपि मूर्ति एक समतल शिलाखण्ड पर बनाई गई है, तथापि उसमें पर्याप्त उभार है और कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु दैत्यराज के मुख से उसके भयभीत होने का कोई चिह्न नहीं दिखता। इसे मूर्तिकार की कमजोरी ही कह सकते हैं। यह चित्रण हिन्दू ही है, क्योंकि हिन्दू पुराणों ने नृसिंह को विष्णु का अवतार कहा है।

विमलवमसी के उपर्युक्त दोनों वैष्णव चित्रण (कालियादमन व नृसिंहावतार) भ्रमंतिका के प्रमुख आकर्षण हैं। जहाँ सब कुछ जैन ही वहाँ इस प्रकार के चित्रणों को कैसे स्थान मिला, यह एक विचारणीय प्रश्न है। सम्भवतः कलाकार वैष्णव धर्मावलम्बी था। जहाँ उसने सैकड़ों जैन चित्रण प्रदर्शित किये वहाँ उसे कुछ-एक वैष्णव चित्रण उत्कीर्ण करने में किंचित भी हिचकिचाहट नहीं हुई। मन्दिर के संरक्षक ने भी इसका विरोध न कर समर्थन ही किया होगा, क्योंकि इससे न केवल मन्दिर के गौरव में ही अपितु जैनतर लोगों को आकर्षित करने में भी सहायता मिली होगी।

इस कर्मचक्र से मुक्ति पाने के लिये तीनों ही धाराएँ यत्नशील हैं। तदर्थ कही शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है और कही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य का तथा कही श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश है। कही परमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय का निर्देश है। इस प्रकार, विभिन्न मार्गों से हिन्दू संस्कृति की विभिन्न धाराओं में कर्मचक्र से मुक्ति पाने और स्वरूपोपलब्धि तक पहुँचने का क्रम निर्दिष्ट हुआ है। जैन-दर्शन तो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य को सम्मिलित रूप से मोक्ष मार्ग मानता है। □ □ □

अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

श्रावस्ती का जैन राजा सुहलदेव

□ श्री गणेशप्रसाद जैन

राजा सुहलदेव श्रावस्ती का राजा था। मुस्लिम इतिहासकारों ने राजा सुहलदेव का समय १०२३ ई० लिखा है। मीराते-मसऊदी (फारसी तवारीख) में चिश्ती साहब ने लिखा है : “निजद दरियाय-कुटिला (टेढ़ी) जेर दरख्ता गुलचिकाँ व जर्वनावक हमचू भी जान शहीद सु दन्द।” अर्थात् कुटिला नदी के किनारे महूए के पेड़ के नीचे एक तीक्ष्ण बाण की मार से सैयद सालार मसऊद मारा गया। एक भी मुस्लिम सैनिक जिन्दा नहीं बचा।”

चिश्ती साहब आगे लिखते हैं : “मसऊद (गात्रीमियाँ) अपनी भारी भरकम शाही सेना के साथ १७वीं शताब्दी ४२३ हिजरी (सन् १०३३ ई०) को बहराइच पहुँचा। कोंसल (कौड़ियाल) के निकट उसमें श्रीर हिन्दू सेना में युद्ध छिड़ा। हिन्दू-सेना पराजित हो रही थी, तभी राजा ‘सुहलदेव’ भूकंप की तरह हिन्दू-सेना के बीच आ धमके। उन्होंने युद्ध की कमान मम्हाली और मुस्लिम-वाहिनी में मार-काट करते हुए घुस गए। भुट्टे की तरह मुस्लिम सैनिकों का सर काट रहे थे। हिन्दू सेना के उखड़े पाँव जम गए। उन्होंने उत्साहपूर्वक युद्ध किया। मुस्लिम-वाहिनी मैदान छोड़कर भागी। राजा सुहलदेव और उनकी सेना मुगलवाहिनी को खदेड़ती-खदेड़ती बहराइच में उसके पड़ाव तक लाई। वहाँ पुनः गहरा युद्ध हुआ। युद्ध में मसऊद के साथ उसकी सेना का प्रत्येक मुगल सैनिक मारा गया। एक भी जीवित नहीं बचा। यह रज्जकुल मुरज्जव के १८वीं हिजरी ४२४ (सन् १०३४ ई०) की घटना है। रणक्षेत्र बहराइच से केवल ८ मील की दूरी पर है।”

सैयद सालार मसऊद भारत सम्राट् (बादशाह) का सगा भानजा था। वह महान् योद्धा था। उस पर बादशाह की विशेष मेहरबानी थी। उपर्युक्त युद्ध के लिए बादशाह की विशिष्ट-मुगल-वाहिनी मसऊद की सिपहसालारी में आई थी। बड़े-बड़े सैनिक-योद्धा अपनी सेना सहित मदद

में शामिल थे। बहराइच का सैफुद्दीन, महोवा का हसन, गोपामऊ का अजीजुद्दीन, लखनऊ का मलिक आदम, कड़े मानिकपुर का मलिक फंज, मसऊद के मगे मामा रजबहठीले, सैयद इब्राहिम, मिकन्दर बरहना आदि सभी अपनी पूरी ताकत से युद्ध जीतने की कोशिश कर रहे थे। किन्तु राजा सुहलदेव के जोश-खरोश के सामने कोई टिक न सका।

सालार-मसऊद हिन्दुओं में युद्ध के समय हमेशा युद्ध के नियमों के खिलाफ काम करके युद्ध जीतता था। वह हिन्दू सेना के समक्ष हरावल (गायों का वेडा) खड़ा कर देता। हिन्दू सैनिक गाय पर शस्त्र-प्रयोग नहीं करते थे और ममलमान सैनिक हरावल के पीछे में हिन्दू सेना पर धुआँधार शस्त्र-प्रहार करने और विजयी होते। किन्तु राजा सुहलदेव ने बद्धि का प्रयोग किया। उन्होंने बिना भाते वाले बाणों की हलकी मार में गायों के हरावल को हटा दिया। अब मैदान साफ था और सीधा सामना था। मुस्लिम सैनिक रणक्षेत्र में युद्ध लड़ने के अभ्यासी नहीं थे। गायों के पीछे से शस्त्र का बार करने वाले सैनिकों को नेत्रों के सामने यमराज खड़े दिखने लगे।

राजा सुहलदेव के साथ जब सैयद सालार मसऊद का युद्ध हो रहा था, उसी समय वाराणसी में सुलतान महमद के पुत्र के नेतृत्व में (मसऊद रजब की १८ के लगभग) वाराणसी को ध्वस्त किया जा रहा था।

मुबुक्तगीन की तवारीख १०५६ ई० सन् की रचना है। उसमें इस युद्ध का वर्णन १०३४ ई० लिखा है। चिश्ती साहब की मीराते-मसऊदी वाली घटना तवारीख महमूदी किताब से लेकर लिखी है। तवारीख महमूदी मुल्ला गजनवी का लिखा हुआ है। मुल्ला गजनवी इस युद्ध में सैयद सालार मसऊद की सेना के साथ था।

बम्बई की एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में ‘फाइव हीरोज’ शीर्षक से आर० ग्रीमेन का एक लेख प्रकाशित है,

जिसमें लिखा है कि मसऊद ने कौड़ियाल के मैदान में देशी राजाओं को पराजित किया था, किन्तु राजा सुहलदेव के आते ही युद्ध की स्थिति बदल गई। मसऊद 'रजब' की १८वीं तारीख सन् ४२४ हिजरी को अपने साथियों सहित मारा गया।

एशियाटिक सोसाइटी के सन् १९०० के जर्नल के प्रथम पृष्ठ पर मि० स्मिथ का लेख है। उसमें लिखा है कि राजा सुहलदेव 'भर-थारू' जाति अथवा 'डोम' जाति का था। वह सहेट-महेट अथवा अशोकपुर का शासक था। सालार बहराइच ने राजा सुहलदेव के हाथों मारा गया। अशोकपुर में भी सुहलदेव और सालार से युद्ध हुआ था। राजा सुहलदेव जैन था।

जनरल कनिंघम ने सुहलदेव को गोंडा का 'थारू' राजा लिखा है। वंश परिचय में लिखा है कि उसका आदि-पुरुष मोरध्वज (सन् ६०० ई० में) था। उसके बाद इस वंश में हंसध्वज (हंसधज) सन् ६२५ ई० में, मकरध्वज (मकरधज) सन् ६४० ई० में और मुघनध्वज सन् ६७५ ई० में तथा मुहलध्वज सन् १००० ई० में हुए हैं। उस समय नगरी का नाम चन्द्रिकापुरी था।

'आकियालाजिकल सर्वे' की रिपोर्ट में लिखा है कि राजा मुहलध्वज वहाँ का अन्तिम जैन-राजा था। यह इतिहास में सुहिलदेव या सुदिलदेव एवं सुहिराल के नाम से विख्यात है। यह महमूर गजनी का समकालीन था और इसी सुहिलदेव का सालार मसऊद से युद्ध हुआ था।

अन्यत्र वर्णित है कि आठवीं शताब्दी में 'मुगन्वा' नाम का श्रावस्ती का राजा था। यह जैनधर्मी था। इस राजा के दरबार में स्वामी शंकराचार्य एवं जैन विद्वानों का शास्त्रार्थ हुआ था। शंकराचार्य विजयी हुए और मुगन्वा ने वैदिकधर्म स्वीकार कर लिया था। तभी से उसके वंशज वैदिकधर्म का पालन कर रहे हैं, किन्तु उनकी सहायुभूति अभी तक बराबर जैन धर्म के प्रति बनी हुई है। इसीलिये १२वीं शताब्दी तक भी जैन धर्म का ह्रास नहीं हुआ।

मंखकृत श्रीकण्ठचरित में राजा सुहलदेव के सम्बन्ध में लिखा है कि 'मंख' के भ्राता अलंकार ने अपने यहां उच्चकोटि के साहित्यिकों की एक गोष्ठी आयोजित की

थी। उस गोष्ठी में राजा सुहलदेव पधारे थे। (राज-तरंगिणी ८.३३५४.२)। उस समय अलंकार विदेश-मन्त्री था। राजतरंगिणी में उसे सन्धि-विग्रहिक लिखा है। (श्रीकण्ठचरित, अ० २५)

अलंकार और मंख दोनों कश्मीर के दो राजाओं के समय उच्च पदाधिकारी थे। प्रथम राजा सुसाल था और दूसरा जयसिंह। सुसाल का समय १११२ ई० सन् से लेकर ११२८ ई० सन् तक और जयसिंह का ११२८ से ११४६ ई० सन् तक था। श्रीकण्ठचरित का रचनाकाल सन् ११३५ से ११४५ के मध्य माना जाता है। राज-तरंगिणी का रचयिता कल्हण मंख और अलंकार का सम्बन्धी था।

बौद्धग्रन्थों में 'अनाथविण्ड' नाम से श्रावस्ती के सबसे बड़े धनी मुदत्त सेठ का कथन है। उस सेठ ने १८ करोड़ स्वर्ण-मुद्राएँ देकर प्रसेनजित राजकुमार से जेतवन का बगीचा तथागत गौतम बुद्ध के लिए खरीदा था। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण सेठ 'मुदत्त' की उपाधि 'महत्त' प्रचारित हुई। सेठ मुदत्त का परिचय बौद्ध-ग्रन्थों में 'सेट्टि' उपाधि से है। इसी 'सेट्टि' का अपभ्रंश 'सहेट' है और सेठ की उपाधि महत्त का 'महेट' प्रचलित हो गया है। अब 'श्रावस्ती' सहेट-महेट के नाम से जानी जाने लगी है।

राजा सुहलदेव ने 'गोडा-फावावा' मार्ग पर बसे आलोकपुर (हटीला) ग्राम में एक दुर्ग का निर्माण कराया था। उन्होंने इस दुर्ग के निकट भी दो बार मुस्लिम सेना को परास्त किया था। बहराइच जिले का 'चदरा का किला' भी राजा सुहलदेव द्वारा ही निर्मित है। (इण्डियन ऐंटीक्वेरी, पृ० ४६)। सैयद सालार मसऊद के साथ हुए युद्ध में राजा सुहलदेव के विजयी होने के पश्चात् केवल श्रावस्ती ही नहीं, अपितु पूरा अवध क्षेत्र ही निष्कण्टक हो गया था। राजा के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्रों आदि ने लगभग दो सौ वर्षों तक शान्ति और धर्मपूर्वक श्रावस्ती का शासन-सूत्र सम्हाला। ई० सन् १२२६ में शमसुद्दीन अलतमश के ज्येष्ठ पुत्र मलिक ने अवध के इस अंचल को जीतकार अपने अधीन किया। तबकाने-नासिरी में यह (शेष पृष्ठ ५३ पर)

राजस्थान में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाएं

□ डा० शिवकुमार नामवेव

मध्यकालीन राजस्थान में कला के विकास को विभिन्न राजा-महाराजाओं द्वारा समूचे रूप में प्रोत्साहित किया गया था। व्यक्तिगत ऐश्वर्य को लिरस्थायी रखने वाले शासन भवन-निर्माण एवं मन्दिर-निर्माण पर अत्यधिक ध्यान देते थे। राजस्थान के अत्यधिक भूभाग में मध्य-कालीन जैन प्रतिमाएं स्वतन्त्र रूप से एवं मन्दिरों पर उत्कीर्ण मिलती हैं।

जोधपुर से ७० ५६ किलोमीटर की दूरी पर ओसिया नामक स्थान है। यह समृद्धिशाली नगर था, जहां ब्राह्मण एवं जैनों के लगभग २० मन्दिर निर्मित हुए थे। ओसिया का प्रमुख जैन मन्दिर भगवान् महावीर का है। इस मन्दिर का निर्माण आठवीं सदी के अन्तिम काल में हुआ था तथा उसका पुनर्निर्माण दसवीं सदी में हुआ था। जोधपुर राज्य के इतिहास के प्रथम भाग में ओसिया का विवरण देते हुए श्री गौरीशंकरजी ओझा ने लिखा है कि यहाँ एक जैन मन्दिर है जिसमें विशालकाय महावीर स्वामी की मूर्ति है। यह मन्दिर मूलतः सन् ८३० (ई० ७७३) के लगभग प्रतिहार राजा वत्सराज के समय में बनाया गया है। मन्दिर की निकटवर्ती धर्मशाला का पाया खोदते समय श्री पार्श्वनाथ की एक धातु प्रतिमा मिली थी, जो सम्प्रति कलकत्ता के एक जैन मन्दिर में विद्यमान है।

इस महावीर-मन्दिर के मुख्यमण्डप के उत्तरी छज्जे पर पद्मावती यक्षी की प्रतिमा उत्कीर्ण है। कुक्कुट सर्प पर विराजमान द्विभुजी यक्षी की दाहिनी भुजा में सर्प और बायीं में फल है। स्पष्ट है कि पद्मावती के साथ आठवीं सदी में ही वाहन कुक्कुट-सर्प एवं भुजा में सर्प को सम्बद्ध किया जा चुका था।

ग्यारहवीं सदी की एक अष्टभुजी प्रतिमा राजस्थान के झालरापाटन के जन मन्दिर (सन् १०४३) की दक्षिणी वेदिका पर उत्कीर्ण है। ललितमुद्रा में विराजमान यक्षी

की भुजाओं में वरद, वज्र, पद्मकलिका, कृपाण, खेटक, पद्मकलिका, घण्टा एवं फल प्रदर्शित हैं। यक्षी के कंरो में पारम्परिक आयुधो (पाश एवं अङ्गुल) एवं वाहन (कुक्कुट सर्प) का अभाव है, परन्तु सर्प-फणो का विवरण पद्मावती की पहचान का समर्थक है। दूसरी ओर भुजा में सर्प की अनुपस्थिति एवं सर्प फणो का मण्डन देरी के महाविद्या वैरोट्या से पहचान के विरुद्ध है। मूर्त प्रकृति में भुजाओं में सर्वदा सर्प से युक्त वैरोट्या के मस्तक पर कभी सर्पफण का प्रदर्शन नहीं प्राप्त होता है।

राजस्थान में लूनी-पुन्नाकाब लाइन पर नालोतरा स्टेशन है। वहाँ में ६ मील पर पहाड़ों में नाकोडा पार्श्वनाथ स्थान है। ग्यारहवीं सदी में नाकोडा नामक ग्राम में भूमि खोदते समय पार्श्वनाथ की मनोहर प्रतिमा मिली थी जो अब वहाँ के मन्दिर में स्थापित है।

जैसलमेर की पुरानी राजधानी लोहवा में सात जैन मन्दिर हैं। ये सातों मन्दिर तीन मंजिले हैं। यहाँ मुख्य मन्दिर सहस्रफण पार्श्वनाथ का है। यह मूर्ति अत्यन्त भव्य एवं कलापूर्ण है। उदयपुर से ४० मील पर धुलेव गांव अतिशय क्षेत्र है। नदी के पास कोट के भीतर एक प्राचीन मन्दिर है। यहाँ आदिनाथ का मन्दिर है। यहाँ केशर बहुत अधिक चढ़ाई जाती है, इसी से इसका नाम केशरियानाथ पड़ गया। मन्दिर के सामने फाटक पर गजारूढ़ महाराज नाभि और मरुदेवी की मूर्तियाँ हैं।

चौहान जाति की उपशाखा देवडा के शासकों की भूतपूर्व राजधानी सिरोही की भौगोलिक सीमाओं में स्थित देलवाड़ा के हिन्दू और जैन देवालय प्रसिद्ध हैं। धरातल से एक मील उत्तर में पहाड़ी की चोटी पर स्थित देलवाड़ा के पाँच जैन मन्दिर श्वेत संगमरमर से निर्मित हैं। ये मन्दिर आज भी उन पोरवाल जाति के महाजनो (चिमलशाह, वस्तुपाल एवं तेजपाल) का स्मरण कराते हैं, जिन्होंने चाँदी के सिक्के व्यय करके परमार शालकों से

देवालय के निर्माण के लिए देलवाड़ा की पहाड़ी पर जमीन खरीदी थी।

वस्तुपाल-तेजपाल का मन्दिर १२३१ ई० में निर्मित हुआ है। इसमें तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा स्थापित है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टांड ने इन मन्दिरों की शैली पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि “इसके मण्डप और अन्तरालयों की पच्चीकारी अद्वितीय है। इस मन्दिर की शैली विशेष रूप से प्रशंसनीय है। गुम्बद ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे अर्ध-कमल का फूल खिला हो। इसकी नक्काशी को देखने वाला एकाएक अपनी आंख को नहीं हटा सकता।” फर्गुसन ने इस मन्दिर की शैली के सम्बन्ध में लिखा है—“ऐसा प्रतीत होता है कि हेनरी सप्तम के काल में जो गिरजाघर वेस्टमिन्स्टर में बना, वह इन दोनों मन्दिरों की तुलना में बिलकुल फीका है।

विमलशाह गुजरात के प्रतापी नरेश भीमदेव के मन्त्री थे। उन्होंने विक्रम ११वीं सदी में विमलवसही का निर्माण किया। विमलशाह के मन्दिर में जैन तीर्थंकर आदिनाथ की पीतल की मूर्ति है। कला की सुन्दरतम कृति बनाने के लिए मूर्ति की आंख में हीरा लगाया गया और हीरे व पन्ने जैसे कीमती चमकदार पाषाणों का हार बनवाया गया। यह मूर्ति तीन फुट ऊंचे चबूतरे पर स्थित है। जेम्स टांड ने इस मन्दिर के विषय में लिखा है कि “भारतवर्ष के भवनों में यदि ताजमहल के बाद कोई भव्य भवन है तो वह है विमलशाह का मन्दिर।”

विमलवसही के गूढमण्डप के दक्षिणी द्वार पर चतुर्भुजी पद्मावती की मूर्ति (१२वीं सदी) उत्कीर्ण मिलती है। कुक्कुट-सर्प पर आरूढ़ पद्मावती की भुजाओं में सनाल पद्म, पाश, अंकुश एवं फल प्रदर्शित है। लूणवसही के गूढमण्डप के दक्षिणी प्रवेशद्वार की दहलीज पर चतुर्भुजा पद्मावती की एक लघु आकृति उत्कीर्ण है। मकरवाहना यक्षी के हाथों में वरदाक्ष, सर्प, पाश एवं फल प्रदर्शित हैं। वाहन मकर का प्रदर्शन परंपरा के विरुद्ध है, पर सर्प एवं पाश का चित्रण पद्मावती की पहचान का समर्थक है। साथ ही दहलीज के दूसरे छोर पर पार्श्व यक्ष का चित्रण भी इसके पद्मावती होने को प्रमाणित करता है। संभव

है कि वाहन मकर का प्रदर्शन पार्श्व यक्ष के कूर्मवाहन से प्रभावित रहा हो। विमलवसही की देवकुलिका ४६ के मण्डप के चितान पर उत्कीर्ण षोडशभुजी देवी की सम्भावित पहचान महाविद्या वैरोट्या एवं यक्षी पद्मावती दोनों से ही कर सकते हैं। सप्त सर्पफणों से मंडित एवं ललितमुद्रा में विराजमान देवी के आसन के समक्ष तीन सर्पफणों से युक्त नाग (वाहन) आकृति को नमस्कार मुद्रा में उत्कीर्ण किया गया है। नाग की कटि के नीचे का भाग सर्पाकार है। नाग की कुंडलियां देवी के दोनों पार्श्वों में उत्कीर्णित दो नागी आकृतियों की कुंडलियों से गुम्फित है। हाथ जोड़े एवं एक सर्प से मण्डित नागी आकृतियों की कटि के नीचे का भाग भी सर्पाकार है। देवी की भुजाओं में वरद, नागी के मस्तक पर स्थित त्रिशूल, घण्ट, षड्ग, पाश, त्रिशूल, चक्र (छल्ला), दो ऊपरी भुजाओं में सर्प, खेटक, दण्ड, सनाल पद्मकलिका, वज्र, सर्प, नागी के मस्तक पर स्थित एवं जलपान प्रदर्शित हैं। दोनों पार्श्वों में दो कलशधारी सेवक एवं वाद्य करती आकृतियां अंकित हैं। सप्त सर्पफणों का मण्डन जहां देवी की पद्मावती से पहचान का समर्थन करता है, वही कुक्कुट-सर्प के स्थान पर वाहन के रूप में नाग का चित्रण एवं भुजाओं में सर्प का प्रदर्शन महाविद्या वैरोट्या से पहचान का आधार प्रस्तुत करता है।

जयपुर के निकट चांदनगांव एक अतिशय क्षेत्र है। यहां महावीरजी के विशाल मंदिर में भगवान् महावीर की सुन्दर और भव्य मूर्ति है। जोधपुर के निकट गांधाणी तीर्थ में भगवान् ऋषभदेव की धातु-मूर्ति ६३७ ई० की है। बूढ़ी से २० वर्ष पूर्व कुछ प्रतिमाएं प्राप्त हुई थी। उनमें से तीन अहिच्छत्र में ले जाकर स्थापित की गई हैं। तीनों का रंग हल्का कथई है एवं तीनों शिलापट्ट पर उत्कीर्ण हैं। बाईं से दाईं ओर को प्रथम शिला फलक ३॥ फीट है। मध्य में फणालंकृत पार्श्वनाथ तीर्थंकर की खड्गासन प्रतिमा है। इसके परिकर में नीचे एक यक्ष और दो यक्षियां हैं, जो चंवर धारण किये हुए हैं। उनके ऊपर कायोत्सर्ग मुद्रा में ३० इंच आकार की एक तीर्थंकर प्रतिमा है तथा उसके ऊपर ७ इंच अवगाहना की एक पद्मासन प्रतिमा है। इसी प्रकार दाईं ओर भी दो

प्रतिमाएं हैं। यह शिलाफलक पंच बालयति का कहलाता था। पाषाण बलुआई है, लेख या लांछन नहीं है।

मध्य में हल्के कथई रंग की पद्मासनस्थ पार्श्वनाथ की प्रतिमा है, ऊपर सर्पफण है। अवगाहना २। फीट है। सिंहासन में दो सिंह जिन्हा निकाले बैठे हैं। यक्षी पद्मावती एक बच्चे को छाती से चिपटाये हुए है, जो उस देवी के अपार वात्सल्य का सूचक है। भगवान् के शिरो-पार्श्व में दोनों ओर गज उत्कीर्ण है। उनके कुछ ऊपर इन्द्र हाथों में स्वर्ण-कलश लिये क्षीरसागर के पावन जल से भगवान् का अभिषेक करते प्रतीत होते हैं। फण के ऊपर त्रिछत्र है अलंकरण सामान्य है।

अन्तिम प्रतिमा खड्गासन अवस्था में है। अवगाहना २। फीट है। अधोभाग में दोनों ओर इन्द्र और इन्द्राणी चंवर लिये हुए हैं। मध्य में यक्ष-यक्षी विनत मुद्रा में बैठे हैं। मूर्ति के सिरे के दोनों ओर विमानचारी देव हैं। एक विमान में देव एवं देवी है। दूसरे में एक देव है। छत्र के एक ओर हाथी का अंकन है। भामण्डल और छत्रत्रयी है।

राजस्थान का पाली जिला न केवल ऐतिहासिक एवं व्यापारिक दृष्टि से विख्यात है, अपितु धार्मिक दृष्टि से भी अद्भुत महत्त्व भी रखता है। इस जिले में सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के दर्शनीय, पूजनीय एवं धार्मिक स्थान हैं। यह जिला जैनों का प्रमुख केन्द्र रहा है। यहां बड़े-बड़े आचार्यों, विद्वानों, साधु-सन्तों एवं यति-मुनियों ने सत्य और अहिंसा की मशाल जलाई है। पाली जिले की

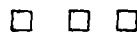


(पृष्ठ ५० का शेषांश)

बात स्वीकार की गई है कि अवध के इस इलाके को जीतने में सुल्तान अलतमश को एक लाख बीस हजार मुसलमान थोढ़ाओं की बलि देनी पड़ी थी।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि राजा सुहलदेव अद्भुत वीर, साहसी, सुशील, धर्म-परायण, रणकुशल, राजनीतिज्ञ और चतुर शासक थे। साथ ही साथ वह उच्चकोटि के कवि और साहित्यक थे। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था।

यह एक बड़ी विचित्र बात है कि राजा सुहलदेव और संयद सालार मसऊद के युद्ध की इस भारी ऐतिहासिक



गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी, जहां जैनों के लिए धार्मिक श्रद्धास्थली बनी हुई है, वहां पर्यटकों, इतिहास-वेत्ताओं और पुरातत्वज्ञों के लिए भी इसका बड़ा महत्त्व है। राणकपुर, नाडोल, नारलाई, वरकाना एवं घाणेराव के पास स्थित मुंछाला-महावीर गोड़वाड़ जैन पंचतीर्थी का मुख्य स्थान है जिसकी सूक्ष्म शिल्पकला अत्यन्त सुन्दर है। राणकपुर का प्रमुख जैन मन्दिर आदिनाथ का है जो चौमुखी है। राणकपुर का जैन मन्दिर शिल्पकला एवं स्तम्भों के लिए जगत् विख्यात है। इसी जैन पंचतीर्थी की कड़ी के रूप में पाली जिले का श्री राता महावीर तीर्थ-स्थान भी अपनी प्राचीनता एवं ऐतिहासिक महत्ता एवं शिल्पकृतियों के लिए प्रख्यात है। मन्दिर का निर्माण वि० सं० ६२१ में आचार्य महाराज श्री सिद्धिभूरि जी के उपदेश से श्रेष्ठ गोत्र के वीरदेव ने कराया था। मन्दिर शिल्प-कलाकृतियों का भंडार है। इसमें मूलनायक भगवान् महावीर की प्रतिमा के अतिरिक्त अनेक छोटी-बड़ी जैन प्रतिमाएं विद्यमान हैं।

राणकपुर या राणापुर का नाम महाराणा कुंभा के नाम राणा पर रखा गया था। यह स्थान सादड़ी से १४-१५ मील की दूरी पर अरावली की पहाड़ी में स्थित है। यहां के मंदिरों में नेमिनाथ, आदिनाथ एवं पार्श्वनाथ के मंदिर प्रमुख हैं। यहां के आदिनाथ मंदिर में ऋषभनाथ की विशाल पद्मासन मूर्ति अत्यंत मनोज्ञ है। कुल मिलाकर वेदिकाओं में ४२५ मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं।

घटना का वर्णन किसी हिन्दू इतिहासकार ने नहीं किया। मुसलमान इतिहासकारों और कुछ विदेशियों ने ही इस पर प्रकाश डाला है।

आज भी भारतीय इतिहास के अनेक पृष्ठ अन्धकार की कारा में पड़े शोधकर्ताओं की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संयद सालार मसऊद गाजीमियाँ के नाम से मशहूर हो गया है। इसका जयन्ती-वर्ष जेष्ठ के कृष्ण पक्ष में प्रथम रविवार को कुछ मुसलमान-हिन्दूओं के द्वारा वाराणसी और बहराइच में मनाया जाता है।

हेमचन्द्राचार्य की साहित्य-साधना

□ डा० मोहनलाल मेहता

आचार्य हेमचन्द्र का जैन साहित्यकारों में ही नहीं, समस्त संस्कृत साहित्यकारों में प्रमुख स्थान है। इन्होंने साहित्य के प्रत्येक अंग पर कुछ न कुछ लिखा है। कोई ऐसा महत्वपूर्ण विषय नहीं जिस पर हेमचन्द्र ने अपनी लेखनी न चलाई हो। इन्होंने व्याकरण, कोश, छन्द, अलंकार, काव्य, चरित्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र, नीति आदि अनेक विषयों पर विद्वत्पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इन सब ग्रन्थों का परिमाण लगभग दो लाख श्लोक-प्रमाण है। समग्र भारतीय साहित्य में इतने विज्ञान बाहुमय का निर्माण करनेवाला अन्य आचार्य दुर्लभ है। हेमचन्द्र की इसी प्रतिभा एवं ज्ञान-साधना से प्रभावित होकर विद्वानों ने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित किया।

हेमचन्द्र सूरि का जन्म विक्रम संवत् ११४५ की कार्तिकी पूर्णिमा को गुजरात के पृथुका ग्राम में हुआ था। इनका बाल्यावस्था का नाम चाणदेव था। ११५४ में ये देवचन्द्रसूरि के शिष्य बने एवं इनका नाम सोमचन्द्र रखा गया। देवचन्द्रसूरि अपने शिष्य के गुणों पर बहुत प्रसन्न थे एवं सोमचन्द्र की विद्वत्ता से अति प्रभावित थे। अतः उन्होंने अपने सुयोग्य शिष्य का ११६६ की वैशाख शुक्ल तृतीया को आचार्यपद प्रदान कर दिया। सोमचन्द्र के शरीर की प्रभा एवं कान्ति स्वर्ण के समान थी, अतः उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। वि० संवत् १२२६ में हेमचन्द्र का निधन हुआ।

हेमचन्द्रविरचित विविधविषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

शब्दानुशासन—यह व्याकरण शास्त्र है। इस पर स्वोपज्ञ लघुवृत्ति, बृहद्वृत्ति, बृहन्न्यास, प्राकृतवृत्ति, लिगानुशासन सटीक, उणादिगण विवरण, धातुपारायण-विवरण आदि हैं। ग्रन्थकार ने अपने पूर्ववर्ती व्याकरणों में रही हुई त्रुटियों से रहित सरल व्याकरण की रचना की

है। इसमें सात अध्याय संस्कृत के लिए हैं तथा एक अध्याय प्राकृत (एवं अपभ्रंश) के लिए है। इस व्याकरण की रचना इतनी आकर्षक है कि इस पर लगभग ६० टीकाएँ एवं स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

काव्यानुशासन—यह अलंकार शास्त्र है। इसमें काव्य के प्रयोजन, हेतु, गुण-दोष, ध्वनि इत्यादि सिद्धान्तों पर गहन एवं विस्तृत विवेचन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ अलंकार-चूडामणि नामक वृत्ति एवं विवेक नामक व्याख्या है।

छन्दानुशासन—हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन और काव्यानुशासन की रचना करने के बाद छन्दानुशासन लिखा है। इसमें संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के छन्दों का सर्वांगीण परिचय है। इस पर छन्दश्चूडामणि नामक स्वोपज्ञ वृत्ति भी है।

द्वयाश्रयमहाकाव्य—इस काव्य की रचना आचार्य ने अपने व्याकरण ग्रन्थ शब्दानुशासन के नियमों को भाषागत प्रयोग में समझाने के लिए की है। जिस प्रकार शब्दानुशासन संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में विभक्त है, उसी प्रकार यह महाकाव्य भी संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में है। इसके २८ सर्गों में से प्रारम्भ के २० सर्ग संस्कृत में हैं जो संस्कृत-व्याकरण के नियमों को उदाहृत करते हैं तथा अन्तिम ८ सर्ग (कुमारपाल चरित) प्राकृत में हैं जो प्राकृत-व्याकरण के नियम उदाहृत करते हैं। इस द्वयाश्रय काव्य के दो प्रयोजन हैं: एक तो व्याकरण के नियमों को समझाना और दूसरा गुजरात के चौलुक्यवंश का इतिहास प्रस्तुत करना। इस ऐतिहासिक काव्य में चौलुक्यवंश का और विशेषतः उस वंश के नृप सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का गुणवर्णन किया गया है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—इस चरित्र-ग्रन्थ में जैन परम्परा के ६३ शलाकापुरुषों अर्थात् महापुरुषों का काव्या-

त्मक जीवनवृत्त है। ये शलाकापुरुष इस प्रकार हैं—२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ६ बलदेव और ६ प्रतिवासुदेव। इस विशाल ग्रन्थ की रचना हेमचन्द्राचार्य ने अपने जीवन की उत्तरावस्था में की थी। इसमें जैन पुराण, इतिहास, सिद्धान्त एवं तत्त्वज्ञान के सग्रह के साथ सम-कालीन सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियों का प्रतिबिम्ब भी दृष्टिगोचर होता है। इसका परिशिष्ट पर्व अर्थात् स्थविरावनिचरित जैन इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

कोश—आचार्य हेमचन्द्र ने इन चार कोशग्रन्थों की रचना की है—१. अभिधानचिन्तामणि, २. अनेकार्थ-सग्रह, ३. निघण्टुशेष, ४. देशीनाममाला। अभिधान-चिन्तामणि में अमरकोश के समान एक अर्थ अर्थात् वस्तु के लिए अनेक शब्दों का उल्लेख है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है। अनेकार्थसग्रह में एक शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। अभिधानचिन्तामणि एकार्थकोश है जब कि अनेकार्थसग्रह नानार्थकोश है। निघण्टुशेष में वनस्पतियों के नामों का सग्रह है। यह कोश आयुर्वेदशास्त्र के लिए विशेष उपयोगी है। इसे अभिधानचिन्तामणि का पूरक कहा जा सकता है। देशीनाममाला में ३५०० देशी शब्दों का संकलन है। ये शब्द संस्कृत अथवा प्राकृत व्याकरण में सिद्ध नहीं होते। देशी शब्दों का ऐसा अन्य कोश उपलब्ध नहीं है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

प्रमाणमीमांसा—न्यायशास्त्र के इस ग्रन्थ में पहले सूत्र है और फिर उन पर स्वोपज्ञ व्याख्या है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि यह सूत्र और व्याख्या दोनों को मिलाकर भी मध्यकाय है। यह न तो परीक्षामुख और प्रमाणनयतत्त्वालोक जितना संक्षिप्त ही है और न प्रेम कमलभार्तण्ड और स्याद्वादरत्नाकर जितना विस्तृत ही। इसमें प्रमाणशास्त्र के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का मध्यम प्रतिपादन है। दुर्भाग्य से यह ग्रन्थ पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

योगशास्त्र—इसमें जैन योग की प्रक्रिया का पद्यबद्ध प्रतिपादन है। यह श्रमण-धर्म एवं श्रावक-धर्म के सिद्धान्तों की विवेचना करता हुआ ध्यानमार्ग के द्वारा मुक्तिप्राप्ति का निरूपण करता है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी है।

द्वात्रिंशिकाएँ—स्तोत्र-साहित्य की दृष्टि से हेमचन्द्र-

कृत अयोगव्यवच्छेदिका और अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक द्वात्रिंशिकाएँ उत्तम रचनाएँ हैं। इनमें बत्तीस-बत्तीस श्लोक होने के कारण इन्हें 'द्वात्रिंशिका' नाम दिया गया है। अयोगव्यवच्छेदिका में जैन सिद्धान्तों का सरल प्रतिपादन है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका में जैनतर सिद्धान्तों का निराकरण है तथा इस पर मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है जो जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

अहंन्तीति—यह जैन नीतिशास्त्र की एक उत्तम कृति है। इसमें राजा, मन्त्री, सेनापति तथा राज्य के विविध अधिकारियों एवं प्रशासकों के कर्तव्यों और अधिकारों का निर्देश है। इसे लघु-अहंन्तीति भी कहते हैं।

इन महत्त्वपूर्ण कृतियों के अतिरिक्त वीतरागस्तोत्र, महादेवस्तोत्र, द्विजवदनचपेटिका, अहंन्नामसहस्रसमुच्चय आदि के रचयिता भी आचार्य हेमचन्द्र ही हैं। इनका ज्ञान बहुमुखी था, इनकी प्रतिभा विलक्षण थी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. मिद्धहेमचन्द्रव्याकरण—हेमचन्द्र, गेट आनन्दजी कन्याणजी पेढी, अहमदाबाद, १९३४
२. प्राकृतव्याकरण—हेमचन्द्र, भाण्डारकर ओरियण्टल रिगर्व इंस्टिट्यूट, पूना, १९५८
३. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, दो भाग, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९३८
४. छन्दानुशासन—हेमचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१२
५. द्वात्रिंशिकाव्य—हेमचन्द्र, दो भाग, गवर्नमेंट सेट्रल प्रेस, बम्बई, १९१५-१९२१
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—हेमचन्द्र, छः भाग, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३६-१९६५
७. परिशिष्टपर्व—हेमचन्द्र, एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, १८९१
८. अभिधानचिन्तामणि—हेमचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत, १९४६
९. अनेकार्थसंग्रह—हेमचन्द्र, चोखम्बा संस्कृत सिरीज, बनारस, १९२६

(शेष पृष्ठ ७४ पद)

क्या 'रूपकमाला' नामक रचनाएं अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी हैं?

□ श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

बहुत बार रचनाओं के नाम एक बड़ा भ्रम पैदा कर देते हैं। मूल रचना बिना देखे-पढ़े उसके नाम के आधार पर अनुमान या कल्पना कर ली जाती है। 'रूपकमाला' नामक दो-तीन रचनाएँ प्राप्त हैं, जो अलंकार-शास्त्र विषयक नहीं हैं, पर उनके नाम से वैसा भ्रम हो गया कि उन्हें कई विद्वानों ने अलंकार विषयक जैन रचनाओं में सम्मिलित कर दिया।

'जैन-साहित्य का बृहद् इतिहास' का पाँचवाँ भाग 'लाक्षणिक साहित्य' सम्बन्धी है, जिसके लेखक पं० अम्बालाल शाह जैन-साहित्य के अच्छे विद्वान् हैं। इस पाँचवें भाग के पृष्ठ १२३ में पहले रूपक-मंजरी का उल्लेख किया गया है। उसमें यह भी लिखा है कि जिनरत्नकोष के पृष्ठ ३३२ में उसका नाम 'रूप-मंजरीनाममाला' दिया हुआ है। ग्रन्थ का नाम देखते हुए उसमें रूपक अलंकार विषयक निरूपण होगा, यह अनुमान होता है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अलंकार विषयक माना जा सकता है। पर वास्तव में गोपाल के पुत्र रूपचन्द ने रूपमंजरीनाममाला ही रची है और उसकी प्रति बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में और अन्य कई ग्रन्थालयों में मैंने देखी है। उसका नाम रूपकमंजरी किसी ने गलती से लिख दिया मालूम पड़ता है। इसी कारण, इसके अलंकार विषयक होने का अनुमान कर लिया गया। पर है यह वास्तव में नाममाला ही अर्थात् कोष विषयक है, अलंकार विषयक नहीं है।

उपर्युक्त 'जैन-साहित्य के बृहद् इतिहास' के पाँचवें भाग के उसी पृष्ठ में रूपक-मंजरी के बाद 'रूपकमाला' ग्रन्थ का उल्लेख है। उसे अलंकार विषयक रचना मान लिया गया है, यद्यपि पं० अम्बालाल शाह को इसमें शंका अवश्य रही है। उन्होंने लिखा है—

'रूपकमाला' —

'रूपकमाला' नाम की तीन कृतियों के उल्लेख मिलते हैं :—

१. उवाच्याय पुण्यनन्दन ने 'रूपकमाला' की रचना की है और उस पर समयसुन्दरगणि ने वि० सं० १६६३ में 'वृत्ति' की रचना की है।

(वास्तव में रचयिता का नाम पुण्यनन्दन नहीं, पुण्यनन्दि है।)

२. पार्श्वचन्द्रमूरि ने वि० सं० १५८६ में 'रूपकमाला' नामक कृति की रचना की है।

३. किसी अज्ञातनामा मुनि ने 'रूपकमाला' की रचना की है।

ये तीनों कृतियाँ अलंकार विषयक हैं या अन्य विषयक, यह शोधनीय है।"

अभी-अभी इसी का अनुसरण डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने 'काव्यप्रकाश' की यशोविजयकृत टीका के उपोद्घात में किया है। इसमें रूपकमंजरी के सम्बन्ध में तो यही लिख दिया है कि नाम के आधार पर यह कल्पना की जाती है कि इसमें रूपक अलंकार के विषय में विवेचन होगा। पर रूपकमाला के सम्बन्ध में पं० अम्बालाल शाह की इस सका को कि 'ये तीनों कृतियाँ अलंकार विषयक हैं या अन्य विषयक, यह शोधनीय है', डा० रुद्रदेव त्रिपाठी ने स्थान नहीं दिया। इससे उन्होंने रूपकमाला को अलंकार विषयक रचनाएँ ही मान लिया। पर वास्तव में यह भ्रमोत्पादक है। इसीलिए इसका स्पष्टीकरण और निर्णय यहां कर देना आवश्यक है।

पुण्यनन्दि की रूपकमाला नामक रचना मेरे समक्ष है। इसमें हिन्दी भाषा के ३२ पद्य हैं। इसमें 'शील' धर्म का गुणवर्णन करने का उल्लेख प्रथम पद्य में ही कर

(शेष पृष्ठ ७३ पर)

वाचक कुशललाभ के प्रमाख्यानक काव्य

□ डा० मनमोहन स्वरूप माथुर

सूफी कवियों की भांति ही जैन कवियों ने भी मध्य-काल में अनेक प्रेमाख्यानक काव्यों का प्रणयन किया। इसमें सूफियों का उद्देश्य जहाँ दो भिन्न संस्कृतियों के समन्वय का था वही जैन कवियों का उद्देश्य था समाज में शील एवं मतीत्व के उपदेश तथा स्वामिमक्ति का प्रचार। इसी शृङ्खला के कवि हैं उपाध्याय अभयधर्म के शिष्य वाचक कुशललाभ। कुशललाभ ने अपने जीवनपर्यन्त जैन एवं जैनतर कथानकों को ग्रहण कर निम्नलिखित प्रेमाख्यानों की काव्यात्मक रचना की :

१. माधवानल काम कन्दला चउपई। २. डोला मारवणी चउपई। ३. जिनपालित जिनरक्षित सधिगाथा। ४. शगडदत्त-रास। ५. तेजसार-रास चउपई। ६. भीमसेन हयराज चउपई। ७. स्थूलिभद्र छत्तीसी, और ८. कनकसुन्दरी चउपई।

माधवानल कामकंदला के अति प्राचीन लोकप्रचलित प्रेमाख्यान पर कवि ने माधवानल कामकंदला चउपई नामक रचना का निर्माण किया। इसका रचनाकाल वि० स० १६१६ फाल्गुन शुक्ला १३ रविवार कहा गया है। इसमें माधव और कामकंदला के प्रेम की कहानी कही गई है।

डोला-मारू के परंपरित आख्यान पर कवि ने 'डोला-मारवणी चउपई' नामक कृति की रचना वि० स० १६१७ की अक्षय तृतीया को की। इसके दोहे अत्यन्त प्राचीन

हैं। कवि ने अपनी चउपइयों के साथ इन दोहों की प्रसंगानुसार संगठित किया, जिसे कवि ने इन शब्दों में स्वीकार किया है। : 'दूहा घणा पुराणा ग्रछह, चोपइबंध कितो मैं पछह।'

'जिनपालित जिनरक्षित सधिगाथा' का रचना सवत् १६२१ है। इसमें चंपापुरी के सेठ माकदा के दो पुत्रों जिनपालित और जिनराक्षित की रोमांचक यात्रा एवं जिनरक्षित की कामासक्तता के साथ जिनरक्षित राघ की स्थापना की कथा ८५ छंदों में कही गई है।

जैन ऋषि परम्परा के प्रमुख चरित्र अगडदत्त पर कवि ने ३१६ छंदों में 'अगडदत्ताराग' नाम से एक सुन्दर रचना का निर्माण किया। प्राप्त हस्तलिखित प्रति में के आचार पर इस कृति का रचनाकाल वि० सं० १६२५ कार्तिक सुदी १५ गुरुवार है।^१ इसमें कवि ने अगडदत्त की ललित प्रवृत्तियों द्वारा नारी के विश्वांगपाती चरित्र का कथन कर वैराग्य भावना की स्थापना की है।

इसी शैली का अन्य ग्रंथ है - तेजसार रास चउपई। इसमें कुशललाभ ने तेजसार के बाहुबल और प्रेम-झोड़ाओं का वर्णन करते हुए उसके आचक्र रूप की प्रतिष्ठा की है। साथ ही, कवि ने तेजसार के जन्म और पूर्वजन्म की घटनाओं के आकलन द्वारा दीपपूजन के माहात्म्य को भी प्रस्तुत किया है।^२

१. इस रचना का कुछ सूचियों में 'गुणसुन्दरी चउपई' नाम मिलता है। डा० के० सी० कासलीवाल द्वारा निमित्त सूची में 'कनक सुन्दरी चउपई' नाम से वर्णित है। किन्तु यह कुशललाभ की संदिग्ध रचना है।

२. म० प्राच्य विद्या मन्दिर, पूना, हस्तलिखित ग्रंथ ६०५ गाथा ३१८।

३. डा० मनमोहन स्वरूप माथुर : कुशललाभ और उनका साहित्य (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध); पृ० ६६।

कुशललाभ द्वारा रचित 'भीमसेन हंसराज चउपई' एक भावना विषयक प्रेमाख्यान है।^१ इसमें भीमसेन के गौरव और मदनमञ्जरी के प्रेम का सात्विक वर्णन करना ही कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। रचना की पुष्पिका के आधार पर यह वि० स० १६४३ श्रावण शुक्ला सप्तमी की कृति घोषित होती है।^२

'स्थूलिभद्र छत्तीसी' आलोच्य कवि की ३७ छंदों में लिखित एक लघु प्रेमाख्यान है।^३ इसमें कुशललाभ ने जैन ऋषि स्थूलिभद्र और वेध्या कोशा के प्रेम एवं उनके संयमी जीवन की कहानी कही है।

कुशललाभ की उक्त सभी प्रेमाख्यानक रचनाएं परम्परा से सम्बद्ध हैं। इन काव्यों का आधार लोक-प्रचलित कथाएं, विक्रम चक्र की कथाएं, प्राकृत अपभ्रंश के मानकग्रंथ 'कथासरित्सागर' एवं जैन आगम साहित्य की अधिगृहीत कथाएं हैं। उक्त प्रथम दो कृतियाँ जैनोत्तर प्रेमाख्यान हैं, शेष जैन लोकतत्वों और सदाचारों से सम्पन्न हैं।

'माधवानल कामकंदला चउपई' कथासरित्सागर में ईलक नाम के वणिक की स्त्री के विरह से मृत्यु, श्रीधर की बात में कुमुदिका का श्रीधर का प्रेम तथा क्षेमकर की गिहासन 'द्वात्रिंशिका' की रंजनी बात में वर्णित धनह श्रेष्ठि द्वारा बताये गये द्वीप के देवालय में लिखित लेख को पढ़ कर विक्रम द्वारा खड्ग ग्रहण कर स्त्री तथा पुरुष

को पुनर्जीवन देने के लिये अपने मस्तक को काटने की घटना' आदि में दूढ़ा जा सकता है।

'ढोलामारवणी चउपई' की कथा देशज भाषाओं की प्राण रही है। बारहवीं शताब्दी के आसपास 'ढोला' शब्द के प्रियतम और पति अर्थ में रूढ़ हो जाने से इस कहानी का आदि कवि अज्ञात ही है। यहीं से इस कथा-परम्परा का आरम्भ माना जा सकता है।

जैन साहित्य में अगडदत्त की कथा अति प्राचीन है जो 'वसुदेव हिंडी' के उपविभाग 'घमिलहिंडी'^४ के माध्यम से प्रसारित हुई। यही परम्परा प्राकृत में विकसित हुई और उसी परम्परा को आगे बढ़ाने वाली कड़ी है कुशललाभ कृत 'अगडदत्तरास'।

जैनधर्म में ब्रह्मचर्य के उपदेश-निमित्त कोशा की चित्रशाला में उसके प्रेमी स्थूलिभद्र के चातुर्मास बिताने की कथा प्राचीन काल से ही कही जाती रही है। आगमों में इसका वर्णन है।^५ 'वसुदेवहिंडी', 'समराइच्चकहा' में सासारिक विषयभोगों की क्षणभंगुरता सिद्ध करने के लिये मधुबिंदु दृष्टांत का उपयोग किया है।^६ यही सूत्र कुशललाभ को आलोच्य कृति में वर्णित है।^७ अतः इन्हीं ग्रंथों से 'स्थूलिभद्र छत्तीसी' रचना का संबंध जोड़ना चाहिये :

'जिनपालितजिनरक्षित सधिगाथा' का आधार वर्जित दिशा और दो भाइयों के कथान्तुओं वाले 'मोटिफ' है।

१. "इति श्री भावनाविषये राजा श्री भीमसेन हंस संबध चउपई समाप्त"—एल० डी० इस्टीट्यूट आफ इण्डोलोजी, अहमदाबाद, ग्र० १२१७।

२. सवत लोक-वेद सिणगार, वर्षा ऋतु जलधर विस्तार। श्रावण मास शुक्ल सप्तमी, रच्यो राय श्री गुरुपय नमी ॥ चो: ६२०।

लोक ३, वेद ४, सिणगार १६ = १६४३।

३. श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, ग्र० ४२०६।

४. मोहलाल दलीचव देसाई, आनन्दकाव्य महोदधि, मौलिक ७, पृ० १५६।

५. मोहनलाल दलीचंद देसाई, आनन्दकाव्य महोदधि, मो० ७, पृ० १५६।

६. डा० जे० सी० जैन, प्राकृत जैन कथा साहित्य, पृ० १६६।

७. मुनि हंसोपन मेवाड़ी, आगम के अनमोल रत्न,।

८. डा० जे० सी० जैन, प्रकृत जैन कथा साहित्य पृ० १७७।

९. उभांरि अवकूप अध तात ताल
भयंग बध कठि एकविण
हरक सीर सग्रही, मनुष्य दुक्ख स्यू रहइ।
गयंद मत्त रोसि तत्त, धूणी लाग सड सहस,
मधियां चट्टक पीर ऊपजी
सबही सरीर, वेदना सहहि ॥
परति मुखी मद् लख वरु लाल विक्खइ,
आहार को पुरुष तेण वार,
आऊ ज्यू उगार आप ही कहइ।
सहत बिंदु तास मुख ना तजइ महत्त दुक्ख,
देपि जे ससार सुख, जाणि जे विचार मुख,
सुख ज्यू लहइ ॥

श्री अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, ४२०६, गाथा २३।

इसका पूर्ववर्ती जैन कथा रूप ‘हंसराज बच्छराज कथा’ में देख जा सकता है। वही ‘तेजसार रास चउपई’ एवं ‘भीमसेन हंसराज चउपई’ रचनाओं का भी उद्गम ऐसी ही जैन धर्म से सम्बन्धित रचनाओं तथा कथानक रूढ़ियों से है।

उक्त प्रेमाख्यानकों के नायक-नायिका राजकुल के राजकुमार-राजकुमारियाँ अथवा राजकुल से सम्बन्धित मन्त्री, पुरोहित, सामन्त; सेठ के पुत्र-पुत्रियाँ हैं। इनमें प्रेम का आरम्भ प्रत्यक्ष दर्शन और रूप-गुण-श्रवण द्वारा हुआ है। नायक-नायिकाओं में प्रेमोद्दीपन एवं उनके सयोग में सहायक तोता, मन्त्री पुत्र, भाट, खवास (नाई), सखियाँ आदि पात्र हुए हैं। ढोला मारवणी एवं माघवानल कामकंदला एवं भीमसेन हंसराज चउपई में नायक ने नायिका की प्राप्ति के लिये वैराग्य धारण कर राज-महल आदि का त्याग किया है। मार्ग में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। नायिका के मिलन के पश्चात् उपर्युक्त सभी काव्यों में घर लौटते हुए भयंकर कठिनाइयों (ओखा) का पुनः सामना करना पड़ता है; यथा, राक्षसियों द्वारा नायक को रोकना, नायक-नायिका के विश्राम स्थल की छत का गिरना, नायिका की मृत्यु, प्रतिनायक द्वारा नायक का आतथ्य इत्यादि। किन्तु इन बाधाओं को विद्याधरियों, विद्याधरो, बैताल, जोगी-जोगिनी आदि ने दूर करके नायक-नायिकाओं को मिलाया है। घर लौटने पर नगरवासियों, माता-पिता द्वारा स्वागत किया जाता है तथा प्रजा आनन्द उत्सव मनाती है।

कुशललाभ के जैनकथानक संवन्धी प्रेमाख्यानों में इस उत्सव में कोई गुरु नायक को धर्म में दीक्षित करता

१. तेजसार रास चउपई, जिनपालित जिनरक्षित संघि गाथा।
२. अगड़दत्त रास।
३. माघवानल कामकंदला चउपई, ढोलामारवणी चउपई, भीमसेन हंसराज चउपई।
४. ढोलामारवणी चउपई, तेजसार रास चउपई।
५. तेजसार रास चउपई, अगड़दत्त रास।
६. माघवानल कामकंदला चउपई।

है। तत्पश्चात् नायक अपने बड़े पुत्र को राज्यभार संभालकर संन्यासी बनते चित्रित किया गया है, जबकि जैनतर प्रेमाख्यानक रचनाओं में सुखमय पारिवारिक जीवन के साथ कथा का अन्त है। इस प्रकार, जहाँ जैनतर रचनाओं की कथावस्तु सुखान्त है, वहीं जैन चरित सम्बन्धी प्रेमाख्यानों की प्रसादान्त।

प्रायः सभी प्रेमाख्यानकों में अलौकिक शक्तियों में आस्था, जादू-टोने, मंत्र-तंत्र में विश्वास, भविष्यवाणियों में श्रद्धा, स्वप्नफल और शकुनों में विश्वास रखने की बातों का प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। अश्विश्वास के कारण ही ढोलामारवणी चउपई का नायक ढोला अपने वियोग का कारण पूर्वजन्म के फलो को मानता है—

“पैलें भव पाय में कीया, तो तुम विन इतरा दिन
संमुख बात करै वापण, जीवन जन्म आज सुप्रमाण ॥”

और भविष्यवाणी द्वारा शकर पुरोहित को गंगा घाट पर पुत्र माघव की प्राप्ति होती है। ‘भीमसेन हंसराज चउपई’ की नायिका मदनमंजरी को भी हंस की भविष्यवाणी पर २१ दिन बाद गर्भ प्राप्त होता है। जादू-टोनों की बात तो सभी रचनाओं में कदम-कदम पर वर्णित है। यह भाग्यवादिता एवं अन्धविश्वासों के प्रति आस्था साधारण पात्रों से लेकर राजा आदि में भी विद्यमान है।

कुशललाभ के सभी प्रेमाख्यानों में एक ही प्रकार की लोक वार्ताओं का समावेश हुआ है। इस समानता से इनकी आन्तरिक एकता को बल मिला है। तत्कालीन लोक-समाज की रीति नीति, सम्पत्ता और लोक संस्कृति का सहज चित्रण इन प्रेमाख्यानों की विशेषता है।

७. ढोलामारवणी चउपई।
८. आनन्दकाव्य महोदधि, मौक्तिक ७, माघवानल कामकंदला चउपई, चौ० ५६-६१।
९. एह देह छडी करी इण घरि मुभ अंवतार।
मदनमंजरी नह उदरि, अवतारि मू निद्वारि ॥
एल० डी० इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद, प्र० १२१७
छं० २५३।

राजस्थानी के अन्य प्रेमाख्यानकों की भाँति ही कुशललाम के प्रेमाख्यानकों में भी पात्रों का जीवन-व्यापार एवं क्रियाकलाप मानव की मूल प्रवृत्तियों के अनुसार संचालित है। इन मूल प्रवृत्तियों में काम और आत्मप्रदर्शन की मूल प्रवृत्तियों का चित्रण प्रमुख रूप से हुआ है। नायक-नायिकाओं में डटकर मिलनोत्सुकता के मूल में उनका रूपाकर्षण एवं मासल सुख-प्राप्ति की तीव्र लालसा है। विरहकाल में भी यदि उन्हें कोई वेदना है तो मात्र उनके रसगन्धयुक्त यौवन के अभाव की।

सभी प्रेमाख्यानों का आरंभ मगलाचरण द्वारा किया गया है। जैनर काव्यों में यह मगलाचरण गणपति, सरस्वती, शंकर और कामदेव की स्तुति द्वारा किया गया है, जबकि जैन रचनाओं में सरस्वती वदना के साथ गुरुवदना, जिनप्रभु, आश्रयदाता आदि की स्तुति के साथ हुआ है। मगलाचरण के बाद इनमें जबूद्वीप, शत्रुंजय गिरि, कवि परिचय का भी उल्लेख किया गया है। इनमें वर्णनात्मकता का बाहुल्य है। कवि ने इन रचनाओं का अन्त पुष्पिका द्वारा किया है जिनमें कवि ने अपने गुरु खरतरगच्छीय उपाध्याय अभयधर्म तथा स्वयं का नामोल्लेख किया है।

कुशललाम की आधिकांश प्रेमाख्यानक रचनाओं में अधिकारिक कथा का आरंभ प्रायः किसी निःसन्तान राजा अथवा पुरोहित द्वारा संतान-प्राप्ति के प्रयत्न के वर्णन से हुआ है। देवी-देवता, ऋषि-मुनि के अभिमन्त्रित फल अथवा उनके वताये अनुसार पुष्कर या अन्य पवित्र स्थलों की जाव देवे पर उस राजा के यहा पुत्र अथवा पुत्री का जन्म हुआ है। युवा होने पर किसी अपराध में पिता से कहा-मुनी होने पर या राजाज्ञा से नायक को घर छोड़ना पड़ा है। इसी निष्कासन से नायक के वैशिष्ट्य के द्वारा इन रचनाओं में प्रेम तत्त्व उभरा है।

कुशललाम के प्रेमाख्यानों में यों तो नवरस खोजे जा सकते हैं। परन्तु प्रधानता शृंगार रस की ही है। जैन कथात्मक प्रेमाख्यानों में शान्तरस सहायक एवं उद्देश्यपूर्ति के रूप में प्रयुक्त रस है। श्री श्रीचन्द जैन के अनुसार, “जैन काव्य में शान्ति या शम की प्रधानता है अवश्य, किन्तु वह आरंभ नहीं परिणति है। नारी के शृंगारी रूप, यौवन तथा तज्जग्य कामोत्तेजना आदि का चित्रण इसी कारण जैन कवियों ने बहुत सूक्ष्मता से किया है।”

कवि ने अपनी काव्यवस्तु को हृदयंगम कराने के लिये सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षादि अलंकारों का प्रयोग किया है। यह प्रयोग सहज, स्वाभाविक एवं भावोत्कर्षक है। इन अर्थालंकारों के अतिरिक्त इनमें राजस्थानी के वयण सगाई अलंकार का भी सकल निर्वाह हुआ है—

आडा खवाळा आपणा, घणे गमे वेसाड्या घणा ।

(ढोलामारवणी चउपई, चौ० ६८) ।

रायह दीठो तेह सरूप ।

(भीमसेन हंसराज चउपई, चौ० ६८) ।

सोवन मइ-सुंदर आवास

(तेजसार रास चउपई, चौ० ३१७) ।

कुशललाम ने अलंकारों के साथ ही विविध छंदों का भी प्रयोग किया है। ये छंद हैं—दूहा, चउपई, गाहा, छप्पय, कवित्त, सवैया, बेखरी, चोटक, वस्तु, काव्य, छन्द, रोमकी, नाराच, त्रिभंगी, चावकी इत्यादि। इन छंदों के अतिरिक्त कवि ने लोक प्रचलित ढालों को ग्रहण कर इन रचनाओं को संगीतात्मकता प्रदान की है। संगीत को बनाये रखने की दृष्टि से अनेक स्थलों पर कवि द्वारा प्रयुक्त उपयुक्त छंद काव्यशास्त्रीय लक्षणों से मेल नहीं (शेष पृ० ६० पर)

१. माधवानल कामकदला चउपई, ढोलामारवणी चउपई तेजसाररास चउपई, भीमसेन हंसराज चउपई ।

२. तेजसार रास, पार्श्वनाथ दशभव-स्तवन आदि रचनाएं ।

३. माधवानल कामकदला चउपई, अगड़त्तरास, स्थूलि-भद्रछत्तीसी ।

४. जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. १३२-३३ ।

५. 'वैण सगाई' कविता के किसी चरण के दो शब्दों में प्रायः करके प्रथम और अन्तिम शब्दों के संबन्ध स्थापित करती है। यह संबन्ध एक ही वर्ण अथवा मित्र वर्णों के द्वारा किया जाता है।

—नरोत्तमदास स्वामी—'वैण सगाई' लेख—राजस्थानी, दाल्यूम २, सं० १६६३ ।

जैन दर्शन की अनुपम देन : अनेकान्त दृष्टि

□ श्री श्रीनिवास शास्त्री, कुरक्षेत्र

जैनदर्शन भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण प्रस्थान है। इसमें अनेक नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं। तत्त्व-विवेचन या प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में ही नहीं अपितु कैवल्य के स्वरूप और साधन के विषय में भी जैन दार्शनिकों ने अनूठी सूझ का परिचय दिया है। जैन दर्शन के रत्नत्रय से भारतीय दर्शन के पाठक परिचित ही हैं। उमा स्वाति ने बतलाया है कि सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र्य से मोक्ष की प्राप्ति होती है।^१

यहाँ बतलाये गये सम्यग् दर्शन आदि तीनों ही जैन दर्शन में रत्नत्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये तीनों मिलकर ही मोक्ष के साधन हैं। इनमें सम्यग् दर्शन का स्थान प्रथम है। यह मोक्ष का प्रथम द्वार है। सम्यग् दर्शन क्या है यह बतलाते हुए उमा स्वाति कहते हैं कि पदार्थों के यथार्थ स्वरूप के प्रति श्रद्धा न करना ही सम्यग्दर्शन है।^२ जैनदर्शन के विविध आचार्यों ने तत्त्वों या पदार्थों का विवेचन भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। उमा स्वाति के अनुसार जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष-ये सात तत्त्व हैं।^३ इन जीव आदि पदार्थों का जो स्वरूप है उन्हें उसी रूप में मोह तथा सशय आदि से रहित होकर जानना 'सम्यग्ज्ञान' कहलाता है।^४ जीव आदि पदार्थों के स्वरूप के विषय में विविध वाद प्रचलित हैं। उदाहरण के लिये जीवात्मा को ही ले लीजिये। बौद्ध के मत में, क्षणिक पञ्चस्कन्ध की सन्तति से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। इसीलिये उसे अनात्मवादी कहा जाता है। न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में आत्मा नित्य है, कर्ता और भोक्ता है। वह शरीर आदि से भिन्न एक तत्त्व है। सांख्य-योग के मत में पुरुष या आत्मा बुद्धि से परे है, वह

असग है। बुद्धि ही कर्ता है और बुद्धिस्थ सुख-दुःख को पुरुष अपना समझ लेता है, यही उसका भोग है; वस्तुतः वह न कर्ता है न भोक्ता है। अद्वैत वेदान्त की दृष्टि में जीवात्मा आभास मात्र है, वस्तुतः ब्रह्म ही परमार्थ सत् है। अविद्या के कारण ही जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना कर ली जाती है। इन सब परस्पर विरुद्ध वादों के रहते जीव के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करना कठिन है। फिर सम्यग्ज्ञान कैसे होगा? तब तो मोक्ष-प्राप्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

प्रायः सभी जीव आदि पदार्थों के स्वरूप के विषय में विवेचकों का मत-भेद दृष्टि-गोचर होता है। जिस प्रकार अनेक अन्धे एक हाथी को टटोलते हैं, कोई उसके घड़ को स्पर्श करके उसे दीवार सा कहता है और कोई उसके पैर को छूकर उसे खम्भे के समान बतलाता है और कोई पूँछ को पकड़कर रस्से के समान कह देता है; यही दशा एकान्तवादी विवेचकों की है। जैसे कोई आँखी वाला सभी अन्धों को एकत्रित करके यह समझा देता है कि तुम सभी का ज्ञान आंशिक रूप में सत्य है, हाथी के एक-एक अंग का ही तुमने अनुभव किया है; इन सब का समुदित रूप हाथी है; हाथी के शरीर में ये सभी अनुभव सत्य हैं; किन्तु आंशिक रूप में। इसी प्रकार, किसी तत्त्ववेत्ता की भाँति जैन दर्शन ने वस्तुओं के स्वरूप को समझने के लिए अनेकान्तवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

अनेकान्तवाद क्या है? इसका विचार कैसे हुआ? किसी भी वस्तु को उसके अनेक (सभी सम्भव) पहलुओं से देखना, जाँचना अथवा उस तरह देखने की कृति रखकर वैसा प्रयत्न करना ही अनेकान्त दृष्टि है।^५

१. सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्याणि मोक्षमार्गः—तत्त्वार्थसूत्र (प्रारियन्टल लाइब्रेरी पब्लिकेशन, मैसूर विश्व-विद्यालय, १९४४), १.१।
२. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। वही, १.२।

३. वही, १.४।

४. द्र०, सर्वदर्शन संग्रह, जैनदर्शन।

५. प० सुखलाल सघवी, प्रस्तावना, सन्मतिप्रकरण (ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, १९६३), पृ० ८४।

अनेकान्तवाद का व्यवस्थित विवेचन भगवान् महावीर का उपदेश माने गये जैन आगमों में मिलता है। यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् महावीर से पूर्व अनेकान्तवाद का संकेत ही नहीं मिलता। संसार के उपलब्ध वाङ्मय में परम प्राचीन जो ऋग्वेद है उसमें भी 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' यह वेद का वचन तत्त्व की अनेक रूपता का प्रतिपादन करता है। इसी प्रकार, ऋग्वेद में कहा गया है—'तासदासीनो सदासीत् तदानीम्'।^१ उपनिषदों में भी 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके,' 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'सदसच्चाभूतं च यत्' इत्यादि वचनों द्वारा एक ही तत्त्व में अनेक विरुद्ध पक्षों का कथन किया गया है। भगवान् महावीर के समकालीन भगवान् बुद्ध के उपदेशों में जो अव्याकृत प्रश्न कहे गये हैं उनमें भी अनेकान्तवाद की झलक देखी जाती है। फिर भी जैनतर वाङ्मय में अनेकान्तवाद का निखरा स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता। जैन आगमों में ही वह रूप मिलता है।

जैन आगमों का विवेचन अत्यन्त संक्षिप्त है। आगमों के जो भाष्य आदि उपलब्ध होते हैं उनमें भी तर्क शैली से विस्तृत विवेचन नहीं किया गया है। जैन वाङ्मय के दार्शनिक ग्रंथों में ही इसका विस्तृत विवेचन मिलता है। इसका विकसित रूप प्रथमतः उभा स्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य में प्राप्त होता है। आगे चलकर सिद्धसेन दिवाकर, मल्लवादी, समन्तभद्र, हरिभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि अनेक विद्वानों द्वारा अनेकान्तवाद की अधिकाधिक विशद व्याख्या की गई है। देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र तथा यशोविजय जी के साहित्य में अनेकान्तवाद को अधिक समन्वयात्मक व्याख्या है।

सम्भवतः जैन आगमों में भी प्रथमतः तत्त्व के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान करने के लिये ही अनेकान्तवाद की खोज की गई होगी। विद्वानों ने इस के उद्भव के विषय में एक अन्य प्रकल्पना भी प्रस्तुत की है। उनका विचार है

कि बौद्धिक ग्रहिसा ही अनेकान्तवाद के रूप में प्रतिफलित हुई है। जब ग्रहिसा के सिद्धान्त को बौद्धिक क्षेत्र में भी लागू किया जाता है तो यह ग्रहिसा हमें दूसरों के विचारों का आदर करने और उनकी सहानुभूतिपूर्ण परीक्षा करने की प्रेरणा देती है। वस्तुतः मानव की दृष्टि किसी एक ही पदार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न हो सकती है ; क्योंकि पदार्थ के अनेक पहलू होते हैं। अन्य विचारकों की दृष्टि के प्रति आदर भाव रखकर हम वस्तु के तात्त्विक रूप को अधिक समझ सकते हैं। इस प्रकार, जैन धर्म की ग्रहिसा जब दूसरों के विचारों के प्रति आदर भाव सिखलाती है, अर्थात् बौद्धिक ग्रहिसा के रूप में आती है तो उसे अनेकान्तवाद कहते हैं।^२

भारतीय दर्शन के जैनतर आचार्यों ने अनेकान्तवाद के मन्तव्य का तर्क तथा युक्तियों के आधार पर खण्डन किया है, इसके मानने वालों पर नाना प्रकार के व्यंग्य भी किये हैं जिनमें शंकराचार्य, धर्मकीर्ति तथा वाचस्पति मिश्र आदि उल्लेखनीय हैं। इधर जैन विद्वानों ने प्रतिपक्षियों के आक्षेपों का उत्तर दिया है तथा अनेकान्तवाद की अधिकाधिक युक्तिसंगत व्याख्या करने का प्रयास किया है। हरिभद्र सूरि के अनेकान्तवाद के विजयपताका आदि ग्रंथों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः लक्षित होती है। अनेकान्तवाद के विषय में एक सामान्य आक्षेप यह है कि एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्म नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, एक ही वस्तु युगपत् सत् और असत् कैसे हो सकती है ? इसका समाधान है-दृष्टि-भेद से, जैसे सांख्य की दृष्टि में कुण्डल उत्पत्ति से पूर्व अपने कारण में सत् है (सत्कार्यवाद) ; किन्तु न्याय-वैशेषिक की दृष्टि में कुण्डल उत्पत्ति से पूर्व असत् है (असत्कार्यवाद)। अनेकान्त दृष्टि के अनुसार, इन दोनों मतों में सत्यता है। दोनों परस्पर-विरोधी नहीं हैं अपितु एक दूसरे के पूरक हैं, एक दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। वस्तुतः कार्य

१. ऋग्वेद, १.१६४.४६।

२. वही, १०.२.१२९।

३. ईशावास्योपनिषद्, ५।

४. कठोपनिषद्, २.२०।

५. प्रश्नोपनिषद्, २.५।

६. मि०. इन्ट्रोडक्शन, अनेकान्तजयपताका (बड़ोदा आरियन्टल इन्स्टीट्यूट, १९४७), पृ० c XIV.

और कारण ये दोनों एक दृष्टि से अभिन्न हैं और दूसरी से भिन्न भी हैं। जब हम दोनों को अभिन्न रूप में देखते हैं तो कुण्डल को सुवर्ण से अभिन्न समझते हुए (या कहिये सुवर्ण का परिणाम या रूपान्तर मानते हुए) उत्पत्ति से पूर्व भी सुवर्ण में कुण्डल को सत् कहने लगते हैं, अथवा सुवर्ण में कुण्डल रचना की शक्ति है, इसी शक्ति की दृष्टि से कुण्डल को उत्पत्ति से पूर्व सत् कह दिया जाता है। दूसरी दृष्टि में सुवर्ण से कुण्डल भिन्न है। यदि भिन्न न होता या पहले से ही सुवर्ण में कुण्डल विद्यमान होता तो सुवर्णकार उसे बनाने के लिये प्रयत्न क्यों करता? अतः कहा जाता है कि कुण्डल आदि कार्य सुवर्ण में असत् है। इस प्रकार, दो विरुद्ध धर्म सत्त्व तथा असत्त्व युगपत् एक कुण्डल में रहते हैं। दृष्टि भेद से सत् और असत् का समन्वय करने पर तत्त्व का यथार्थ-बोध होता है। सिद्धसेन दिवाकर बतलाते हैं कि सद्वाद और असद्वाद दोनों अनेकान्त दृष्टि से नियमित हैं तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते हैं, क्योंकि एक-एक व्यस्त होकर वे दोनों संसार के दुःख से मुक्ति नहीं साधते।'

अनेकान्तवाद को संशयवाद कहकर भी इसका खण्डन किया गया है। यह ठीक है कि अनेकान्तवाद को स्याद्वाद से पृथक् नहीं किया जा सकता; किन्तु स्याद्वाद में जो 'स्यात्' शब्द है वह क्रियापद नहीं है और उसका अर्थ यह नहीं है—ऐसा भी सम्भव है। वस्तुतः यह 'स्याद्' शब्द अव्यय है, जिसका अर्थ है 'किसी प्रकार' (कथञ्चित्)। अतः 'स्यादस्ति' का अर्थ है 'वस्तु किसी प्रकार किसी दृष्टि से है'। इसी प्रकार, 'स्यान्नास्ति' का अर्थ होगा—'वस्तु किसी दृष्टि से नहीं भी है'। एक ही वस्तु में दृष्टि-भेद या अवस्था-भेद के अनुसार भाव और अभाव का निर्णय किया जा सकता है, यह अभी ऊपर बतलाया गया है। अतः स्याद्वाद या अनेकान्तवाद संशयवाद नहीं है और न यह अज्ञानवाद ही है। वस्तुतः यह वाद वस्तु के स्वरूप का निश्चयात्मक रूप में ही विवेचन करता है और साथ ही विविध आचार्यों के विरोधी वादों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय भी करता है।

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों ने किसी न

किसी रूप में समन्वय और सह-अस्तित्व की भावना का आदर किया है। इस भावना का बीज वेदों तथा उपनिषदों में विद्यमान है। यह ऊपर दिखलाया जा चुका है। वेदान्त के 'अनिर्वचनीयवाद' में, बुद्ध के 'अव्याकृतवाद' में तथा उत्तरवर्ती विभज्यवाद और सांख्य की परिणामी नित्यता में इस समन्वय-भावना के संकेत मिलते हैं। न्यायसूत्रों में भी नितान्त एकांतवादियों के मतों का निराकरण करके दृष्टि-भेद की ओर संकेत किया गया है। फिर भी अनेक आचार्यों ने जो जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है उसके पीछे तत्कालीन प्रवृत्ति ही कही जा सकती है। वादों के विवाद में प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करना और अपने सम्प्रदाय के युक्त या अयुक्त मत का प्रतिपादन करना मतवादी अपना कर्तव्य समझता था। अन्य दर्शनों के आचार्यों ने ही नहीं, अनेकान्तवाद के पोषक आचार्यों ने भी इसी प्रवृत्ति का अनुसरण किया था। यदि सभी मतवादी सत्य की खोज को लक्ष्य करके एक तत्त्वान्वेष्टी की भाँति दूसरे की दृष्टि का आदर करते तो सत्य के विवेचन में अधिक सफल होते।

अनेकान्तवाद का मिद्धान्त तत्त्व विवेचन में ही सहायक नहीं है, अपितु जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसकी उपयोगिता है। इसका व्यावहारिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक महत्व है। व्यावहारिक दृष्टि से यह अनेकान्तवाद बहुत से विवादों और झगड़ों से मानव-समाज को बचा सकता है। विरोधी के विचारों के प्रति सहिष्णुता का भाव यदि प्रत्येक मानव में होगा तो विवाद-प्रस्त विषयों में दूसरे के पक्ष को समझकर उसे सुलझाने की प्रवृत्ति स्वयं ही हो जायेगी। हमारे अनेक विवादों, वैमनस्यों और मत-भेदों का मूल है दूसरे के भाव को न समझना या विरोधी के विचारों के प्रति सहिष्णुता न रखना।

धार्मिक विवादों से बचने के लिये भी अनेकान्त दृष्टि उपयोगी है। धर्मसहिष्णुता का भाव रखकर ही विविध सम्प्रदाय एक दूसरे के साथ सुख-शान्ति से रह सकते हैं। यदि किसी के तथाकथित धार्मिक आचरण से

समाज के अन्य व्यक्तियों के मन में दुख होता है या समाज की शान्ति एवं व्यवस्था भंग होनी है या समाज की यथेष्ट प्रगति में बाधा पड़ती है अथवा समाज के किसी अन्य अहित की आशङ्का है तो अनेकान्त दृष्टि मानव को सन्मार्ग दिखला सकती है। ऐसी दृष्टि वाला व्यक्ति अपने मन्तव्य पर आग्रह नहीं करता, दूसरों के हृदय को समझने का भी प्रयास करता है और मानवता-विरोधी मन्तव्य या आचरण से विलग हो जाता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी अनेकान्तवाद स्वीकार्य ही है। तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान आदि को प्रायः सभी दर्शनों ने दुःख-निवृत्ति या मुक्ति का साधन माना है। किन्तु तत्त्वज्ञान क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? इत्यादि विषयों में विविध आचार्यों के भिन्न-भिन्न मन है—'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'। फिर तत्त्वज्ञान या आत्मज्ञान कैसे सम्भव है? इसका उत्तर है अनेकान्त दृष्टि से। जब जिज्ञासु जन तत्त्व-सम्बन्धों या आत्म-सम्बन्धों विविधवादों को एक ही सत्य के अनेक पहलू मान लेता है तो उन विवादों में उलझा नहीं रहता, वह तो साधना में मग्न होकर सत्य की खोज में तत्पर रहता है।

अनेकान्त दृष्टि का मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है। मानव-मन श्रद्धा और तर्क दोनों से युक्त है। किसी समय श्रद्धा का भाव प्रबल होता है तो किसी समय तर्क की प्रवृत्ति उग्र हो जाती है। श्रद्धा से आप्लावित जन तर्क

या बुद्धि की अवहेलना कर देता है और तर्क का पक्षपाती श्रद्धा को केवल अन्ध-परम्परा मान लेता है। किन्तु केवल श्रद्धा भाव से या केवल तर्क से किसी तथ्य का निर्णय करना कठिन है। श्रद्धा का अभिप्राय है मानव के अर्जित ज्ञान के प्रति विश्वास तथा आस्था रखना। यदि मानव जाति ने केवल इतना ही किया होता तो सम्भ्यता और संस्कृति का विकास उत्तरोत्तर न हुआ होता। दूसरी ओर, केवल तर्क का क्षेत्र भी अत्यन्त सीमित है। वह प्रत्येक व्यक्ति की बौद्धिक शक्ति, योग्यता और संस्कारों पर निर्भर है। किञ्च, मानव जाति के अर्जित ज्ञान-विज्ञान पर आस्था रखकर ही तर्क के द्वारा आगे बढ़ा जा सकता है। अतः केवल श्रद्धा या केवल तर्क ज्ञान प्राप्ति के अधूरे साधन हैं नितान्त अपूर्ण हैं। इनका समन्वय ही मानव को समुन्नत कर सकता है। यह समन्वय अनेकान्त दृष्टि से ही हो सकता है।

इस प्रकार, अनेकान्त दृष्टि केवल तत्त्व निर्णय में ही सहायक नहीं है, यह वह दृष्टि है जिसके द्वारा मानव का जीवन शान्त और सुखी हो सकता है, जिसमें मनुष्य के पारस्परिक विवादों, सामाजिक संघर्षों का अन्त हो सकता है। इन अनेकान्त दृष्टि का निरूपण करके भगवान् महावीर ने मानव जाति का महान् कल्याण किया है।

कुरुक्षेत्र विद्यालय,
कुरुक्षेत्र हरियाणा)



(पृष्ठ ६० का शेषांश)

खाते। तुक के आग्रह से कवि ने छंदों के पदान्त हकार, इकार एवं अकार रूप में कर दिये हैं।

इन प्रेमाख्यानों की भाषा मध्यकाल में प्रचलित लोक भाषा राजस्थानी है, जिसे विद्वानों ने 'जूनी गुजराती' अथवा प्राचीन राजस्थानी कहा है। यह राजस्थानी-व्याकरण सम्मत, गुजराती शब्दों और विभक्तियों की बहुलता लिये हुए है। इसका प्रमुख कारण गुजराती और राजस्थानी भाषा का एक ही मूल शौरसेनी प्राकृत से उद्गम तथा मध्यकाल में गुजरात और राजस्थान की भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता का होना है। ऐसे कुछ

शब्द दृष्टव्य हैं—कितला, घरना, थई, मूकी, मोकलस्यां, नगरनी, एतलू, वीजी, पामी, जूवा, मोकलई इत्यादि।

इस प्रकार कुशललाभ के प्रेमाख्यानक काव्य मध्यकालीन राजस्थानी संस्कृति एवं साहित्यिक प्रवृत्ति के जीवन्त प्रतीक है। उनमें प्रकृति का खुलकर उपयोग हुआ है। यह प्रयोग उद्दीपन की अपेक्षा आलंबन रूप में ही अधिक हो पाया है।

प्राध्यापक-हिन्दी विभाग,
जनता महाविद्यालय (कु० क्ष० वि० वि०
से संबद्ध), बाबल (हरियाणा)

जैन कला : उद्गम और आत्मा

□ डा० ज्योतिप्रसाद जैन, ललनऊ

जैन धर्म का उद्देश्य है मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति में जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। सामान्यतः इस मार्ग में कठोर अनुशासन, आत्मसमर्पण, त्याग और तपस्या की प्रधानता है। किन्तु एक प्रकार से कला भी 'दिव्यत्व की प्राप्ति का और उसके साथ एकाकार हो जाने का पवित्रतम साधन है', और कदाचित् यह कहना भी अतिशयोक्ति न होगा कि 'धर्म के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि में यथार्थ कला-बोध जिनका अधिक सहायक है उतना अन्य कुछ नहीं।' संभवतया यही कारण है कि जैनों ने सदैव ललित कलाओं के विभिन्न रूपों और शैलियों को प्रोत्साहन दिया। कलाएँ निःसंदेह, मूलतः धर्म की अनुगामिनी रही किन्तु उन्होंने इसकी साधना की कठोरता को मृदुल बनाने में भी सहायता की। धर्म के भावात्मक, भक्तिपरक एवं लोकप्रिय रूपों के पल्लवन के लिए भी कला स्थापत्य की विविध कृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुई, अतः उन्हें वस्तुतः सुन्दर बनाने में श्रम और धन की कोई कमी नहीं की गयी। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। यह यद्यपि बहुत विविधतापूर्ण और वैभवशाली है परन्तु उसमें जो शृंगारिकता, अश्लीलता या सतहीपन का अभाव है, वह अलग ही स्पष्ट हो जाता है। वह सौंदर्यबोध के आनन्द की सृष्टि करती है पर उससे कहीं अधिक, सशक्त, उत्प्रेरक और उत्साहवर्धक है और आत्मोत्सर्ग, शांति और समत्व की भावनाओं को उभारती है। उसके साथ जो एक प्रकार की अलौकिकता जुड़ी है,

वह आध्यात्मिक चिन्तन एवं उच्च आत्मानुभूति की प्राप्ति में निमित्त है।

विभिन्न शैलियों और युगों की कला एवं स्थापत्य की कृतियाँ समूचे देश में बिखरी हैं, परन्तु जैन तीर्थ स्थल विशेष रूप से, सही अर्थों में कला के भंडार हैं; और एक जैन मुमुक्षु का आदर्श ठीक वही है, जो 'तीर्थयात्री' शब्द से व्यक्त होता है, जिसका अर्थ है ऐसा प्राणी जो सांसारिक जीवन में अज्ञानबी की भांति यात्रा करता है। वह सांसारिक जीवन जीता है, अपने कर्तव्यों का पालन और दायित्वों का निर्वाह सावधानीपूर्वक करता है, तथापि उसकी मनोवृत्ति एक अज्ञानबी दृष्टा या पर्यवेक्षक की बनी रहती है। वह बाह्य दृश्यों से अपना एकत्व नहीं जोड़ता और न ही सांसारिक सम्बन्धों और पदार्थों में अपने आप को मोहग्रस्त होने देता है। वह एक ऐसा यात्री है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य के विविध मार्गों का अवलम्बन लेकर अपनी जीवनयात्रा करता है, और अपनी आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर तब तक बढ़ता चला जाता है जब तक कि वह अपने लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर लेता। वास्तव में, जैन धर्म के पूजनीय या पवित्र स्थानों को तीर्थ (घाट) कहते हैं क्योंकि वह दुःखों और कष्टों से पूर्ण संसार को पार करने में मुमुक्षु के लिए सहायक होता है और निरन्तर जन्ममरण के उस भ्रमण से मुक्त होने में भी सहायता देता है जो इस सहायता के बिना कभी मिट नहीं सकता। यही कारण है कि जैन तीर्थयात्रा का वास्तविक उद्देश्य आत्मोत्कर्ष है। कदाचित् इसीलिए जैनों ने अपने तीर्थक्षेत्रों के लिए जिन स्थानों को चुना, वे पर्वतों

की चोटियों पर या निर्जन और एकान्त घाटियों में हैं ; जो जनपदों और भौतिकता से ग्रसित सांसारिक जीवन की आषाढी से भी दूर हरे-भरे प्राकृतिक दृश्यों तथा शांत मैदानों के मध्य स्थित हैं, और जो एकाग्र ध्यान और आत्मिक चिन्तन में सहायक एवं उत्प्रेरक होते हैं। ऐसे स्थानों के निरन्तर पुनीत संसर्ग से एक प्रतिरिक्त निर्मलता का संचार होता है और वातावरण आध्यात्मिकता, अलौकिकता, पवित्रता और लोकोत्तर शांति से पुनर्जीवित हो उठता है। वहाँ, वास्तु स्मारकों (मंदिर देवालयों आदि) की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थंकर प्रतिमाएं अपनी अनन्त शान्ति, वीररागता और एकाग्रता से भक्त तीर्थयात्री को स्वयं 'परमात्मत्व' के सान्निधान्य की अनुभूति करा देती हैं। आश्चर्य नहीं यदि वह पारमार्थिक आवातिरेक में फूट पड़ता है—

‘बला जा रहा तीर्थ क्षेत्र में अपनाए भगवान को ।
सुन्दरता की खोज में, अपनाए भगवान को ॥’

तीर्थक्षेत्रों की यात्रा भक्त जीवन की एक अभिलाषा है। ये स्थान, उनके कलात्मक मन्दिर, मूर्तियाँ आदि जीवन्त स्मारक हैं मुक्तात्माओं के, महापुरुषों के, धार्मिक तथा स्मरणीय घटनाओं के। इनकी यात्रा पुण्यवर्धक और आत्मशोधक होती है। यह एक ऐसी सच्चाई है जिसका समर्थन तीर्थयात्रियों द्वारा वहाँ बिताये जीवन से होता है। नियम, समय, उपवास, पूजन, ध्यान, शास्त्र-स्वाध्याय, धार्मिक प्रवचनों का श्रवण, भजन-कीर्तन, दान और आहारदान आदि विविध धार्मिक कृत्यों में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता है। विभिन्न व्यवसायों और देश के विभिन्न प्रदेशों से आये आबाल-वृद्ध नर-नारी वहाँ पूर्ण शांति और वात्सल्य से पुनीत विचारों में मग्न रहते हैं।

यह एक तथ्य है कि भारत की सांस्कृतिक धरोहर को समृद्ध करने वालों में जैन अग्रणी रहे हैं। देश के सांस्कृतिक भण्डार को उन्होंने कला और स्थापत्य की अग्रणी विविध कृतियों से सम्पन्न किया जिनमें से अनेकों की भव्यता और कलागर्भा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी हैं कि उनकी उपमा नहीं मिलती और उन पर ईर्ष्या की जा सकती है।

यह भी एक तथ्य है कि जैन कला प्रधानतः धर्मोन्मुख रही, और जैन जीवन के प्रायः प्रत्येक पहलू की भांति कला और स्थापत्य के क्षेत्र में भी उनकी विश्लेषात्मक दृष्टि और यहाँ तक कि वैराग्य की भावना भी इतनी अधिक परिलक्षित है कि परम्परागत जैन कला में नीतिपरक अंकन अन्य अंकों पर छा गया दिखता है, इसीलिए किसी-किसी को कभी यह खटक सकता है कि जैन कला में उसके विकास के साथक विशुद्ध सौंदर्य को उभारने वाले तत्त्वों का अभाव है ; उदाहरणार्थ, मानसार आदि ग्रंथों में ऐसी सूक्ष्म व्याख्याएँ मिलती हैं जिनमें मूर्ति शिल्प और भवन निर्माण की एक रूढ़ पद्धति दीख पड़ती है और कलाकार से उसी का कठोरता से पालन करने की अपेक्षा की जाती थी। किन्तु, यही बात बौद्ध और ब्राह्मण धर्मों की कला में भी विद्यमान है, यदि कोई अन्तर है तो वह श्रेणी का है।

जैन मूर्तियों में जिनों या तीर्थंकरों की मूर्तियाँ निरसंदेह सर्वाधिक हैं और इस कारण यह आलोचना तर्क संगत लगती है कि उनके प्रायः एक जैसी होने के कारण कलाकार को अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का अवसर कम मिल सका। पर इनकी भी अनेक मूर्तियाँ अद्वितीय बन पड़ी हैं, यथा—कर्नाटक के श्रवणबेलगोल की विश्वविख्यात विशालकाय गोम्मत-प्रतिमा, जिसके विषय में हेनरिख जिम्मर ने लिखा है—‘वह आकार-प्रकार में मानवीय है, किन्तु हिमखण्ड के सद्म मानवोत्तर भी, तभी तो वह जन्म-मरण के चक्र, शारीरिक चिन्ताओं, व्यक्तिगत नियति, वासनाओं, कष्टों और होनी-अनहोनी के सफल परित्याग की भावना को भलीभांति चरितार्थ करती है।’ एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति की प्रशंसा में वह कहता है—“मुक्त पुरुष की मूर्ति न सजीव लगती है न निर्जीव, वह तो अपूर्व अनन्त शांति से ओतप्रोत लगती है। एक अन्य द्रष्टा कायोत्सर्ग तीर्थंकर-मूर्ति के विषय में कहता है कि ‘अपराजित बल और अक्षय शक्ति मानो जीवन्त हो उठे हैं, वह शालवृक्ष (शाल-प्रांशु) की भांति उन्नत और विशाल है।’ अन्य प्रशंसकों के शब्द हैं, ‘विशालकाय शांति’, ‘सहज भव्यता’, या परिपूर्ण काय-निरोध की सूचक कायोत्सर्ग मुद्रा जिससे ऐसे महापुरुष का संकेत मिलता है

जो अनन्त, अद्वितीय केवल-ज्ञानगम्य सुख का अनुभव करता है और ऐसे अनुभव से वह उसी प्रकार अविचलित रहता है जिस प्रकार वायु-विहीन स्थान में प्रचंचल बीप-शिखा । इससे ज्ञात होता है कि तीर्थंकर मूर्तियाँ उन विजेताओं की प्रतिबिम्ब है जो, जिम्मर के शब्दों में, लोकाग्र में सर्वोच्च स्थान पर स्थिर है और क्योंकि वे रागभाव से प्रतीत है अतः सभावना नहीं कि उस सर्वोच्च और प्रकाशमय स्थान से स्वलित होकर उनका सहयोग मानवीय गतिविधियों के इस मेघाच्छन्न बांतावरण में आ पड़ेगा । तीर्थ सेतु के कर्ता विश्व की घटनाओं और जैविक समस्याओं से भी निर्लिप्त है, वे अतीन्द्रिय, निश्चय, सर्वज्ञ, निष्कर्म और शाश्वत शांत है । यह तो एक आदर्श है जिसकी उपासना की जाये, प्राप्ति की जाये । यह कोई देवता नहीं जिसे प्रसन्न किया जाये, तृप्त या सतुष्ट किया जाये, तृप्त स्वभावतः इसी भावना से जैन कला और स्थ.पत्य की विषय-वस्तु श्रोतप्रोत है ।

किन्तु, दूसरी ओर, इन्द्र और इंद्राणी, तीर्थंकरों के अनुचर यक्ष और यक्षी, देवी सरस्वती, नवग्रह, क्षेत्रपाल और सामान्य भक्त नर-नारी, जैन देव-निकाय के अपेक्षा-कृत कम महत्व के देवताओं या देवतुल्य मनुष्यों के मूर्तन में, तीर्थंकरों और अतीत के अन्य सुविख्यात पुरुषों के जीवन चरित्र के दृश्यांकनों में और विविध अलंकरण प्रतीकों के प्रयोग में कलाकार किन्हीं कठोर सिद्धान्तों से बंधा न था, वरन् उसे अधिकतर स्वतंत्रता थी । इसके अतिरिक्त भी, कलाकार को अपनी प्रतिभा के पदर्शन का पर्याप्त अवसर था, प्राकृतिक दृश्यों तथा समकालीन जीवन की धर्म निरपेक्ष गतिविधियों के शिल्पांकन या चित्रांकन द्वारा जो कभी-कभी विलक्षण बन पड़े, जिनसे विपुल ज्ञातव्य तत्त्व प्राप्त होते हैं और जिनमें कलात्मक सौंदर्य समाया हुआ है । पर, इन सबमें भी कलाकार को जैन धर्म की शुद्धाचार नीति को ध्यान में रखना था, इसीलिए उसे शृंगार, अश्लीलता और अनैतिक दृश्यों की अपेक्षा करनी पड़ी ।

जहां तक स्थापत्य का प्रश्न है, आरम्भ में जैन साधु क्योंकि अधिकतर वनों में रहते थे और भ्रमणशील होते

थे, अतः जनपदों से दूर पर्वतों के पार्श्वभाग में या चोटियों पर स्थित प्राकृतिक गुफाएँ उनके अस्थायी आश्रम तथा आवास के उपयोग में आयी । यहाँ तक कि आरम्भ में निर्मित गुफाएँ सदी थी और सल्लेखना धारण करने वालों के लिए उनमें पालिशदार प्रस्तर कट्याएँ प्रायः बना दी जाती थी । तीसरी-चौथी शती ईसवी से, जनपथों से हटकर बने मन्दिरों या अविष्टानों में लगभग स्थायी रूप से रहने की प्रवृत्ति जैन साधुओं के एक बड़े समूह में चल पड़ी, इससे शैलोत्कीर्ण गुफा मन्दिरों के निर्माण को प्रासाहन मिला । जैसा कि स्मिथ ने लिखा है, इस धर्म की विविध व्यावहारिक आवश्यकताओं ने, निस्संदेह, विशेष कार्यों के लिए अपेक्षित भवनो को प्रभावित किया ।^१ तथापि, जैन साधु अपने जीवन से समय धर्म को कभी अलग न कर सके । सम्भवतया यही कारण है कि अजन्ता और एलोरा के युगों में भी, थोड़ी संख्या में ही जैन गुफाओं का निर्माण हुआ, और पाचवी से बारहवीं शताब्दियों के मध्य ऐसे लगभग तीन दर्जन मात्र गुफा मन्दिर ही निर्मित किये गये, वे भी केवल दिगम्बर आम्नाय द्वारा, श्वेताम्बर साधुओं ने पहले ही जनपदों में या उनके समीप रहना आरम्भ कर दिया था ।

मन्दिर-स्थापत्य-कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणामस्वरूप हुआ जो जैनो से कम से कम इतिहास काल के आरम्भ से प्रचलित रही है । बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेख है कि वज्रि देश और वैशाली के अर्हत-चैत्यों का अस्तित्व था जो बुद्ध-पूर्व अर्थात् महावीर-पूर्व काल से विद्यमान थे, (तुलनीय महापरिनिर्वाण-सुत्तन्त) । चौथी शती ईसा-पूर्व से हमें जैन मूर्तियों, गुफा-मन्दिरों और निर्मित देवालयों या मन्दिरों के अस्तित्व प्रत्यक्ष मिलने लगते हैं ।

अपने मन्दिरों के निर्माण में जैनो ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की संस्कृति और सिद्धान्तों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया जिनके कारण जैनकला को एक अलग ही स्वरूप मिल गया ।

कुछ स्थानों पर उन्होंने समूचे 'मन्दिर-नगर' ही खड़े कर दिये।

मानवीय मूर्तियों के अतिरिक्त, अलंकारिक मूर्तियों के निर्माण में भी जैनों ने अपनी ही शैली अपनायी, और स्थापत्य के क्षेत्र में अपनी विशेष रुचि के अनुरूप स्तंभाधारित भवनों के निर्माण में उच्च कोटि का कौशल प्रदर्शित किया। इन में से कुछ कला-समृद्ध भवनों की विख्यात कला-मर्मज्ञों ने प्राचीन और आरम्भिक मध्य-कालीन भारतीय स्थापत्य की सुन्दरतम कृतियों में गणना की है। बहुत बार, उत्कीर्ण और तक्षित कलाकृतियों में मानव-तत्त्व इतना उभर आया है कि विशाल, निर्ग्रन्थ दिग्म्बर जैन मूर्तियों में जो कठोर संयम साकार हो उठा लगता है उसका प्रत्यावर्तन हो गया। कला कृतियों की अधिकता और विविधता के कारण उत्तरकालीन जैन कला ने इस धर्म की भावनात्मकता को अभिव्यक्त किया है।

जैन मन्दिरों और वसदियों के सामने, विशेषतः दक्षिण भारत में, स्वतंत्र खड़े स्तंभ जैनों का एक अन्य योगदान है। मानस्तंभ कहलाने वाला यह स्तंभ उस स्तंभ का प्रतीक है जो तीर्थंकर के समवसरण (सभागार) के प्रवेश द्वारों के भीतर स्थित कहा जाता है। स्वयं जिन-मन्दिर समवसरण का प्रतीक है।

जैन स्थापत्यकला के आद्य रूपों में स्तूप एक रूप है,

इसका प्रमाण मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। वहाँ एक ऐसा स्तूप था जिसके विषय में इसवी सन् के आरम्भ तक यह मान्यता थी उसका निर्माण सातवें तीर्थंकर के समय में 'देवों' द्वारा हुआ था और पुनर्निर्माण तेईसवें तीर्थंकर के समय में किया गया था। यह स्तूप कदाचित् मध्यकाल के आरम्भ तक विद्यमान रहा। किन्तु, गुप्त-काल की समाप्ति के समय तक जैनों की रुचि स्तूप के निर्माण में नहीं रह गयी थी।

एक बात और, जैसा कि लांगहस्ट का कहना है, 'स्थापत्य पर वातावरण के प्रभाव का यथोचित महत्व समझते हुए हिन्दुओं की अपेक्षा जैनों ने अपने मन्दिरों के निर्माण के लिए सदैव प्राकृतिक स्थान को ही चुना।' उन्होंने जिन अन्य ललित कलाओं का उत्साहपूर्वक सृजन किया उनमें सुलेखन, अलंकार, लघुचित्र और भित्तिचित्र, संगीत और नृत्य है। उन्होंने सैद्धांतिक पक्ष का भी ध्यान रखा और कला, स्थापत्य, संगीत एवं छन्दशास्त्र पर मूल्यवान् ग्रंथों की रचना की है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि जैन कला और स्थापत्य में जैन और जैन संस्कृति के सैद्धांतिक और भावनात्मक आदर्श अत्यधिक प्रतिकलित हुए हैं, जैसा कि होना भी चाहिए था।^४

ज्योति निकुंज, चार बाग, लखनऊ-१



१. जिम्मर (हैनरिख). फिलासफीज आफ इन्डिया, १९५१ न्यूयार्क, पृष्ठ १८१-८२।

२. स्मिथ (बी. ए.) : हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स इन इन्डिया सीलोन १९३० आक्सफोर्ड पृष्ठ ६।

३. लांगहस्ट (ए. एच.) : हम्पी रुइन्स, मद्रास, पृष्ठ ६६।

४. तुलनीय : जैन (ज्योति प्रसाद) : जैन सोर्सेज आफ द हिस्ट्री आफ ऐर्येंट इन्डिया १९६४ दिल्ली, अध्याय १०।

जैन (ज्योति प्रसाद) : रिलीजन एन्ड कल्चर आफ जैन्स (मुद्रण में), अध्याय ८ और प्रस्तुत ग्रन्थ के विभिन्न अध्याय।

प्रशमरतिप्रकरण-कार तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्ता से भिन्न

□ डा० कुसुम पटोरिया, नागपुर

तत्त्वार्थसूत्र जैन तत्त्वज्ञान का संग्राहक, सुन्दर, सुव्यवस्थित और महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जो दोनों ही सम्प्रदायों में ग्राम-ग्रन्थों की भांति ही समाहित है। तत्त्वार्थसूत्र का भाष्य स्वोपज्ञ है या अन्योपज्ञ यह प्रश्न अभी भी अनुत्तरित है। श्वेताम्बर परम्परा स्वोपज्ञ भाष्य के अतिरिक्त प्रशमरतिप्रकरण आदि ग्रन्थों को उमास्वाति प्रणीत मानती है।

प्रशमरतिप्रकरण ३१३ कारिकाओं में रचित ग्रन्थ है, जिसमें संक्षेप में जैन तत्त्वज्ञान को गुम्फित किया गया है। प्रायः सम्पूर्ण प्राचीन जैन साहित्य प्राकृत भाषा में प्रणीत है। तत्त्वार्थसूत्रकार ही प्रथम आचार्य है, जिन्होंने संस्कृत सूत्र-शैली में जैन तत्त्वज्ञान को पिरोया है। प्रशमरति-प्रकरण भी संस्कृत में सक्षिप्त शैली में रचित है। प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र से कहीं-कहीं शब्दशः साम्य है।

साम्य

प्रशमरति-प्रकरण की चार कारिकाओं में तत्त्वार्थ-सूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों विद्यमान हैं।

प्रशमरति—

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम् ।

साकारोऽनाकरद्वय सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥^१

तत्त्वार्थसूत्र—

उपयोगो लक्षणम् ।^२ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥^३

प्रशमरति—

उत्पादविगमतिर्यत्स्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि ।

सदसद्वा भवतीत्यन्यथापितानपितविशेषात् ॥^४

तत्त्वार्थसूत्र—

सद्द्रव्यनक्षणम् । उत्पादव्ययधोव्ययवृत्तं सत् ।

तद्वावाव्ययं नित्यम् । अपितानपितसिद्धेः ॥^५

प्रशमरति—

एतेष्वव्यवसायो योऽर्थेषु विनश्चयेन तत्त्वमिति ।

सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निर्गमिदधिगमाद्वा ॥^६

तत्त्वार्थसूत्र—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । तन्निर्गमिदधिगमाद्वा ।^७

प्रशमरति—

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः ।

एकादीन्येकस्मिन् भाष्यानि स्वाचतुर्भ्यः इति ॥^८

तत्त्वार्थसूत्र—

एकादीनि भाष्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ।^९

प्रशमरति—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंपदः साधनाति मोक्षस्य ।

तत्स्विकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥^{१०}

तत्त्वार्थसूत्र—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।^{११}

प्रशमरतिप्रकरण की उक्त कारिकाओं में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र के सूत्र ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिए गये हैं। उक्त साम्य प्रशमरतिप्रकरण और तत्त्वार्थसूत्र के एक-कतृत्व का आभास देता है।

१. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका १६४ ।

२. तत्त्वार्थसूत्र २/८ ।

३. वही २/६ ।

४. प्रशमरतिप्रकरण २०४ ।

५. तत्त्वार्थसूत्र ५/२६, ५/३०, ५/३१, ५/३२ (दिगम्बर पाठानुसार) ।

६. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका २२२ ।

७. तत्त्वार्थसूत्र १/२-३ ।

८. प्रशमरति-२२६ ।

९. तत्त्वार्थसूत्र १/३० ।

१०. प्रशमरति २३० ।

११. तत्त्वार्थसूत्र १/१ ।

प्रशमरतिप्रकरण की भाष्य के साथ भी काफी समानता है। प्रशमरति में उपयोग को द्विविध साकार एवं अनाकार बताया है।^१ तत्त्वार्थभाष्य में भी ज्ञानोपयोग को साकार तथा दर्शनोपयोग को अनाकार शब्दों से उल्लिखित किया है।^२ प्रशमरति में कहा गया है : सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र में से एक के भी अभाव में मोक्षमार्ग असिद्धिकर है।—

तात्वेकतराभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यनिद्धिकरः।^३
इन्हीं शब्दों का भाष्य में प्रयोग है :—

एकतराभावेऽप्यसाधनानि।^४

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर भी चारित्र कभी होता है कभी नहीं, किन्तु चारित्र के होने पर सम्यग्दर्शन और ज्ञान का लाभ सिद्ध ही है। इस बात को प्रशमरतिप्रकरण तथा भाष्य में लगभग एक-से शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है।

प्रशमरति—

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तलाभे भवति सिद्धः॥^५

तत्त्वार्थभाष्य—

एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम्।
उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।^६

प्रशमरति में शिक्षा, आगम, उपदेशश्रवण अधिगम के तथा स्वभाव और परिणाम निसर्ग के पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं।

शिक्षागमोपदेशश्रवणाग्येकार्थकाव्यधिगमस्य।

एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च॥^७

भाष्य में भी ये ही पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं—

आगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षाउप-
देशइत्यनर्थान्तरम्।...निसर्गः परिणामः स्वभावः अपरो-

पदेशइत्यनर्थान्तरम्।^८

तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान के पर्यायवाची शब्दों में अभिनिबोध को उल्लिखित किया है।^९ प्रशमरति में भी मतिज्ञान को अभिनिबोधक कहा है।^{१०}

संसारानुप्रेक्षा का प्रशमरतिप्रकरण का वर्णन भाष्या-
मुसारी है—

माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे।

व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव।^{११}

भाष्य— माता हि भूत्वा भगिनी दुहिता माता च भवति।

भगिनी भूत्वा माता भार्या दुहिता च भवति.....।^{१२}

इस प्रकार प्रशमरतिप्रकरण का तत्त्वार्थसूत्र व तत्त्वार्थभाष्य से शाब्दिक साम्य है, जो आपाततः दोनों के कर्ता के ऐश्वर्य की संभावना को जन्म देता है।

वैषम्य

प्रशमरतिप्रकरण तथा सभाष्य तत्त्वार्थ में महत्त्वपूर्ण
सैद्धान्तिक अन्तर है।

१. द्रव्य संख्या—तत्त्वार्थसूत्रकार मुख्य ५ द्रव्य मानते हैं। काल द्रव्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के विषय में वे उदासीन हैं। श्वेतम्बर पाठ 'कालश्चेत्येके' तो निश्चित कप से काल के स्वतन्त्र द्रव्यत्व के विषय में सूत्रकार की तटस्थता को व्योक्त कर रहा है। दिगम्बर पाठ 'कालश्च' के द्वारा भी सूत्रकार की मान्यता का विश्लेषण करें, तो यह कह सकते हैं कि सूत्रकार इस विषय में तटस्थ थे।

अजीव द्रव्यों के वर्णन से पांचवे अध्याय का आरम्भ होता है यहां प्रथम सूत्र में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चारों को अजीवकाय कहा गया है। यहां काल के कायत्व का अभाव होने से उसका परिग्रहण नहीं किया गया। द्रव्याणि^{१३} जीवाश्च^{१४} इन दो सूत्रों के उपरान्त

१. प्रशमरति, १६४।

२. तत्त्वार्थसूत्र १/६ का भाष्य।

३. प्रशमरति २३०।

४. तत्त्वार्थसूत्र १/१ का भाष्य।

५. प्रशमरति, २३१।

६. तत्त्वार्थसूत्र १/१ का भाष्य।

७. प्रशमरति २२३।

८. तत्त्वार्थसूत्र १/३ का भाष्य।

९. तत्त्वार्थसूत्र १/१३।

१०. प्रशमरति २२५। ११. प्रशमरति १५६।

१२. तत्त्वार्थसूत्र २/७ का भाष्य। १३. तत्त्वार्थसूत्र ५/३८।

१४. वही ५/२।

१५. वही ५/३।

कालद्रव्य का उल्लेख संभव व आवश्यक था, किन्तु यहाँ कालद्रव्य का वर्णन नहीं है। जीवद्रव्य का वर्णन पहले के अध्यायों में हो चुका। पाँचवे काल व्यतिरिक्त चार अजीव द्रव्यों का वर्णन कर चुकने के पश्चात् सूत्रकार द्रव्य का सामान्य लक्षण करते हैं। गुणपर्ययवद् द्रव्यम्^१। इसके उपरान्त वे कालद्रव्य का उल्लेख करते हैं।^२ यदि सूत्रकार काल को भी पृथक् द्रव्य मानते, तो अवश्य उसका उल्लेख भी अजीवद्रव्यों की गणना के साथ अर्थात् 'अजीवकाया धर्माधर्मकाशपुद्गल के' तुरन्त बाद 'द्रव्याणि' सूत्र के पहले करते अथवा जीवाश्च के साथ अर्थात् उसके तुरन्त बाद करते। इतना नहीं तो कम से कम द्रव्य का सामान्य लक्षण करने के पूर्व अवश्य करते।

आकाशदेकद्रव्याणि। निष्क्रियाणि च।^३ इन दो सूत्रों द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों को एक-एक तथा निष्क्रिय कहा है। कालद्रव्य भी निष्क्रिय है, पर उसकी निष्क्रियता का सूत्रों में कहीं संकेत नहीं है। द्रव्यों के प्रदेशों की संख्या का बिचार करते समय 'नाणो'।^४ अणु को अप्रदेशी कहा है। काल भी अप्रदेशी है, परन्तु उसका उल्लेख नहीं है। कालद्रव्य की यह उपेक्षा सिद्ध करती है कि वे काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते।

भाष्यकार ने तो सर्वत्र द्रव्य को पांच प्रकार का ही कहा है। एते धर्मादयश्चत्वारो जीवाश्च यश्च द्रव्याणि च भवतीति।^५ आकाशाद् धर्मादीन्येन द्रव्याण्येव भवन्ति। पुद्गलबीजावास्त्वनेकद्रव्याणि।^६

धर्म से आकाश तऽ धर्म, अधर्म और आकाश एक द्रव्य है। पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं। यहाँ भी उन्होंने काल द्रव्य का उल्लेख नहीं किया है।

एतानि द्रव्याणि निर्यानि भवन्ति ... न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।^७

कालश्चेत्येके का भाष्य है—एके त्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति।^८

प्रशमरतिकार निर्विवाद रूप से बद्धद्रव्य दृष्ट है—

धर्माधर्मकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः।

पुद्गलवर्णमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः॥

... ..

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम्।

वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः॥^९

इस प्रकार द्रव्यों के विषय में सैद्धान्तिक मतभेद है।

२. जीव के भावः—

तत्त्वार्थसूत्र में जीव के पाँच भाव माने गये हैं। वही भाव भाष्यकार को अभीष्ट है।

प्रौढशमिकक्षाधिको भावो मिश्रश्च जीवस्य स्वत्वत्वमीदयिकपारणामिको च।^{१०}

प्रशमरतिप्रकरणकार ने छह भाव माने हैं।

साम्प्रतिकभाव का भी परिग्रहण किया हैः—

भावा भवन्ति जीवस्योदयिकः पारणामिकश्चैव।

प्रौढशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमणश्च पञ्चते॥

त चैकविंशतिविद्विनवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः।

षष्ठश्च साम्प्रतिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः॥^{११}

३. ऊर्ध्वलोकः—

प्रशमरतिप्रकरणकार ने ऊर्ध्वलोक को १५ प्रकार का कहा है। ये १५ भेद कौन से हैं, इनका विवरण नहीं है।

देव चार प्रकार के हैं, इनमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क मध्यलोक में रहते हैं। वैमानिक ऊर्ध्वलोक में रहते हैं। वे दो प्रकार के हैंः कल्पोपन्न और कल्पातीत। कल्पोपन्न १२ प्रकार के हैं। कल्पातीत में नौ ग्रैवेयक, (दिगम्बर परम्परानुसार नौ अनुदिग भी) तथा ५ अनुत्तर विमानवासी देव हैं। इनके अतिरिक्त, सिद्धशिला भी ऊर्ध्वलोक में है, जिसमें मिट्टी का निवास है। इस प्रकार १२ कल्पों के बारह, ग्रैवेयों का एक, अनुत्तर विमानों का एक तथा ईषत्प्रागभार या सिद्धशिला का एक भेद मिलाकर १५ भेद होते हैं।

१. वही ५/३७ या ३८।

२. वही ५/३९।

३. वही ५/१।

४. तत्त्वार्थसूत्र ५/६-७।

५. वही ५/८, ९, १०, ११।

६. वही ५/११।

७. सभाष्य तत्त्वार्थसूत्र, पृ. २४७।

१०. ५/५ का भाष्य।

११. ५/६ का भाष्य।

१२. ५/३८ का भाष्य।

१३. प्रशमरति प्रकरण, कारिका २०७ व २१०।

१४. तत्त्वार्थसूत्र २/१ प्रशमरतिप्रकरण १९६ व १९७।

टीकाकार ने १२ कल्पों के १० भेद किये हैं क्योंकि अनन्त-प्राणत तथा धारण-ग्रन्थुत इन युगलों का एक-एक इन्द्र होने से एक-एक भेद है। नौ ग्रन्थियों के प्रघो, मध्य तथा उपरितन के भेदानुसार तीन भेद, पाँच महाविमानों का एक भेद तथा ईषत्प्राग्भार का एक भेद मिलाकर कुल १५ भेद होते हैं। इस प्रकार, इन दोनों प्रकार की गणनाओं से ऊर्ध्वलोक १५ प्रकार का होता है।

तत्त्वार्थभाष्यकार तो ज्योतिष्क देवों के एक भेद प्रकीर्णक ताराओं की स्थिति ऊर्ध्वलोक में मानते हैं।

सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहा नक्षत्राणि च तिर्यग्लोके, शेषास्तू-
र्ध्वलोके ज्योतिष्का भवन्ति।^१

इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार उक्त १५ भेदों के अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक का एक भेद और मान रहे हैं, जो कि प्रकीर्णक ताराओं का है, जिसका समावेश उक्त १५ भेदों में सम्भव नहीं है।

४. संयम के भेदों में अन्तर :—

यद्यपि प्रशमरति प्रकरण तथा तत्त्वार्थभाष्य दोनों में संयम के १७ भेद प्रदर्शित किये गये हैं, सख्या में समानता होने पर नाम अलग अलग हैं।

प्रशमरतिप्रकरण में पाँच ग्रास्रवद्वारों से विरति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विलय तथा तीन दण्ड से उपरति १७ प्रकार का संयम माना गया है।

पञ्चास्त्रवाद्भिरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः॥^२

तत्त्वार्थभाष्य में ये भेद इस प्रकार हैं :—

योगनिग्रहः संयमः। सप्तदशविधः। तद्यथा पृथिवी-
कायिकसंयमः अष्कायिकसंयमः, तेजस्कायिकसंयमः, वायु-
कायिकसंयमः, वनस्पतिकायिकसंयमः, द्वीन्द्रियसंयमः, त्री-
न्द्रियसंयमः, चतुरिन्द्रियसंयमः, पञ्चेन्द्रियसंयमः, प्रेक्ष्य-
संयमः, उपेक्ष्यसंयमः, अपहृत्यसंयमः, प्रभूज्यसंयमः, काय-
संयमः, वाक्संयमः, मनः संयमः, उपकरणसंयमः इति
संयमो धर्मः।^३

तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के साथ प्रशमरतिप्रकरण का उक्त साम्य-वैषम्य इस बात को स्पष्ट करता है कि

तत्त्वार्थसूत्र तथा भाष्य के कर्ता व प्रशमरति के कर्ता एक नहीं हैं।

तत्त्वार्थसूत्र के भाष्यकार ने अपने सम्पूर्ण परिचय-परक प्रशस्ति दी है, परन्तु प्रशमरतिकार ने अपना नामोल्लेख भी नहीं किया है। इससे दोनों का रचि-भेद प्रकट होता है।

इन ग्रन्थों का जो पारस्परिक भावगत साम्य है, उसका कारण तत्त्वज्ञान का एक ही स्रोत से उद्भूत होना है। इसी कारण पारिभाषिक शब्दों में समानता है। शब्दगत साम्य इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि तत्त्वार्थ-सूत्र व भाष्य प्रशमरतिकार के समक्ष विद्यमान थे और वे जिन पूर्व कवियों द्वारा रचित प्रशमजननशास्त्रपद्धतियों का उल्लेख करते हैं मभाष्य-तत्त्वार्थसूत्र उनमें से एक हैं।

प्रशमरतिप्रकरणकार स्वयं कहते हैं कि जिनवचनरूप समुद्र के पार को प्राप्त हुए महामति कविवरो ने पहले वैराग्य को उत्पन्न करने वाले अनेक शास्त्र रचे हैं। उनसे निकले हुए श्रुतवचनरूप कुछ कण द्वादशाङ्ग के अर्थ के अनुसार हैं। परम्परा से वे यदुत थोड़े रह गये हैं, परन्तु मैंने उन्हें रङ्ग के समान एकत्रित किया है। श्रुतवचनरूप धाम्य के कर्णों में भरी जो भक्ति है, उस भक्ति के सामर्थ्य से मुझे जो अविमल, अल्प बुद्धि प्राप्त हुई है, अपनी उसी बुद्धि के द्वारा वैराग्य के प्रेमवश मैंने वैराग्य-मार्ग की पगडंडीरूप यह रचना की है।^४

इन कारिकाओं से स्पष्ट है कि उक्त प्रकरण की रचना जिन विभिन्न विशिष्ट ग्रन्थों को लक्ष्य में रखकर उनका सार ग्रहण कर की गई है, उनमें से एक तत्त्वार्थसूत्र व उसका भाष्य भी है। शब्दसाम्य का यही कारण है।

अस्तु, इतना निश्चित है कि प्रशमरतिप्रकरण अन्य-कर्तृक है क्योंकि एक ही व्यक्ति दो ग्रन्थों में दो भिन्न मतों का प्रतिपादन नहीं कर सकता। प्राचीन (सिद्धसेन-हरिभद्र आदि) तथा नवीन विद्वानों में दोनों के एक-कर्तृत्व की जो आन्ति है, उसका कारण उक्त शब्द साम्य ही है।

आजाद चौक, सदर, नागपुर (महाराष्ट्र)

१. तत्त्वार्थसूत्र, ४/१४ का भाष्य।

२. प्रशमरति १७२।

३. तत्त्वार्थसूत्र ९/६ का भाष्य।

४. प्रशमरतिप्रकरण, कारिका ५-७।

(पृष्ठ ५६ का शेषांश)

बिया गया है। अतः अलंकारशास्त्र से इस रचना का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। छोटी-सी रचना है, इसलिए मूलरूप में भागे दी जा रही है। यह रचना खरतरगच्छ के प्रा० जिनसमुद्रसूरि के समय में रची गई, अतः इसका रचनाकाल सं० १५३० से सं० १५५५ के बीच का है। प्रा० सागर-चन्द्र सूरि के शिष्य वाचनाचार्य रत्नकीर्ति, उनके शिष्य समयभक्त के शिष्य पुण्यनन्दि थे। इस हिन्दी भाषा की ३२ पद्यों वाली रचना पर सबसे पहले सं० १५८२ में 'बालावबोध' रत्नरगोपाध्याय ने लिखा था। इसकी प्रशस्ति इस प्रकार है—

“पुण्यननुपाध्यायेन शीलरूपकमालिका,
विहिता भव्यजीवानां चित्त शुद्धविधापिनी।
नेत्रं सिद्धिं ज्ञानं चन्द्रे वर्षे नभसि भासिता
श्री रत्नरगोपाध्यायैः कृतावबोधिनी ॥”
इति रूपकमाला बालावबोधः।

हमारे समय जैन ग्रन्थालय में भी इस बालावबोध की पंद्रह और ग्यारह पत्रों की दो प्रतियाँ हैं। मूल रचना की अन्य चार प्रतियाँ भी हमारे संग्रह में हैं। इनमें से एक प्रति में कुछ टिप्पण भी लिखे हुए हैं। कविवर समय-सुन्दर ने सं० १६६२ में इस पर संस्कृत टीका लिखी है। उसकी भी प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है।

इसके बाद दूसरी 'रूपकमाला' नामक रचना पार्श्व-चन्द्रसूरि की बतलाई गई है। वह भी हिन्दी भाषा के ३० पद्यों की रचना है, जो सं० १५८६ में राणकपुर में रची गई है। इसके आदि और अन्त के चार पद्य 'जैन-गुजर कविभो, भाग १, पृष्ठ १४७ में प्रकाशित हैं। उन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह रचना भी अलंकार विषयक नहीं है। आदि और अन्त के पद्य नीचे दिये जा रहे हैं—

आदि—

आपिई आप सम्भालिये रे, जिवड़ा बिचारि।
आशा जिननी पालिए, शिवमुखनी दातरी।
आत्मासार सीख सुणो !

अन्त—

राणिकपुर रलियामणो, प्रादीश्वर जिनराउ।
पार्श्वचन्द्र प्रभु करि एह पसाउ ॥ २८ प्रा० ॥

होज्यो नारि निराश्रय, परमानन्द उल्लास।

भक्ति-भाव मुझ मन भमर ने तुम पय-कमलि निवास ॥२९
संवत पनर छयासिए, कीनी रूपकमाल।

उत्तम ते कंठिइ घरें जसु मन सील रसाल ॥३० प्रा०
जिस तीसरी 'रूपकमाला' का उल्लेख प० अम्बलाल शाह ने किया है, उसके लिए उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया कि वह कहाँ प्राप्त है। मुझे इसकी कोई सूचना व प्रति नहीं मिली है, पर मेरा ख्याल है कि वह भी अलंकार विषयक नहीं होगी।

अब हम पुण्यनन्दि की रूपकमाला का मूल पाठ यहाँ दे रहे हैं।

पुण्यनन्दिरचित रूपकमाला

आदि जिणसर आदिसउ। सरसति दसण दाखि।
शील तणा गुण गाइस्यं। तिहुयण सामंणि साखि ॥१॥
आतमराम शील धार। शीलइ परमाणद प्रा०
इम प्रभणइ श्री पुन्यनन्दि ॥२॥ प्रा० आंचली
सोह शील लाजइ लहइ। भूषण भारिम अंग।
असाधु वादिनी संस्कृता, किम गिरी गाह दुरंग ॥२॥ प्रा०
मूस मंजारि मेला वदउ, किहा कुसल तणां ताह।
धन जिणि दिणि दीसइ नही, उत्तराध्ययन की बाह ॥३॥ प्रा०
किस ऊपरि धोवइ धसइ, भूडी मांडिम अंग।
मंडण आल अकमिया, दसवीकालिक कुरंग ॥४॥ प्रा०
धीसयणा सण फसणे, जह जयणा गुण गोढ़।
आवश्यक इम आइखइ, अठइ कहीयउ कोढ़ ॥५॥ प्रा०
कहिउँ कपिलइ केवली, राम राखि सी एह।
पुरुष पलोभ पलोटियइ, दाखि म दाखसी एह ॥६॥ प्रा०
से लग लग जिन रखितउ खूतउ सवल जल पूरि।
रयण दीव देवी दस्यऊ, रिर सार सम समूरि ॥७॥ प्रा०
वाधिणे वीर वेल घडो, भामणि भरवण भूल।
कंठइ कोधी कामिणी, प्रवचन पर कउ मूल ॥८॥ प्रा०
घरि पूपलि का खाद की, अनइ पूपलिका खाद।
वरजि वास मूणि मोणिनी, दुतीय पढन पद जाद ॥९॥ प्रा०
वय श्रुत जनन प्रमाणियइ, बुदि बलं बहंकाई।
खीणा वदका केवली, ललना लिग लुकाइ ॥१०॥ प्रा०
जे गुरु राग उदीरगा, जे जइ भनव बाडि।
वयरी बाहर पानक इ, ते पापी हे पाडइ छाडि ॥११॥ प्रा०

तिणि भंजी नव बाँडिली, दीघउ मोगर बाउ ।
 बी प्रसंग जिणि थापीयउ तिणि मारयउ सजय राऊ ॥ १२ ॥
 खंड मंजी भर भीडि यह जइ प्रसंग हुइ नारि ।
 ते घालीयण छूटि स्थइ, पुणै थापइ ते घणत संसारि ॥ १३ ॥
 सार्धक कायक दोस लउ, वाचक व्यापक दोसि ।
 जइ न सुकल सर्विग्रथा, बाँइ कृष्ण पाक्षिक होसि ॥ १४ ॥
 साधु देखि भणि वीससइ, मकरि सिवणउ प्रसंग ।
 साधु और कवइ हुवइ तऊ, सुसित्यइ इस पतंग ॥ १५ ॥
 ताते तात मेला बडउ, भागां एक बटाउ ।
 मुंड रंड रह गोठमी, ए मुझ खरो न सुहाई ॥ १६ ॥
 सामै है थाए भूकनां, ते भुतिवर मनि हालि ।
 छाडि छटइ ते जीव ते, ते बिरला इणि कालि ॥ १७ ॥
 पंचा गांठि गोपालिका, नल दव दति भाँति ।
 आपो आपे बिलरियउ, कनकमाला भवदाति ॥ १८ ॥
 अमर कंक दोषई लई, रायमई रह नेमि ।
 बंधू समणि समाई सउ, अंबर डइ भरहर न एमि ॥ १९ ॥
 कल बालमा गही गह्यउ समण सकावइ पेट ।
 सिंह गुफा वासी करइ, रयण कंवल की भेंट ॥ २० ॥
 भासु पवासि मोखी, मू घउ राम राम कहि न दे ।
 बल कल करउरिजे घरइ सा, स सुं चलयउ अछंद ॥ २१ ॥
 भूल पयावइ पुत्रिका, भंभर भइणी भूल ।
 पीलंग भूल भुजाइयो, जाल्हज जणणी भूल ॥ २२ ॥
 खेला खेला माखी मरइ, कुहाउ काजी किणी काजी ।

[पृ० ५५ का शेषांश]

१०. निघण्टुशेष—हेमचन्द्र, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद, १९६८
११. देशीनाममाला—हेमचन्द्र, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, १९३८
१२. प्रमाणमीमांसा—हेमचन्द्र, तिलोकरत्न स्थानकवासी जैन व्यामिक परीक्षा बोर्ड, पाण्डरी, अहमदनगर, १९७०
१३. योगक्षेत्र—हेमचन्द्र, ऋषभचन्द्र जोहरी, दिल्ली, १९६३
१४. स्याद्वाङ्मंजरी—मल्लिखेण, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगसा, १९३५
१५. षड्विंशोक्ति—हेमचन्द्र, अहमदाबाद, १९०६
१६. बीतरायस्तोत्र—हेमचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत, १९४६
१७. महादेवस्तोत्र—हेमचन्द्र, जैन आत्मानन्द सभा, भाव-नगर, १९३५

पांसस घसइ इहा जीवीया, भीठी मधू बिदु रजि ॥ २३ ॥
 तेदु छद रजु बेठिला, गज न्हाण सिरि झूलि ।
 भरहट नालि विसुगि घा, अगणि जल इतरू मूलि ॥ २४ ॥
 वयइ चतुर चुय छाहिडी, घास पयहउ गोण
 जल बलि लीह म खोलहु, पंच मुहि दिति दोणि ॥ २५ ॥
 हुया हुच्यहं छह बहं, सील मलीस विलास ।
 निश्चइहित जाणी करी, जेपुं करता वेहउ विणास ॥ २६ ॥
 अम भजइ सिग डाली यउ विग्रह बंड जुडेत ।
 खेत्रि न खलयउ सुं मणऊ, अगो अग भिडत ॥ २७ ॥
 रमणे सहस चउरासि पारण पुण्य जु वीर ।
 सुकल विसण परिवदयति, भोजनत फल होई ॥ २८ ॥
 गुरु गछा काहु करे सही, सोसा काहु करति ।
 करण जोग जे आपणा, ते साचा सिव बिति ॥ २९ ॥
 सबल शील महिमा मिलउ, कुसील सूरि सिरि पार ।
 जिनसमुद्र सूरि सोहवइ, खरतर गुरु कऊ पार ॥ ३० ॥
 कुसील उछापक सुसील, सखापक सागरचंद ।
 सूरिराय वाणायरी, रयण-कीरत गणिचंद ॥ ३१ ॥
 समय भगतवर वाचका वीर विनेयानद ।
 रूपकमाला सीलनी, हम प्रमणइ श्रीपुण्यनन्द ॥ ३२ ॥
 इति श्री रूपकमाला सम्पूर्ण । वाचनाचार्य श्री भुवन-
 कीर्ति गणि विनेय पं० भुवनविजय कृतेमलेखि पं०
 मानकीर्तिनाम् श्रीऽस्तु शुभ भवतु । □ □ □

१८. द्विजवदनचपेटिका—हेमचन्द्र, हेमचन्द्र सभा, पाटन, १९२२
१९. अहंन्नामसंज्ञसमुच्चय—हेमचन्द्र, साराभाई नवाब (जैन स्तोत्र संदीप, भाग १, पृ० १-१३), अहमदाबाद १९३२
२०. आचार्य हेमचन्द्र—वि० भा० मुसलगांवकर, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१
२१. हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र—जार्ज बूहलर, हिन्दी अनु०—कस्तूरमल बाँठिया, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९६७
22. Life of Hemacandracharya—G. Buhler, Singhi Jain Jnanpith, Santiniketan, 1936
23. Studies in Hemacandra's Desinamamala—H. C. Bhayani, P. V. Research Institute, Varanasi, 1966 □ □ □

भगवान् महावीर के उपासक राजा

□ मुनिश्री महेश्वरकुमार 'प्रयस'

भगवान् महावीर इस भू-मण्डल पर बहुतर वर्ष रहे। वे बारह वर्ष साधना-पर्याय में एवं अन्तिम तीस वर्ष तक केवली पर्याय में रहे। बारह वर्ष के साधन-काल में उन्हें जो उपलब्धियाँ प्राप्त हुई, उन्हें उन्होंने तीस वर्षों तक मुक्त रूप से जनता को प्रदान किया। इस अवधि में शूद्र, अन्त्यज, किसान, कुम्भकार, श्रेष्ठी, सामन्त राजकुमार, राजा, महामात्य सेनापति आदि हजारों-लाखों व्यक्ति उनके निकट सम्पर्क में प्राये और वे साधना में अग्रसर हुए। भगवान् महावीर के उपदेश उस समय व्यापक रूप ले चुके थे। समग्र मगध, सिन्धुसीवीर, अवन्ती, काशी, कोशल, वत्स आदि तत्कालीन राज्यों की जनता एवं राजसत्ताएँ पूर्ण रूप से उनके प्रति श्रद्धाशील थी। उस समय के राजनैतिक इतिहास के सन्दर्भ में यदि धार्मिक परम्पराओं का आकलन किया जाता है, तो ज्ञात होता है कि वर्तमान का पूरा बिहार प्रान्त, उत्तर प्रदेश का अधिकांश भू-भाग, अवन्ती प्रदेश, सिन्धु नदी का तटवर्ती प्रदेश, कर्णटक आदि के राजा व अनेक राजा, राजकुमार तथा रानियाँ उनसे श्रमण-धर्म प्राप्त कर साधना में अग्रणी रहे थे। ईरान के राजकुमार आर्द्रकुमार ने भारत आकर भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति को स्वीकार किया था।

शिशुनाग वंश

मगध साम्राज्य पर शिशुनाग वंश का ३३३ वर्ष तक एकछत्र आधिपत्य रहा। परन्तु श्रेणिक और अजातशत्रु कौणिक का राज्य-काल भगवान् महावीर की वर्तमान्छा में था। दोनों ने ही समीपता से उनके धर्म का गहरा अनुशीलन किया था। अजातशत्रु कौणिक की भगवान् महावीर के प्रति गहरी भक्ति की झलक तो इस एक उदाहरण से ही प्राप्त हो जाती है कि वह प्रतिदिन उनके कुशल-संवाद मगबाता था। इस कार्य के लिए उसने एक

प्रवृत्ति-वाहुक पुत्र के नेतृत्व में अनेक धर्म अनुचरों की नियुक्ति कर रखी थी। भगवान् महावीर जब कभी राज-गृह आते थे, श्रेणिक और कौणिक अत्यन्त श्रद्धा के साथ उनकी पर्युपासना करते थे। यह एकमात्र ऐसा नगर था, जहाँ उन्होंने चौदह चातुर्मास किये थे।

राजा श्रेणिक की भगवान् महावीर के प्रति प्रगाढ़ भक्ति थी। एक बार उसने राज-परिवार, सामन्तों तथा मंत्रियों के बीच घोषणा की थी। कि कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहे, तो मैं उसमें बाधक नहीं बनूँगा, अपितु सहयोग करूँगा। इस उद्घोषणा में प्रेरित होकर जालि, मयालि आदि श्रेणिक के तेईस पुत्र तथा नन्दा, नन्वमती आदि तेरह रानियाँ ने प्रसज्जा ग्रहण की थी। केवलज्ञान प्राप्ति के अनन्तर जब सर्वप्रथम भगवान् महावीर राजगृह पधारे तो श्रेणिक ने सम्यक्त्व धर्म तथा महामात्य प्रमय कुमार ने श्रावक धर्म स्वीकार किया था। महामात्य अभयकुमार, राजकुमार मेघ, नन्दी-सेन तथा वारिषेण ने यथासमय दीक्षा ग्रहण कर उच्च साधना की थी।

शिशुनाग वंश में राजा श्रेणिक ही निर्ग्रन्थ (जैन) धर्म का अनुयायी बना हो, इतना ही नहीं है, बल्कि वह वशानुगत भी निर्ग्रन्थ था। उनके पिता राजा प्रसेनजित भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के उपासक सम्प्रदाय के श्रावक थे।

दशमृत-स्कन्ध में, राजा श्रेणिक द्वारा अत्यन्त श्रद्धा-भरित हृदय से पूरे परिवार व रानी केवला के साथ भगवान् महावीर के समवसरण में जाने एवं धर्म-वेक्षणा सुनने का सुविस्तृत वर्णन है। राजा श्रेणिक का वह अद्वितीय प्रकार था। उसे देखकर बहुत सारे साधु-साध्वियाँ भी चकित रह गई थीं। 'ज्ञाता धर्मकथा' के १३वें अध्याय में भी अत्यन्त समारोह के साथ पर्युपासना करने का रोचक वर्णन है।

अजातशत्रु कौणिक भगवान् महावीर के प्रति विशेष श्रद्धावान्त था। जब भी उसे ऐसा अवसर प्राप्त होता, वह उसका मुक्त उपयोग करता था। एक बार भगवान् महावीर चम्पा के निकटवर्ती उपनगर में पधारे। प्रवृत्ति-वादुक पुरुष ने कौणिक को सूचित किया। राजा ने सत्काश राज-सिंहासन छोड़ा, पादुकाएं उतारी, खड्ग, छत्र, मकुट, उपानत् और चामर आदि पांचों राज्य चिह्न हार फिये। एकसाटिक उत्तरासग किया। अंजलिबद्ध होकर मस्तक को धरणीतल पर लगाया। अंजलि को मस्तक पर लगाकर 'णमोत्थुणं' से अभिवादन करते हुए बोला—'आदिकर, तीर्थकर, सिद्ध गति के अमिलाषुक भगवान् महावीर मेरे धर्म गुरु, धर्मोपदेशक और धर्माचार्य हैं। उन्हें मेरा नमस्कार है।' राजा पुनः राजसिंहासन पर आरुढ़ हुआ। प्रवृत्ति-वादुक पुरुष को एक लाख अष्ट सहस्र मुद्राओं का प्रीतिदान दिया।

भगवान् महावीर जब चम्पा के पूर्णभद्र चर्य में पधारे, तो प्रवृत्ति-वादुक पुरुष ने पुनः राजा कौणिक को सूचित किया। उस समय कौणिक ने उसे साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान किया। राजा के आदेश से हस्तिरत्न सजाया गया, चतुरगिणी सेना सन्नद्ध हुई, रानियों के लिए रथ तैयार हुए, गलियों और राजमार्गों को सजाया गया। राजा कौणिक सब प्रकार से सुमज्जित होकर अपार वैभव व आडम्बर के साथ चम्पा के मध्य भाग से होता हुआ पूर्णभद्र चर्य के समीप आया। मन में अत्यन्त उल्लास था। पांच अभिगमन के अनन्तर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया, पर्युपासना की तथा धर्म-देशना सुनी। आनन्दचित्त-कौणिक उठा और अन्तःकरण से प्रेरित होकर उसने निवेदन किया—'भन्ते। आपका निर्ग्रन्थ प्रवचन सु-आख्यात है, सुप्रज्ञप्त है, सुभाषित है, सुबिनीत है, सुभावित है, अनुत्तर है। आपने धर्म को कहते हुए उपशम को कहा, उपशम को कहते हुए विवेक कहा, विवेक को कहते हुए विरमण को कहा, विरमण को कहते हुए पाप-कर्मों के अकरण को कहा। अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसा धर्म कह सके। इससे अधिक की तो बात ही क्या ?

महामात्य अभयकुमार श्रेणिक का पुत्र था। भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति के प्रति उसका पूर्ण समर्पण था।

मगध के साम्राज्य का कुशलतापूर्वक संचालन करता हुआ वह धर्मराषना में भी मनसा, वाचा व कर्मणा लीन था। पारस्य (ईरान) देश के राजकुमार आर्द्रक (अर्देशिर) को निर्ग्रन्थ धर्म की ओर आकर्षित करने का श्रेय अभय-कुमार को ही है। आर्द्रक ईरान से चलकर भारत आया और उसने भगवान् महावीर के समवसरण में साधना की। अभयकुमार के समक्ष एक प्रसंग उपस्थित हुआ कि वह मगध का राजा बने या श्रमण। उस समय राज्य की ओर से वह मुड गया और श्रमण बन कर भगवान् महावीर द्वारा निरूपित साधना में प्रवृत्त हो गया।

वज्जी गणराज्य

गंगा के दक्षिण तटवर्ती राज्यों के प्रमुखों की तरह उत्तरीय गणराज्यों के प्रमुख भी भगवान् महावीर के अनन्य श्रावक थे। महाराजा चेटक वज्जी सध के अध्यक्ष होने के साथ साथ धर्म-क्रियाओं में भी अग्रणी थे। ७७-७८ गणराजाओं के प्रमुख चेटक भगवान् महावीर के दृढधर्मी प्रमुख उपासक थे। 'आवश्यकचूर्णि' आदि में इनको व्रत-धारी श्रावक कहा गया है। अनुश्रुति के अनुसार, वे इतने कट्टर श्रावक थे कि साधमिक राजा के अतिरिक्त अन्य किसी के साथ अपनी पुत्रियों के विवाह न करने का भी उनका प्रण था। श्रमणोपासक के बारह व्रतों की साधना में वे दृढमनस्क थे। अहिंसा व्रत में उनके एक विशेष अभिग्रह था कि एक दिन में एक वाण से अधिक नहीं चलाऊंगा। वे जो वाण चलाते थे, वह अमोघ होता था। वैशाली में २० वें तीर्थकर मुनिसुव्रत स्वामी का एक स्तूप था। उसके प्रभाव से ही वैशाली सदैव अजेय रहती थी। कौणिक ने जब वैशाली के प्राकार को भग करना चाहा, तो सबसे पहले छद्म से उस स्तूप को ही तुड़वाया, इस प्रकार अनेक प्रमाणों से जाना जा सकता है कि महाराजा चेटक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल प्रशासक, महान् योद्धा तथा अत्यन्त न्यायप्रिय होने के साथ साथ भगवान् महावीर के विख्यात श्रावकों में से भी थे।

सिंहभद्र आदि राजा चेटक के दश पुत्र थे। वे सभी वीर योद्धा, यशस्वी, दृढ धार्मिक और भगवान् महावीर के अनन्य भक्त थे। सिंहभद्र तो वज्जीसंघ के प्रधान सेनापति भी थे। सिंहभद्र का उल्लेख त्रिपिटको में भी पाया जाता है।

राजा चेटक की सात पुत्रियां थी, जिनका तत्कालीन प्रभावशाली राजाओं के साथ विवाह हुआ था। वे सभी राजा भगवान् महावीर के श्रद्धालु श्रावक थे। प्रभावती वीतभय के राजा उद्वाणय, पद्यावती अंग देश के राजा दधिवाहन, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक, शिवा उज्जैन के राजा प्रद्योत, जंठठा भगवान् महावीर के ज्येष्ठ बन्धु राजा नन्दीवर्धन, चेलणा मगध के राजा श्रेणिक को व्याही गई थीं। सुज्येष्ठा ने अविवाहित अवस्था में ही बीषा ग्रहण कर ली थी। इन राजाओं में से अधिकश जीवन के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध में अवश्य ही भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति में अनुरक्त हो गये थे। सातों पुत्रियां तो बाल्य-काल से ही निर्ग्रन्थ धर्म की उपासिकाएं थी।

अन्य राजा

भारत के विभिन्न प्रदेशों के अधिशासी अधिकाश राजाओं ने उस समय भगवान् महावीर की धर्म-प्रज्ञप्ति स्वीकार की थी। भगवान् महावीर के दिव्य उपदेश ने प्रत्येक को प्रभावित किया था। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के माता-पिता श्रावक थे। वह भी निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी बना, किन्तु उस समय जबकि शतानीक की रानी मृगावती तथा प्रद्योत की शिवा आदि आठ रानियां भगवान् महावीर के समवसरण में प्रव्रज्या ग्रहण करती हैं, वह भी उस प्रव्रज्या समारोह में सम्मिलित था। कौशाभी का राजा उदयन राजा कुणिक की तरह दृढ़ श्रद्धालु श्रावक था। वीतभयपुर का राजा उद्वाणय भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हुआ और केवल ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हुआ। राजा उद्वाणय की प्रव्रज्या भावना को जानकर उसको प्रव्रजित करने के लिए भगवान् महावीर भयंकर गर्मी में उग्र व प्रलम्ब विहार कर सिन्धुसोवीर की राजधानी वीतभय पहुंचे थे। दशार्णतुर के राजा दशार्णभद्र, हस्तिधीर्ष के राजकुमार सुबाहु कुमार, सौमन्विका के राजा महाचन्द्र, सुधोस नगर के राजा अर्जुन के भद्रनन्दी कुमार, वाराणसी के राजा अलम्ब, पृष्ठचम्पा के राजा गगलि, चम्पा के राजकुमार महाचन्द्र, श्रृषभपुर के राजा घनाबाहू के राजकुमार भद्रनन्दी, पोत्तनपुर के राजा प्रसन्न-चन्द, कनकपुर के राजा त्रियचन्द्र के राजकुमार वैश्रमण, महापुर के राजा बल के राजकुमार महाबल, मथुरा के

राजा सख हतिनापुर के राजा शिव, बसन्तपुर के राजा समरवीर, पावा के राजा हस्तिपाल एवं पुण्यपाल, पलाश-पुर के राजा विजयसेन व राजकुमार एमत्त, वाराणसी की राजकुमारी मुण्डिका पोदनपुर के राजा विद्रराज, कपिलवस्तु के राजा शाक्य वप्प, पांचाल-नरेश जय आदि सैकड़ों राजाओं एवं राजकुमारों ने भगवान् महावीर के निर्देशन में श्रामण धर्म की साधना की थी।

दक्षिण प्रदेश

भगवान् महावीर की विहार-भूमि यद्यपि भारतीय पूर्वचल, पश्चिमाचल तथा उत्ताचल ही रही, पर उनकी साधना से दक्षिण प्रदेश के राजा न केवल प्रभावित ही थे, अपितु उन्होंने निर्ग्रन्थ-साधना भी की थी। वर्तमान कर्णाटक का एक भू-भाग हेमागद देश के नाम से विख्यात था। वहाँ का राजा सत्यन्धर परम श्रावक था। मन्त्री कुण्टांगार के शङ्क्यन्त्र से उसकी मृत्यु हो गई। राजकुमार जीवन्धर पिता की मृत्यु के बहुत वर्षों बाद राजा हुआ। जीवन्धर का रोचक व साहसिक इतिहास तत्कालीन तथा उत्तरवर्ती संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़ तथा तमिल के साहित्य-कारों का मुख्य आकर्षण केन्द्र रहा। प्रलम्ब समय तक राज्य का कुशल संचालन करने के अनन्तर उसे भगवान् महावीर की पर्युपासना का स्वर्णिम अवसर प्राप्त हुआ और उसने श्रमण-साधना आरम्भ कर दी।

कोटिवर्ष (लाढ़) के किरातराज चिलात श्रावक जिनदेव से प्रेरित होकर अमृत्य रत्न पाने की अभिलाषा से साकेत आया और वहाँ भगवान् महावीर से भाव रत्न ग्रहण किये, अर्थात् भागवती निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या स्वीकार की।

ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के विभिन्न अंचलों में जितना व्यापक प्रभाव भगवान् महावीर का था, इतिहास के प्रमाणों से यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि उतना प्रभाव अन्य किसी व्यक्ति का नहीं था। वह ज्योति बहस्तर वर्ष तक लाखों व्यक्तियों को आलोकित करती रही। कातिक अमावस्या की मध्यरात्रि के अनन्तर वह ज्योति देहातीत हो गई। उस समय इन्द्र तथा अन्य देव भूतल पर आये। उस प्रकाश में भू-मण्डल आलोकित हो गया। अठारह गणराजाओं ने भाव (ज्ञान) ज्योति के अभाव में द्रव्य ज्योति से प्रकाश किया। तब से उस उपलक्ष से दीपोत्सव की परम्परा चली आ रही है। □□□

पार्श्वनाथचरित में राजनीति और शासन-व्यवस्था

□ श्री जयकृष्णर जैन

पार्श्वनाथचरित बाहिराजसूरि का एक महाकाव्य है। यह राजनीतिशास्त्र नहीं है। यद्यपि इसमें राजनीति और शासन-व्यवस्था का क्रमबद्ध वर्णन नहीं हुआ है, तथापि आन्तरिक अनुशीलन से तात्कालिक छिटपुट राजनीतिक स्थिति और शासनव्यवस्था का आभास मिल जाता है।

किसी भी देश में शांतिव्यवस्था के लिए राज्य-संस्थापना और उसके संचालन की आवश्यकता होती है। सामान्यतः राज्यसंचालन की दो प्रमुख पद्धतियाँ हैं— १. राजतन्त्र, और २. प्रजातन्त्र। वैदिक काल से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के कुछ समय को छोड़कर हमारे देश में राजतन्त्रीय शासन पद्धति ही रही है। पार्श्वनाथ-चरित के प्रणयर^१ के समय राजतन्त्र ही था। पार्श्वनाथ-चरित के आन्तरिक विश्लेषण से निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

१. राजा

राजा (राजन) शब्द का शाब्दिक अर्थ 'शासक' होता है। लैटिन में राजा के लिए 'रेक्स' (Rex) शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी उसी अर्थ का द्योतक है। भारतीय परम्परा में राजा की एक विशिष्ट व्याख्या की गई है। शासक को राजा कहने का प्रयोजन यह है कि वह प्रजा का अनुरजन करता है।^२ पालि साहित्य में भी राजा की यही सैद्धान्तिक व्याख्या उपलब्ध होती है।^३

पार्श्वनाथचरित के अनुशीलन से पता चलता है कि राजा भरविन्द में उक्त सैद्धान्तिक व्याख्या पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित होती है। वह प्रजा का सदैव ध्यान रखता है। राजा भरविन्द बड़ा तेजस्वी था। अपने तेज के कारण उसने अखिल दिङ्मण्डल पर विजय प्राप्त कर ली थी।

वह कलाओं से सम्पन्न था। धर्मारामना के साथ ही काम एवं धर्म पुरुषार्थ का भी भोग करता था। वह धनधान्य-सम्पन्न, गुणवान् तथा कठोर दण्ड का धारक था, दानी था। वह समदर्शी था, परन्तु उन्नत पुरुषों में अधिक सहानुभूति रखता था।^४ इसी प्रकार अन्य राजाओं के प्रसंग में भी उक्त गुणों का वर्णन किया गया है।

२. राजा के कर्तव्य

प्रजा का अनुरजन करना ही राजा का मुख्य कर्तव्य है। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को इसलिए राजा कहा है, क्योंकि वह समस्त प्रजा का प्रसन्न रखता था।^५ राजा भरविन्द भी प्रजानुरंजक था। उसने अपनी भुजाओं से प्रजा को दुखरूपी कूप से निकाला।^६ शत्रुओं को पराक्रम दिखाना, अपराधियों को कठोर दण्ड देना तथा सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।^७ राजा भरविन्द में उक्त सभी गुण दिखाई पड़ते हैं।^८

३. राजा का उत्तराधिकार

राजा का उत्तराधिकारी प्रायः उसका ज्येष्ठ पुत्र ही होता था। यही राजतन्त्र की मर्यादा रही है। पार्श्वनाथ-चरित में भी भरविन्द^९ एवं अन्य सभी राजाओं के उत्तराधिकारी उनके ज्येष्ठ पुत्र ही हुए हैं।

४. मंत्री

राजतन्त्र में राजा सर्वोच्च सत्ता है, किन्तु किसी भी महत्त्वपूर्ण निर्णय के पूर्व राजा मंत्रियों से सलाह जरूर लेता है। शुक्रनीति में कहा गया है कि राजा चाहे समस्त विद्याओं में कितना ही दक्ष क्यों न हो, फिर भी उसे बिना मंत्रियों की सहायता के राज्य के किसी भी विषय पर विचार नहीं करा चाहिए।^{१०}

१. पार्श्वनाथचरित का रचनाकाल ई० सन् १०२५ है।

२. 'राजा प्रकृतिरजनात्।'—रघुवंश, ५.१२

३. 'दम्भेन परे रजेतीति सो वासिट्ठ राजा।'—दीघनि-काय, खण्ड ३, पृ० ६३।

४. पार्श्वनाथचरित, १.६४-७८

५. महाभारत, शांतिपर्व, ५६.१२५।

६. पार्श्वनाथचरित, १.७७

७. नीतिवाक्यामृत, ५.२, ६.३६

८. पार्श्वनाथचरित, १.६४, १.७० ९. वही ३.५८

१०. सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित्।

मंत्रिभिस्तु विना मंत्र नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित् ॥

—शुक्रनीतिसार, २.२

पार्श्वनाथचरित में भी मुत्तवर जब कमठ के दुराचार की शिकायत करता है, तो मन्त्री मरुभूति उस शिकायत की सत्यता की जांच के लिए निवेदन करता हुआ कहता है—“हे देव ! यद्यपि तुम्हारे अनुचर असह्य दुःखदायक दण्ड के भय से मिथ्या बातें नहीं कहते हैं, किन्तु घटना का दृढ़ निश्चय अपराध-विज्ञेयों द्वारा कराया जाये। जब इन्द्रियां भी निकटस्थ वस्तु के सम्बन्ध में धोखा दे देती हैं तो विषमाभिसन्धि भूत्यों की बात का क्या भरोसा ?”

मन्त्री राजा का सद्व्यस्य देव वाला तीसरे नेत्र के समान माना जाता था।^{११} मन्त्री की मन्त्रणा से शत्रुओं तक की सम्पत्तिया राजा को प्राप्त हो जाती थी।^{१२} पार्श्वनाथचरित से पता चलता है कि मन्त्री प्रायः ब्राह्मण ही होते थे।

५. मन्त्री का उत्तराधिकार

मन्त्री का उत्तराधिकार भी प्रायः वंशानुक्रमिक होता था। यदि कभी बड़े पुत्र में कोई अयोग्यता हो अथवा छोटा पुत्र अधिक गुणवान् हो तो राजा छोटे पुत्र को भी मन्त्री बना लेता था। कमठ के ज्येष्ठ होने पर भी राजा अरविन्द ने अपना मन्त्री अधिक गुणवान् मरुभूति को ही बनाया।^{१३} यदि किसी आकस्मिक तथा आवश्यक कार्यवश मन्त्री को राजा के साथ कहीं बाहर जाना पड़े तो राज्य-भार किसी मन्त्री परिवार के सदस्य को भी सौंपा जा सकता था। शत्रु राजा वज्रवीर पर युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय मन्त्री मरुभूति को साथ ले जाने से राजा अरविन्द ने राज्यभार मन्त्री के अग्रज कमठ को सौंप दिया।^{१४}

६. युवराज और युवराज्याभिषेक

युवराज शब्द भावी राजा के लिए प्रयुक्त होता था। राजतन्त्र में युवराज का महत्वपूर्ण स्थान होता था।

राजा अपने औरस पुत्र को ही युवराज पद अभिषिक्त करते थे। युवराज ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। जब राजा वज्रवीर्य ने अपने पुत्र वज्रनाभ को राजकीय गुणों से मण्डित देखा, तो मन्त्रियों की सलाहपूर्वक उत्सव के साथ उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया। राजा वज्रवीर्य ने बहुत दिनों से धारण किये हुए पृथिवी के भार को कुछ कम कर सुख से समय बिताया।^{१५}

७. सामन्त राजा

सामन्त राजा वे शासक कहलाते थे, जिन पर चढ़ाई करके राजा ने विजय प्राप्त कर ली हो, किन्तु राजा की अधीनता स्वीकार कर लेने पर उन्हें पुनः राजपद पर प्रतिष्ठापित कर दिया गया हो। ये राजा एक निश्चित धनराशि कर के रूप में अपने विजेता राजा को प्रदान करते थे। शुक्रनीति में कहा गया है कि जिसमें प्रतिवर्ष प्रजा को पीड़ित किये बिना एक लाख रजतमुद्राओं से लेकर तीन लाख तक वार्षिक कर मिलता है, उसे सामन्त राजा कहते हैं।^{१६} पार्श्वनाथचरित में सामन्त राजाओं का निर्देश मिलता है।^{१७} वज्रवीर को जीतने के बाद राजा अरविन्द ने कर लगाकर उसे पुनः पद्मपुर का राजा बना दिया। अतएव वज्रवीर भी सामन्त राजा की श्रेणी में आ गया।^{१८}

८. अधिकारी एवं सेवक

राजा की सहायता के लिए अनेक अधिकारी एवं सेवक होते थे। राजा कहीं जाता था तो वरिष्ठ अधिकारी एवं सेवक उसके साथ जाते थे।^{१९} मन्त्री और युवराज राजा की सर्वाधिक सहायता करते थे। यही कारण है कि युवराज और मन्त्री को राजा का क्रमशः दक्षिण और वाम भ्रज के दोनों बाहु, नेत्र तथा कर्ण माना गया है।^{२०}

११. पार्श्वनाथचरित, २.५५.५७

१२. पार्श्वनाथचरित, १.६७

१३. वही, १.६६

१४. वही, १.६४

१५. वही, १.१००

१६. वही, ५.२४

१७. लक्ष्मणमित्रो भागो राजतो यस्य जावते।

वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां स्वविपीडनैः ॥

सामन्तः स नृपः प्रोक्तो धार्वलसन्निधौ विधिः।

शुक्रनीति, १.१८३.८४

१८. पार्श्वनाथचरित, १.१०२

१९. वही, १.१११

२०. वही १.७३

२१. शुक्रनीति, २.१२

६. गुप्तचर

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में गुप्तचरों को राजा का चक्षु कहा है। चक्षु तो केवल मुख की शोभा बढ़ाते हैं और वस्तुओं को देखने का कार्य करते हैं, पर गुप्तचर रहस्यपूर्ण तथ्यों का पता लगाकर राज्यशासन को सुदृढ़ बनाते हैं।^{११} इसी प्रकार, सोमदेव ने गुप्तचरों को देश-विदेश का ज्ञान कराने में राजा का चक्षु कहा है।^{१२}

गुप्तचर-विभाग हमेशा ही शासन की सुदृढ़ता और न्याय की सत्यता के लिए कार्यरत रहा है। गुप्तचर प्रजा की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में गुप्तवेश में रहकर जानकारी प्राप्त करने थे और हमकी सूचना राजा को देते थे। पार्श्वनाथचरित में भी गुप्तचरों का निर्देश किया गया है। कमठ के दुराचार की सूचना राजा अरविन्द को एक गुप्तचर ने ही दी थी।^{१३}

१०. राजा और प्रजा का सम्बन्ध

पार्श्वनाथचरित के अध्ययन में पता चलता है कि उस समय राजा और प्रजा के सम्बन्ध बड़े मधुर थे। यद्यपि अपराधियों के प्रति बड़ी ही कठोर दण्डव्यवस्था थी, तथापि सामान्य प्रजा के प्रति राजा का मधुरभाव था। राजस्व के रूप में जो धन आता था, वह प्रजा की भलाई के कार्यों में ही खर्च किया जाता था।^{१४} उस समय राजा ने साधनविहीन मार्गों में पानीयशालिका (Water hut) की व्यवस्था कर दी थी।^{१५} प्रजा का दुख से उद्धार करना ही राजा का कार्य था।^{१६}

११. राजस्व

राज्य के अधिक आय के साधनों में आज की तरह उस समय भी प्रजा से कर वसूल किये जाते थे। ऋग्वेद में राजा प्रजा से कर लेने का एकमात्र अधिकारी

घोषित किया गया है।^{१७} पार्श्वनाथचरित में भी राजा की आय के साधनों में प्रजा से कर लेने का उल्लेख किया गया है।^{१८} प्रजा के अतिरिक्त विजित राजाओं पर भी कर लगाया जाता था।^{१९}

१२. न्याय और दण्डव्यवस्था

अपराधियों को दण्ड देना और सज्जनों की रक्षा करना राजा का धर्म बताया गया है।^{२०} पार्श्वनाथचरित के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अपराधियों को दण्ड अत्यन्त कठोर और तिरस्कारपूर्वक दिया जाता था, जिससे भविष्य में ऐसे अपराध की प्रजा पुनरावृत्ति न कर सके। जब तक अपराध की अच्छी तरह छानबीन नहीं कर ली जाती थी, तब तक अपराधी को दण्ड नहीं दिया जाता था। कमठ के दुराचार का समाचार गुप्तचर द्वारा निवेदित करने पर मन्त्री की सलाह से राजा ने अपराधविशेषज्ञों द्वारा पहले सत्यता की जांच कराई, तदन्तर कमठ को दण्ड दिया गया। पर स्त्री के साथ दुर्गुण के अपराध में कमठ को गधे पर बैठाकर नगर-निष्कासन का दण्ड दिया गया।^{२१}

१३. सैन्य-विभाग

देश की रक्षा तथा राष्ट्रविरोधी ताकतों एवं दुश्मन दशों के दमन के लिए एक सैन्य-विभाग होता था। इसका प्रमुख अधिकारी सेनापति कहलाता था। जरूरत पड़ने पर कभी-कभी राजा स्वयं भी सेना संचालन करता था। पार्श्वनाथचरित में चतुरगिणी सेना—रथसेना, अश्वसेना, हस्तिसेना और पैदलसेना का उल्लेख हुआ है।^{२२}

इस प्रकार पार्श्वनाथचरित में राजनीति, उसके विविध अंगों एवं शासनव्यवस्था का वर्णन मिलता है, जिससे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व की स्थिति का दर्शन होता है। □□□

२२. चक्षुश्चरो विचारश्च तस्यासौत्कार्यदर्शने ।

चक्षुषी पुनरस्यास्य मण्डने दुष्यदर्शने ॥

—आदिपुराण ४.१७०

२३. स्वपरमण्डलकायिकायविलोकने चाराः खलु चक्षुषि क्षितीपतीनाम् ।

—नीतिवाक्यामृत, १४.१

२४. पार्श्वनाथचरित, २.४

२५. वही, १.६६

२६. पार्श्वनाथचरित, १.७४ २७. वही १.७७

२८. ध्रुव ध्रुवेण हविषाभि सोसं मशामसि ।

अथो त इन्द्रः केवलीविशो बलिहृतस्करत् ॥

—ऋग्वेद, १०.१७३.६

२९. पार्श्वनाथचरित, १.६६

३०. वही, १.६७, १.११३

३१. नीतिवाक्यामृत, ५.१.२

३२. पार्श्वनाथचरित, २.६०

३३. वही, ७.११, १६१

भगवान महावीर की प्रजातान्त्रिक दृष्टि

□ डा० निजामुद्दीन

प्रजातन्त्र की सफलता स्वतन्त्रता, समानता, वैचारिक उदारता, सहिष्णुता, सापेक्षता तथा दूसरों की निकट से समझने की मनोवृत्ति के विकास पर अवलम्बित है, जिसके अभाव में गणतन्त्र का अस्तित्व सदैव संदिग्ध ही रहेगा। महावीर गणतन्त्र के प्रबल समर्थक हैं, उनके उपदेशों में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, सामाजिक साम्य, आर्थिक साम्य, धार्मिक साम्य आदि पर विशेष बल दिया गया है और ये ही गणतन्त्र के सुदृढ़ स्तम्भ हैं। यदि इनमें से कोई एक दुर्बल या शिथिल हो गया तो समझिये गणतन्त्र का भवन चरमराकर गिर जाएगा। महावीर ने एक गणतन्त्र राज्य में जन्म लिया था परन्तु वहाँ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का सर्वथा लोप था; दास-प्रथा इतनी व्यापक तथा दयनीय थी कि मनुष्य मनुष्य का श्रेष्ठ दास बना हुआ था, एक व्यक्ति दूसरे के अधीन था, स्वामी का सेवक पर सम्पूर्ण अधिकार था। दास, दासी, नारी सभी का उसी प्रकार परिग्रह किया जाता था जैसे वस्तुओं, पदार्थों और पशुओं का परिग्रह करते हैं। उस युग में जातीय भेदभाव की कृत्रिम खाई बहुत चौड़ी थी। सामाजिक और आर्थिक वैषम्य के कारण चतुर्दिक् अशान्ति और कलह का वातावरण था, मताग्रह की प्रचण्ड आंधी ने सम्यक् दृष्टि को धुंधला कर दिया था। यही सब कुछ देखकर महावीर ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य का उपदेश किया।

स्वतन्त्रता की सिद्धि के लिए अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य की त्रिवेणी में अवगाहन करना पड़ता है। अहिंसा के द्वारा हम सभी के साथ मैत्री-भाव रखते हैं और इस मैत्री में ही समानता की मनोवृत्ति विद्यमान है। महावीर ने सभी प्राणियों के साथ मैत्री रखने का प्रतिपादन और किसी का बध या अनिष्ट करने का निषेध किया है। यहाँ आकर हम अपने दुःख के समान दूसरों के दुःख का समान स्तर पर अनुभव करते हैं, यानी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का चिरादर्श प्रस्तुत करते हैं। प्रजातन्त्र में भी अपने समान दूसरों की स्वतन्त्रता का आदर किया जाता है तथा

'स्व' की संकीर्ण नली छोड़कर 'पर' के राजमार्ग पर साथ-साथ चलते हैं—दूसरों के महत्त्व की स्वीकार करते हैं। आज यदि बंबकों की मुक्ति किया गया है, भूमिहीनों को भूमि प्रदान की गयी है, बेरोजगारों को रोजगार उपलब्ध कराने की समुचित व्यवस्था की जा रही है—बंबों से आसान सूद पर ऋण की व्यवस्था की जा रही है तो यह दूसरों की स्वतन्त्रता की ही स्वीकृति है।

यह मान्य है कि पराधीनता में सुख-सुविधाओं का मार्ग खुला रहता है, लेकिन ऐसी सुख-सुविधाएँ अधिकतर शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र की उपलब्धियों तक ही परिसीमित रहती हैं, जबकि स्वतन्त्रता का मार्ग कष्ट और असुविधाओं से अपूर्ण रहता है। कष्ट और असुविधाओं के कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलते ही स्वतन्त्रता का, मुक्ति का परम सुख शान्तिमय गन्तव्य हाथ आता है। परतन्त्रता में हमें घर मिलता है—आवास सुख मिलता है लेकिन स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए घर से बेघर होना पड़ता है। घर व्यक्ति को बन्धन में रखता है, स्वतन्त्रता में हम घर का त्याग कर प्रशस्त चौराहे पर आकर खड़े हो जाते हैं—दूसरों के साथ रहते हैं, दूसरों को अपने साथ रखते हैं। जब देश स्वतन्त्रता के लिए जी-जान की बाजी लगाकर संघर्ष कर रहा था, तो लोगो ने घरों का परित्याग कर दिया था—नौकरियाँ तक छोड़ दी थी। घर से बाहर आना—घर और परिवार के प्रति समत्व के विसर्जन करना है—और सभी मनुष्यों को अपने परिवार में शामिल करना है। यही है 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उच्चादर्श की प्राप्ति। महावीर की अहिंसा इसी स्वतन्त्रता—प्राणिजगत् की स्वतन्त्रता—का कल्याणप्रद आदर्श प्रस्तुत करती है—

“अहिंसा निवणा दिट्ठा सब्बभूएसु संजमो।”

अर्थात् प्राणिमात्र के प्रति जो संगम है, वही पूर्ण अहिंसा है और जब तक जीवन में असंयम रहेगा तब

तक हिंसा व परतन्त्रता रहेंगी। समय से पराङ्मुख रहना जीवन की स्वतन्त्रता-सुख शान्ति से हाथ धोना है। महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत में संयम की ही स्पृहणीय माना है। ब्रह्मचर्य अस्वाद का आवश्यक व्रत है। अच्छा-बुरा, खट्टा-मीठा, नौरस-सरस, आकर्षण विकर्षण के मध्य सम्भरना खींचना ब्रह्मचर्य है। यहाँ शरीर का ममत्व स्वतः विसर्जित हो जाता है। फिर अग्निग्रह की मजिन भी हाथ आ जाती है। जब तक वैभव का खोखला कृत्रिम प्रदर्शन किया जाएगा तब तक समाज में ऊँच-नीच की दीवारें ऊँची ही रहेंगी और व्यक्ति-व्यक्ति के बीच दूरी बनी रहेगी। उन ऊँची-नीची दीवारों को गिराये बिना मानव-समाज में शान्ति कहाँ, एकता कहाँ, स्वाधीनता कहाँ? जहाँ एक और अपार वैभव होगा और दूरी और घोर विपन्नता होगी तो समाज में विसंगतियों तथा विषमताओं के विपन्न लोगो को डगते ही रहेंगे, सकल वातावरण प्रदूषित और बलवित ही रहेगा। वैभव का विसर्जन समाज में, जाति में ऐक्य स्थापित करता है। प्रजातन्त्र में इसी का विमर्जन आवश्यक है। जब तक विसर्जन नहीं होगा, त्याग-वृत्ति नहीं आयेगी और न ही सब मिलकर एक साथ चल सकेंगे। साधना या तर के मार्ग पर व्यक्ति अकेला चल सकता है; लेकिन धर्म का मार्ग व्यक्तिगत नहीं, समाजगत तथा समूहगत मार्ग है। धर्म सबको साथ लेकर चलाता है। जब तक विसर्जन न होगा, त्यागवृत्ति न होगी, तब तक हम दूसरों को अपने साथ नहीं ले चल सकते। त्याग-भाव ही से तो हम दूसरों को अपने साथ लेकर चल सकते हैं, दूसरों से नादात्म्य स्थापित कर सकते हैं, उनके प्रति सपेदनशील हो सकते हैं। महावीर का अग्निग्रह असमानता और तज्जनित विसंगतियों का निरूपण कर समाजवाद के आदर्श की प्राप्ति में सहयोग देना है। प्रजातन्त्र समाजवादी भावना को आत्ममान्त्रिय है, इसलिए सग्रहवृत्ति के स्थापन पर त्यागवृत्ति को महत्व देना ही पड़ेगा। संग्रहवृत्ति वैभव-प्रदर्शन, अहंकार और ममकार के सञ्ज्ञात् रूप हैं जो प्रजातन्त्र में, समानता में, स्वतन्त्रता में, समाजवाद में भारी बाधा बन कर खड़े हो जाते हैं। प्रजातन्त्र में जहाँ अहंकार-वृत्ति के पजे मजबूत हुए वहीं तानाशाही का भयावह रूप परिलक्षित

होने लगेगा। जहाँ ममत्व है, आसक्ति है, अहंकार है, मूर्च्छा है वही अधर्म है, वहीं तानाशाही है, वही परतन्त्रता है।

प्रजातन्त्र में सामाजिक ऐक्य को प्राथमिकता दी जाती है; मानव-जाति में ऐक्य की प्रतिष्ठायना प्रजातन्त्र है। यहाँ स्वामी-सेवक, स्त्री पुरुष को पृथक्-पृथक् कर्तव्य या अधिकार नहीं दिये जाते, भेद दृष्टि का निराकरण हो जाता है। इस प्रकार की भेद-दृष्टि का निराकरण महावीर के उपदेशों का मेरुदण्ड है। आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के समन्वय पर विशेष बल दिया है। महावीर ने जब यह कहा कि 'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है' (आचारांग सूत्र १-५-५), तो वह समत्व का ही उच्चादर्श प्रस्तुत करता है—आत्मा के एकत्व पर ही बल दिया गया है। प्रजातन्त्र में जातीय भेद या वर्गभेद के लिए कोई स्थान नहीं; रगोनस्ल की वरिष्ठता निरर्थक है। जहाँ रगोनस्ल की वरिष्ठता की आकाश-बेल फैलने लगेगी, वहाँ जातीय स्वतन्त्रता का विटप सुखता चला जाएगा तथा ऊपर से साम्प्रदायिकता की आधी उसे समूल उखाड़ फेंकेगी—समाज की प्रगति एकदम से ठप हो जाएगी, कहीं शक्ति का नामोनिशान तक न रहेगा। महावीर ने अपने समवसरण में किसी भी सम्प्रदाय या वर्ग के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया था। उनका धर्म मानवजाति का धर्म है, किसी सम्प्रदाय या जाति-विशेष का धर्म नहीं। वह आत्मा की पवित्र गंगा है, जिसमें सब साथ मिलकर निमज्जन कर सकते हैं—वह सभी के पाप-कलुष को धोने-वाला निर्मल जल है। महावीर सम्प्रदायातीत है और प्रजातन्त्र भी सम्प्रदायातीत है। यहाँ सभी को अपने मतों-विचारों को अभिव्यक्ति देने का समान अधिकार है तथा सभी को अपनी कुशलता-योग्यता के अनुकूल उन्नति के समान अवसर प्राप्त है। महावीर ने व्यक्ति में इस प्रकार के आत्मस्वातन्त्र्य को हजारों वर्ष पूर्व जागृत किया था।

प्रजातन्त्र में हम अपने मत को, मान्यता को जितना महत्व देते हैं उतना ही दूसरों के मत की—मान्यता को महत्व देते हैं। यदि इसके विपरीत आचरण करेंगे तो

प्रजातन्त्र का गला घुट जाएगा—उसकी हत्या हो जाएगी। यहाँ सभी को समान स्तर पर एक ही मंच पर खड़े होकर अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता है, सभी को अपनी निष्ठानुसार धर्माचरण करने की स्वतन्त्रता है। इसी को हम महावीर के अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं। सत्य किसी एक व व्यक्ति या सम्प्रदाय की बपीगी नहीं है, वह तो सबका है और सभी के पास सत्यांश हो सकता है। हमें दुराग्रह को त्यागकर सम्यक् दृष्टित्व अपना कर सत्य का रूप जहाँ भी प्राप्त हो अंगीकृत करना चाहिए। मताग्रही सत्य के द्वार तक नहीं जा सकता। सत्य का मार्ग प्रशस्त है, उसमें संकीर्णता नहीं, विस्तार और व्यापकता है। हमें अपना मत जितना प्रिय है, दूसरे को भी अपना मत उतना ही प्रिय है; फिर हम क्या अधिकार है कि दूसरे के मन का खण्डन करें। महावीर ने अनेकान्त द्वारा एक वैचारिक क्रांति उत्पन्न की, उन्होंने वैचारिक सहिष्णुता का परिचय धुलन्द करके सभी को उसके नीचे खड़े होने और अपना अभिमत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की। उन्होंने बतलाया वस्तु या पदार्थ अनेक धर्म अथवा गुण विशेषता सम्पन्न होता है, उसमें एक ही गुण या विशेषता का प्राधान्य नहीं रहता। पत्नी केवल पत्नी ही नहीं होता वह पत्नी के साथ-साथ एक ममतामयी माँ, प्यारी सहेली, विश्वसनीय मित्र, लाड़ली बेटा, प्रिय भाभी भी होती है, अर्थात् वह विविधरूपा है। इसी प्रकार, अनेक धर्मों के कारण प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप में विद्यमान है, उसके नानाविध रूप होते हैं—‘अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् सः अनेकान्तः’। उपाध्याय यशोविजय ने कहा है—‘सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता, वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण को इसी प्रकार वास्तव्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को। माध्यस्थ्य भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है।’ जब विचारों में इस प्रकार माध्यस्थ्य भाव रहेगा या हम दूसरों के विचारों और मतों को सहिष्णुता से सुनेंगे, समझेंगे, हृदयंगम करेंगे तो सभी प्रकार के वैचारिक संघर्ष नष्ट हो जाएंगे। फिर राजनैतिक मानचित्र पर बड़े-बड़े मतवाद युद्धोन्मुखी संघर्षों को जन्म न दे सकेंगे। यदि ऐसा होता तो वियतनाम या इस्राइल-अरब की रक्तरेजित समस्याओं का

उत्साह अस्वाभाविक रूप से न निवृत्त होता। इस प्रकार की विकट समस्याओं का निदान सहज ही एक सदाशयपूर्ण समझौते के द्वारा संभव हो सकता था। प्रजातन्त्र में वाद-विवाद के द्वारा सर्वमान्य सत्य की खोज की जाती है। संसद् या विधान-मण्डल में विपक्षीयता के मत को भी मान्यता दी जाती है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता का कोई-न-कोई अंश विद्यमान रहता है। एक जैनाचार्य का मत है—

पक्षपातो न मे वीरो न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिगद्वचन यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अर्थात् मुझे न तो महावीर के प्रति कोई पक्षपात है और न कपिलादि मुनिवृन्द के प्रति कोई ईर्ष्या-द्वेष है जो। वचन तर्कसम्मत हो उसे ग्रहण करना श्रेयस्कर है। महावीर ने ‘यही है’ को मान्यता नहीं दी, उन्होंने ‘यह भी है’ को मान्यता प्रदान कर पारम्परिक विरोधों तथा मतग्रहों की लोह शृंखला को एक ही भ्रूटके में विच्छिन्न कर दिया। उन्होंने सत्य को सापेक्षता में देखा, एकांगीपन में नहीं और उसे शब्द दिये स्वात्ताद की शैली में। प्रजातन्त्र की पूर्ण सफलता और उसकी उपादेयता अनेकान्तदृष्टि में ही सन्निहित है, जिसे आज की भाषा में ‘सर्वधर्म-समभाव’ कहा जा सकता है। आज का युग मतवादी होकर भी मताग्रही नहीं है, वह वैचारिक सहिष्णुता एवं उदारता का युग है, दुराग्रह का नहीं है।

प्रजातन्त्र में लोकव्यवहृत भाषा को महत्व दिया जाता है, उसे ही राष्ट्रभाषा या राजभाषा का रूप दिया जा सकता है। किसी एक सीमित या विलिखित सम्प्रदाय की भाषा को बहुसंख्यक भाषाभाषियों पर थोपा नहीं जा सकता। एक सार्वजनिक सभा में कोई मस्कन में भाषण देने लगे तो उससे कितने लोग लाभान्वित होंगे? मुट्ठीभर ही न। महावीर ने अपने उपदेशों को मुट्ठी भर लोगों तक नहीं पहुँचाना चाहा वरन् असंख्य लोगों तक, मानव-जाति तक पहुँचाना चाहा और उसे सम्प्रेषित किया असंख्य लोगों की भाषा में-लोकभाषा अर्थात् मातृभाषा में। आज किसी भी प्रजातन्त्र देश में जाकर देखिए, वहाँ शासन का सर्वाधिक कार्य उसकी अपने देश की बहुसंख्यक लोगों

जैन-कला विषयक साहित्य

□ डा० जे० पी० जैन

धर्म और संस्कृति की भांति 'कला' शब्द भी बहु-परिचित, बहुप्रचलित और बहुचर्चित रहा है। कला की अनेकविध परिभाषाएँ एवं व्याख्याएँ की गई हैं। 'कल' धातु से व्युत्पन्न होने के कारण 'कला' शब्द का अर्थ होता है 'करना, सृजन, रचना, निर्माण या निष्पन्न करना' और 'कं लातीति कला' सूत्र के अनुसार 'जो आनन्द दे वह कला है।' शैवागम में उसे 'क्रित्कर्तृत्वलक्षण' अर्थात् संकुचित कर्तृत्वशक्ति माना है, और क्षेमराज के अनुसार 'कला आत्मा की वह कर्तृत्वशक्ति है जो वस्तुओं व प्रमाता के स्व को परिमित रूप में व्यक्त करे। वात्स्यायन ने कला का सम्बन्ध कामपुरुषार्थ के साथ जोड़ा है और उसके ६४ मुख्य भेद तथा ५१८ अवान्तर भेद किये हैं। आचार्य जिनसेन के अनुसार, आदिपुरुष भगवान् ऋषभदेव ने पुरुषों की ७२ और स्त्रियों की ६४ कलाओं की शिक्षा युगारंभ में ही दी थी। इनमें गमस्त लौकिक ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, हस्तशिल्प, मनोरंजन के साधन आदि समाविष्ट हो जाते हैं।

उपर्युक्त समस्त कलाएँ मुख्यतया दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं—उपयोगी कला और ललित कला। उपयोगी कलाओं में निर्मित वस्तु की उपयोगिता की दृष्टि का प्राधान्य रहता है, जबकि काव्य-संगीत-चित्र-मूर्ति-स्थापत्य नामक पाँचों ललितकलाओं में आनन्द प्रदान करने की दृष्टि का प्राधान्य एवं महत्त्व रहता है। किसी देश, जाति या परम्परा की सांस्कृतिक वपौती या समृद्धि का मूल्याङ्कन उसकी ललित कलाकृतियों के आधार पर ही बहुधा किया जाता है। वे संस्कृति विशेष के प्रतिबिम्ब एवं मानदण्ड, दोनों ही होती हैं। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, 'कला नागर-जीवन की समृद्धि का प्रमुख उपकरण है और उनके द्वारा सुख-सौभाग्य की सिद्धि के साथ-साथ व्यक्तित्व का परिष्कार भी होता है,

अर्थात् जीवन में सौंदर्य तथा समृद्धि का संचार, व्यक्तित्व का संस्कार और चित्त-प्रसादन होता है।' इस प्रकार, संक्षेप में कलाकार की निज की सौन्दर्यानुभूति की लोकोत्तर आनन्द-प्रदायिनी रसात्मक अभिव्यक्ति को 'कला' कह सकते हैं।

सुदूर अतीत से चली आई तथा प्रायः सम्पूर्ण भारत-वर्ष में अत्यधिक व्याप्त जैन संस्कृति का विभिन्नयुगीन कलावैभव अतिश्रेष्ठ, विपुल एवं विविध है। अपने विविध रूपों को लिये हुए काव्य और संगीत को छोड़ भी वे और केवल चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्यशिल्प को ही ले, जैसा कि कलाविषयक आधुनिक ग्रन्थों में प्रायः किया जाता है, तो भी इन तीनों ही से सम्बन्धित कलाकृतियों में, बाहुल्य एवं विविधता की दृष्टि से जैन परम्परा किसी अन्य परम्परा से पीछे नहीं रही है। अतएव भारतीय कला-साहित्य में भी जैनकला का अपना प्रतिष्ठित स्थान रहा है।

कला साहित्य दो प्रकार का होता है—एक तो तकनीकी, जिसमें कलाविशेष की कृतियों के निर्माण के सिद्धान्त, विधि, सामग्री आदि का वैज्ञानिक विवेचन होता है; दूसरा वह जिसमें विशेष कलाकृतियों का विवरण या वर्णन होता है, तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षण और मूल्याङ्कन भी होता है। प्राचीन साहित्य में मानसार, समरागणसूत्रधार, वास्तुसार जैसे ग्रन्थों में प्रथम प्रकार का कलासाहित्य मिलता है। मानसार को कई विद्वान् जैनकृति मानते हैं, ठक्करफेर का वास्तुसार तथा मण्डन-मन्त्री के ग्रन्थ तो जैन रचनाएँ हैं ही। रायपसेणइय आदि कतिपय आगमसूत्रों में भी इस प्रकार की क्वचित् सामग्री प्राप्त होती है। प्रतिष्ठापाठों में जिनमूर्तियों एवं अन्य जैन देवी-देवताओं का प्रतिमाविधान वर्णित है। जैन पुराण एवं कथासाहित्य में अनेक स्थलों पर विविध

चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य कलाकृतियों के सुन्दर वर्णन या विवरण उपलब्ध हैं।

आधुनिकयुगीन कला-साहित्य में : (१) प्रथम तो पुरातात्विक सर्वेक्षण, उत्खनन, शोध-खोज द्वारा विभिन्न प्रदेशों या प्राप्त पुरावशेषों, कलाकृतियों आदि के विवरण हैं। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में जनरल अलेक्जेंडर कनिंघम व उसके प्रायः समकालीन अन्य सर्वेक्षकों की बृहत्काय रिपोर्टों में भारतवर्ष के विभिन्न भागों में विवरी कलाकृतियों का आकलन हुआ। फुहरेर ने १८९१ में तत्कालीन पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के पुरावशेषों का जिलेवार विवरण दिया था। अन्य कई विद्वानों ने उसी प्रकार अन्य कई प्रदेशों का विवरण दिया। तदनन्तर भी पुरातत्व विभाग की रिपोर्टों, बुलेटिनो आदि में नवीन जानकारी में आयी सामग्री दी जाती रही है। स्वभावतः इन समस्त विवरणों में तत्तत् प्रदेशों में प्राप्त जैन कलावशेष भी समाविष्ट हुए। स्व० ब्र० शीतल-प्रसादजी ने वेंसी रिपोर्टों के आधार से ही मद्रास, मैसूर, बम्बई, सयुक्त प्रान्त (उ० प्र०) आदि कई प्रान्तों के प्राचीन जैन स्मारकों पर पुस्तकें लिखी थी व प्रकाशित की थी।

(२) दूसरे, भारतीय इतिहास सम्बन्धी विविध आधुनिक ग्रन्थों में विभिन्न युगों की सांस्कृतिक भूलक प्रस्तुत करने के निमित्त तत्सम्बन्धित कलावैभव की समीक्षा व उल्लेख भी रहता है, और उनमें भी जैन-कलाकृतियाँ अल्पाधिक सम्मिलित की ही जाती है। इस प्रकार इंडियन एन्टीक्वेरी, रायल एशियाटिक सोसाइटी की विभिन्न शाखाओं के जर्नल, अन्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक शोधपत्रिकाओं में भी प्रसंगवश जैनकला का विवेचन होता रहा है।

(३) तीसरे, कई प्रौढ़ कलामर्मज्ञों ने भारतीय कला पर बृहत्काय विवेचनात्मक ग्रंथ रचे हैं, यथा बर्गस, फर्गुसन, हैबेल, स्मिथ, कुमारस्वामी, पर्सी ब्राउन, स्टेला क्रैमरिश, बाखीफेर, फ्रैकफोर्ट, हैनरिख जिमर, बैनजमिन रोडेफ, लुइसफ्रेडरिक आदि ने। इन सभी विद्वानों ने ब्राह्मण और बौद्ध के साथ ही साथ जैन-कलाकृतियों पर

भी प्रकाश डाला समीक्षा की, तुलनात्मक अध्ययन किया और मूल्यांकन भी किया।

(४) अनेक जेनेतर एवं जैन कलामर्मज्ञों एवं विद्वानों ने विभिन्न स्थानीय जैन-कलाकृतियों पर ग्रंथवा विविध या विशिष्ट जैन-कलाकृतियों पर अनगिनत लेख लिखे हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय नाम हैं—बोगेल, ब्रूलर, बर्गस, कनिंघम, कलाउज ब्रून, काशीप्रसाद जायसवाल, आर० डी० बनर्जी, ए० बनर्जी शास्त्री, भगवानलाल इन्द्रजी, बी० एम० बहम्रा, डी० आर० भंडारकर, रामप्रसाद चंदा, वासुदेवशरण अग्रवाल, दयाराम साहनी, मोतीचन्द्र, एच० डी० साकलिया, कृष्ण-दत्त बाजपेयी, नी० पु० जोशी, एम० ए० ठांकी, आर० सी० अग्रवाल, बी० एन० श्रीवास्तव, देवला मित्रा, आर० सेनगुप्ता, रमेशचन्द्र शर्मा, शैलेन्द्र रस्तोगी, उ० प्र० शाह, माहतिनन्दन प्रसाद तिवारी, शिव कुमार नामदेव, विजय शंकर श्रीवास्तव, ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, तेजसिंह गौड़ प्रभृति जेनेतर विद्वान् तथा बाबू छोटेलाल जैन, कामताप्रसाद जैन, विश्वभरदास गार्गीय, नीरज जैन, गोपीलाल अमर, अग्र-चन्द नाहटा, के० भुजबलि शास्त्री, बालचन्द्र जैन, भूरचन्द्र जैन आदि जैन लेखक उल्लेखनीय हैं। स्वयं हमारे दर्जनों लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, स्मारिकाओं, ग्रन्थों आदि में जैनकला पर प्रकाशित हो चुके हैं। जैन पत्रिकाओं में से जैन सिद्धान्त भास्कर, जैन एन्टीक्वेरी, अनेकान्त, अहिंसा-वाणी, वायस आफ अहिंसा, शोधझु, श्रमण, जैन जर्नल में विभिन्न लेखकों के जैन कलाविषयक लेख, कभी-कभी सचित्र भी, बहुधा निकलते रहें हैं।

(५) जैनकला विषयक विशिष्ट एवं उल्लेखनीय ग्रन्थों में निम्नोक्त गिनाये जा सकते हैं—

१. विन्सेण्ट स्मिथ—जैन स्तूप एंड अदर एन्टीक्विटीज आफ मथुरा (इलाहाबाद, १९०१)
२. ए० एच० ल गहर्स्ट—हम्पी रुइन्स (मद्रास १९१७)
३. एम० एम० गंगुली—उड़ीसा एण्ड हर रिमेन्स, एन्शेण्ट एण्ड मेडिवल (कलकत्ता १९१२)
४. नार्मन ब्राउन—१९१८ और १९४१ के बीच प्रकाशित जैन चित्रकला पर पाँच पुस्तकें।
५. साराभाई नवाब—जैन चित्र-कल्पद्रुम, ३ भाग

(अहमदाबाद १९३५) तथा जैन तीर्थाज इन इंडिया एण्ड देयर आर्किटेक्चर (अहमदाबाद १९४४)

६. डा० मोतीचन्द्र—जैन मिनिचेचर पेन्टिंग्स फ्राम वेस्टर्न इण्डिया (अहमदाबाद १९४६)

७. मुनि पुण्यविजय—जेसलमेर चित्रावली (अहमदाबाद १९५१)

८. मुनि जयस्तविजय—आवू पर्वत एवं उसके जैन मन्दिरों पर कई पुस्तकें।

९. मुनि कान्तिसागर—खोज की पगडंडियाँ और खंडहरों का वैभव, (दोनों भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित।)

१०. टी० एन० रामचन्द्रन्—जैन मोनूमेण्ट्स आफ इण्डिया (कलकत्ता १९४४)

११. यू० पी० शाह—स्टडीज इन जैन आर्ट (वाराणसी १९५५)

१२. क्लास फिशर—वेज एण्ड टेम्पल्स आफ दी जैन्स (जैन मिशन, अलीगंज १९५६)

१३. डा० भागचन्द्र जैन—देवगढ़ की जैन कला (भारतीय ज्ञानपीठ १९७५)

१४. शोवाङ्क ३१ (२६ दिस० १९७२) - में राज्य

संग्रहालय, लखनऊ द्वारा आयोजित जैन कला संगोष्ठी का विवरण तथा जैन कला पर विभिन्न विद्वानों द्वारा पठित निबन्धों का सार संकलित है।

१५. जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, ३ खण्ड (भारतीय ज्ञानपीठ, १९७५)—जैनकला के विषय में प्रकाशित अब तक के ग्रन्थों में यह महाग्रन्थ सर्वाधिक विशाल, सर्वांगपूर्ण एवं प्रामाणिक है। ग्रन्थ सचित्र है और अंग्रेजी एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रकाशित हुआ है।

इस प्रकार, जैन कला-साहित्य का यह संक्षेप में प्रायः सांकेतिक परिचय है। इस साहित्य की विद्यमानता में जैन कला के किसी भी अंग या पक्ष पर शोध करने वाले छात्र को सामग्री का अभाव नहीं है। कलाभर्मजों के लिए जैन कला के किसी भी अंग का तुलनात्मक अध्ययन, समीक्षा एवं मूल्यांकन करना अपेक्षाकृत सुगम हो गया है। जो कलारसिक अथवा सामान्य जिज्ञासु है, वे भी उपर्युक्त साहित्य से जैन कला विषयक सम्यक् जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इतना सब होने पर भी यह मान बैठना उचित नहीं होगा कि इस क्षेत्र में अब और कुछ करना शेष नहीं है। अभी बहुत-कुछ किया जा सकता है, करने की आवश्यकता है।

□ □ □

[पृष्ठ ८३ का शेषांश]

की भाषा में होता है। यदि नहीं होता तो वहाँ प्रजातन्त्र के होते हुए भी पराधीनता है, परभाषा की पराधीनता।

आज का युग समानता का युग है, स्त्रियाँ भी तो पुरुषों के समान अधिकारों की माँग कर रही हैं और उनकी माँगें पूर्ण भी हो रही हैं, न हों तो फिर प्रजातन्त्र का आदर्श-आदर्श मात्र ही रह जाएगा। शोषित वर्गों को भी समाज में बराबरी के हक दिये जाते हैं। महावीर ने हजारों वर्ष पूर्व स्त्रियों को दीक्षा देकर उनका आदर

और सम्मान ही नहीं बढ़ाया, अपितु उन्हें समानता के अधिकार से सुशोभित किया। उनका अपरिग्रहवाद आर्थिक समानता का आदर्श प्रस्तुत कर समाजवाद की जड़ों को ही मजबूत बनाता है। □ □ □

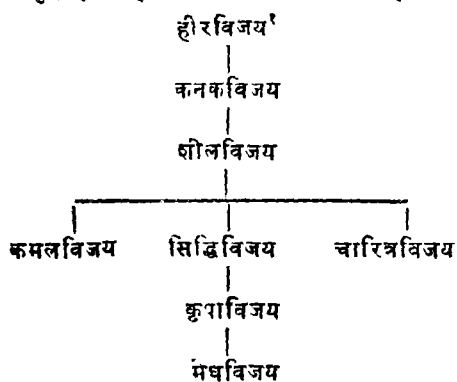
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, इस्लामिया कालेज, श्रीनगर (काश्मीर)

मेघविजय के समस्यापूर्ति काव्य

□ श्री श्रेयांसकुमार जैन

प्राचीन ऋषियों, मनीषियों, आचार्यों तथा कवियों ने अपना परिचय देश, काल, कुल आदि की दृष्टि से अनावश्यक समझ कर नहीं दिया या अस्पष्ट रूप में अत्यल्प प्रमाण में दिया है। उनका एकमात्र लक्ष्य था कि लोग गुणों को ग्रहण करें। इस कारण वे न तो अपनी प्रशस्ति पसन्द करते थे और न अपने वैशिष्ट्यबोध के ही भूले थे। इसी परम्परा में बहुश्रुत, बहुमुखी प्रतिभा के धनी, गम्भीर साहित्य-माधक, अनेक शास्त्रों के प्राज्ञ पण्डित, ज्योतिष-व्याकरण-दर्शन आदि परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों के वेत्ता महापाध्याय मेघविजयगणि भी आते हैं, क्योंकि इन्होंने अपने वंश, समय तथा स्थान आदि का परिचय देने में संकोच किया। अपनी शिष्य-परम्परा को भी ऐसा नहीं करने दिया।

मेघविजयगणि तपागच्छ के आचार्य श्री हीरविजय-सूरि की परम्परा में अन्तिम गणमान्य प्रतिभासम्पन्न आचार्य हुए हैं। यह परम्परा-क्रम इस प्रकार है—



१. शान्तिनाथचरित्र के अनुसार।
२. सत्सेवासक्वचैता अनवरततथा प्राप्त लक्ष्मीविशिष्य।
शिष्यः श्रीमत्कृपादेविजयपद्मभूतः सत्कवेर्वाचकः श्रीः ॥
— देवानन्द महाकाव्य प्रशस्ति
३. (क) युक्तिप्रबोध नाटक, (ख) भणिपरीक्षा (ग) धर्ममंजूषा।
४. चन्द्रप्रभा, हैमशब्दचन्द्रिका, हैमशब्दप्रक्रिया।
५. दिग्विजय महाकाव्य, लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित,

विजयप्रभसूरि ने इन्हें 'वाचक' (उपाध्याय) पद से समलंकृत किया था। इनकी न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, अध्यात्म आदि से सम्बन्धित अनेक रचनाएँ सम्प्रति समुपलब्ध हैं। उपाध्यायजी ने साहित्य-साधना का प्रारम्भ वि० सं० १७०६ में 'विजयदेवमाहात्म्यविवरण' नामक टीका से किया और उनकी अन्तिम रचना है पाण्डित्यपूर्ण शब्दवैविध्य-युक्त प्रत्येक पद के सात-सात अर्थ निगन्त करनेवाली समलंकृत सप्तसन्धान महाकाव्य जो वि० सं० १७६० में पूरी हुई।

मेघविजयगणि की प्रतिभा और पाण्डित्य आदि का विशेष परिचय उनके द्वारा प्रणीत समस्यापूर्ति काव्यों से मिलता है, क्योंकि कवि की मौलिकता नूतन काव्य-सृष्टि में उतनी नहीं निखरी, जितनी पुरानी काव्यसृष्टि की नूतन चमत्कार प्रदान करने में। कवि प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी अत्यन्त विनम्र हैं। यह अम्भुस्थान युग के प्रतिनिधि कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष जैसे कवियों की कृतियों को समस्या बनाकर उनके भावों में स्व-भावो का साम्य स्थापित कर नवीन काव्यों का निर्माण करता है। ऐसी महती प्रतिभा से सम्पन्न होते हुए भी विनयावनत होकर माघ आदि के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए वह कहता है कि—

नोद्रेकः कवितामदस्य न पुनः स्पर्धा न साम्यस्पृहा,
श्रीमन्माघवेस्तथापि रुगुरोर्भक्तिरेव प्रिया।
तस्यां निर्यरतेः सुतेऽसुभगा जज्ञे समस्याद्भुता,
सेर्यं शारदचन्द्रिकेव कृतिनां कुर्याद्दृग्नाभुत्सवम् ॥

सप्तसन्धान, भविष्यदलक्षणा, पञ्चाख्यान आदि।

६. वर्षप्रबोध, रमणशास्त्र, हस्तम जीवन, उदयदीपिका, प्रहसुन्दरी, बीसायन्त्र आदि।
७. मातृकाप्रसाद, ब्रह्मबोध, अर्हद्गीता आदि।
८. विद्यद्वसमुनीन्दूना (१७६०) प्रमाणात् परिवत्सरे।
कृतोऽयमुद्यमः पूर्वाचार्यचर्या प्रतिष्ठितः ॥

—सप्तसन्धान महाकाव्य, प्रशस्ति

माघः सान्निध्यकृद् भूयाद् मल्लिनार्थस्तथैक्ष्यताम् ।
हास्येन मम दास्येऽस्मिन् यथाशक्त्युपजीविते ॥
अस्या न मधुरा वाचो नालंकारा रसावहाः ।
पूर्वसंगतिरेवास्तु सतां पाणिग्रहश्रिये ॥^९

मेघविजयगणि ने महाकवि कालिदास विरचित मेघ-
दूतम् के प्रत्येक पद्य के अन्तिम चरण को समस्या-रूप में
स्वीकार करके 'मेघदूतसमस्यालेख', भारवि के किरातार्जु-
नीयम् को समस्या बनाकर 'किरातसमस्यालेख', महा-
कवि माघ के शिशुपालवध के सात सर्गों के प्रायः अन्तिम
चरण को समस्या बनाकर 'देवानन्द महाकाव्य' तथा श्रीहर्ष
के नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग के सम्पूर्ण श्लोकों के प्रति-
चरण को समस्या मानकर शान्तिनाथचरित नामक काव्य
की रचना की ।

समस्यापूर्ति शब्द समस्या और पूर्ति का संयोग है ।
इसमें पूर्ति शब्द का अर्थ पूर्णता है । समस्या का अर्थ
कठिनाई या परेशानी है । यह परेशानी भी व्यक्ति के
लिए परीक्षा होती है । वैसे ही काव्य क्षेत्र में किसी
सार्थक शब्द, पद अथवा पाद को समस्या के रूप में कवि
की शक्ति-परीक्षणार्थ अर्थसंगत रीति से पूरा करने के
लिए प्रस्तुत किया जाता है । कवि अपने मनोगत अर्थ व
भावों की उस पाद अथवा पद के साथ संगति बैठकर
पद्य की पूर्ति करता है । इसी को समस्यापूर्ति कहते हैं ।
अमरकोश में भी कहा गया है कि—

“या समासार्था पूरणीयार्था कविशक्तिपरीक्षणार्थम्
अपूर्णतयैव पठ्यमानार्था वा सा समस्या ॥”^{१०}

एक स्थिति और है जब कवि भिन्न अभिप्राय वाले
अधूरे पद्य की भिन्न अभिप्राय वाले अपने भावों के साथ
संगति बैठकर अर्थपूर्ति करता है । यह भी समस्यापूर्ति है ।^{११}

समस्यापूर्ति में पूरणीय चरण के शब्दों को परिवर्तित
न कर अर्थ की पूर्ति करनी होती है, अतएव इसमें कवि

परतन्त्र रहता है । भावों की स्पष्टता कम होती है । इस
कार्य में स्वतन्त्र काव्य-निर्माण की अपेक्षा अधिक श्रम-
साध्य एवं प्रौढ़ पाण्डित्य की अपेक्षा होती है । बन्धन के
कारण कवि अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा का उपयोग कम कर
पाता है । कुछ ही विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न कवि दूसरों के
काव्यों के पदों तथा भावों का अपने भावों के साथ
सामञ्जस्य स्थापित कर पाते हैं । उन्हीं में मेघविजयगणि
आते हैं । इनके समस्यापूर्ति काव्य इसके प्रमाण हैं ।

मेघदूतसमस्यालेख

'मेघदूतसमस्यालेख' विज्ञप्ति-पत्र के रूप में लिखा गया
है । इस काव्य की रचना महाकवि कालिदास विरचित
'मेघदूतम्' के प्रत्येक श्लोक के अन्तिम चरण को समस्या
मानकर की गयी है ।

कालिदास ने रामगिरि आश्रम में स्थित किसी विरही
यक्ष का सन्देश आषाढ़ मास के प्रारम्भ में मेघ को दूत
बनाकर उसकी कान्ता के पास अलकापुरी भेजने की
कल्पना में मेघदूत की रचना की । उसी प्रकार मेघविजय
ने चातुर्मास के प्रथम आषाढ़ मास में अपना सन्देश श्री
विजयप्रभसूरि के पास देवपाटण भेजने के लिए मेघदूत-
समस्यालेख की रचना की है । कवि ने नवग्रंगपुरी^{१२}
(औरङ्गाबाद) से देवपाटण सन्देश भेजा था । मेघदूत में
रामगिरि से अलकापुरी तक के मार्ग में विविध नगर,
पर्वत, नदी, आदि रम्य स्थानों का वर्णन है और फिर
अलकापुरी में स्थित यक्षिणी आदि का वर्णन किया है ।
इसी प्रकार इस काव्य में नवग्रंगपुरी से देवपाटण के मार्ग
के मध्य देवपर्वत तथा नगरी, एलीर पर्वत, तुंगिला पर्वत^{१३},
तापी नदी, नर्मदा, महो आदि नदियों, शत्रुञ्जय पर्वत,
सिद्धशैल, जैनमन्दिरों, द्वीपपुरी (देवपाटण) में स्थित
विजयप्रभसूरि^{१४} गुरु का तथा साथ में उस नगरी का भी
वर्णन किया है ।

९. देवानन्द महाकाव्य प्रशस्ति.

१०. अमरकोश, टीका १.६७.

११. शब्दकल्पद्रुम, पञ्चमकाण्ड, पृ० २७०.

१२. मेघदूतसमस्यालेख, १

१३. वही, ३४

१४. वही, ६२

किरातसमस्यालेख

इस काव्य का उल्लेख विद्वानों^{१५} ने अपने निबन्धों में किया है। यह जगत्प्रसिद्ध भारवि के काव्य किरातार्जुनीयम् की समस्यापूर्ति है। इसकी एक प्रति आचार्य श्री विजयेन्द्रसूरि के पास थी। उन्होंने प्रेस कापी भी तैयार की थी, किन्तु मिली नहीं। वह भी एकसर्गात्मक थी, पूरी नहीं।^{१६}

देवानन्द महाकाव्य

देवानन्द महाकाव्य कवि का अनुपम समस्यापूर्ति काव्य है। माघ कवि के शिशुपालवध की समस्यापूर्ति के रूप में लिखे गये इस काव्य में श्री विजयदेव सूरि का चरित्र वर्णित है, आनुषङ्गिक रूप से विजयप्रभसूरिजी का वृत्तान्त निबद्ध है। यह काव्य सं० १७२७ में मारवाड़ के सादड़ी नगर में विजयादशमी के दिन पूरा हुआ था।^{१७} सप्तसर्गात्मक इस काव्य में कुल ७१६ पद्य हैं। यद्यपि काव्य में ऐतिहासिक दृष्टिकोण से चरित्र वर्णित है तथापि इसमें काव्यत्व प्रधान है। इस काव्य में माघ के शिशुपालवध काव्य से साम्य है— माघ कवि का मुख्य विषय कृष्ण-वासुदेव द्वारा शिशुपालवध है। मेघविजय ने भी अपने काव्य का नायक वासुदेवकुमार^{१८} को चुना जो बाद में विजयदेवसूरि आचार्य बनते हैं। कृष्ण को दिल्ली जाना पड़ा था, इसके नायक को भी दिल्ली के जहाँगीर

बादशाह के पास जाना पड़ा था। रैवतक गिरि का दोनों काव्यों में समान वर्णन है। काव्य में शिशुपालवध काव्य के मात्र सात सर्गों^{१९} के श्लोकों के अन्तिम पाद को समस्या बनाकर पूर्ति की गई है।

शान्तिनाथचरित

मेघविजय समस्यापूर्ति काव्यों में इसका विशेष स्थान है, क्योंकि प्रथम सर्ग के प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण को समस्या बनाकर पूर्ति की गई है और नैषध का जो चरण ग्रहण किया गया उसे प्रस्तुत काव्य में उसी चरण के रूप में भावों की संगति के साथ बैठाया गया है। इस काव्य की पूर्ति छः सर्गों में की गयी है एवं अपरनाम 'नैषधीय समस्या'^{२०} भी है। इसमें शान्तिनाथ प्रभु का चरित्र वर्णित है, आनुषङ्गिक रूप में विजयप्रभ^{२१} का वर्णन है। इसमें ५६० श्लोक हैं।

यह काव्य काव्यत्व प्रधान है और भाव-साम्य नैषधीयचरित जैसा है।^{२२} श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपना वशगत परिचय दिया है। प्रस्तुत काव्य में कवि ने अपनी गुरु-परम्परा का वर्णन किया है।^{२३}

संयोग है कि श्रीहर्ष के पिता का नाम हीरा और काव्यकार की परम्परा के आद्य-संस्थापक का नाम भी हीरविजय था। अतएव काव्य में नैषधीयचरित के प्रथम सर्ग का आद्यन्त समस्या-रूप में निर्वाह हुआ है। □ □ □

१५. श्री अग्ररचन्द नाहटा, जैन पादपूर्ति साहित्य।

१६. दिग्विजय महाकाव्य की हिन्दी भूमिका।

१७. मुनिनयन-अश्व-इन्दुमिते वर्षे हर्षेण सादड़ी नगरे।

ग्रन्थः पूर्णः समजनि विजयदशम्यामिति श्रेयः ॥

—देवानन्द म० प्रशस्ति

१८. वही, १.७१

१९. वही, १.१२ तथा ७.७८

२०. इतिश्री नैषधीय महाकाव्य समस्यायां महामहोपाध्याय मेघविजयगणि पूरितायां पठ्यः सर्गः।

—शान्तिनाथचरित, प्र० सर्ग समाप्ति

२१. यदीयपादाम्बुजभक्तिभिर्भरात्,

प्रभावतस्तुल्यतया प्रभावतः।

नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः,

क्षमापतिः प्रायशः प्रजम्भ्यताम् ॥

—वही, १.३३

२२. अयं दरिद्रो भवितेति वैषसी,

क्रियां परामुश्य विशिष्य जापतः।

विधेः प्रसत्त्यास्ववदान्यताकृते,

नृपः सदाशी भवितेत्यबोलखत् ॥

—वही, १.५०

२३. वही, ६.६५

जैन ध्वज : स्वरूप और परम्परा

□ पं० पद्मचन्द्र शास्त्री, नई दिल्ली

[यह शोधपूर्ण लेख, गवेषणा एवं सत्यानुसंधान की दृष्टि से, जैन ध्वज के वास्तविक स्वरूप परम्परा के विषय में सप्रमाण तर्क और सुसंगत आधार सामग्री प्रस्तुत करता है। अतः इस पर इसी दृष्टि से विचार किया जाना अभीष्ट है। —सम्पादक]

तीर्थंकर महावीर के २५०० वें निर्वाण के उपलक्ष्य में उपलब्ध-उपलब्धियों में पंच-वर्ण के सामाजिक ध्वज की उपलब्धि युगान्त तक स्मरणीय रहेगी और ध्वज के निर्माण व प्रचार में सहायक -- प्रयत्न करने वाली महाशक्तियों को भुलाया नहीं जा सकेगा। सभी धन्यवादाहं रहेंगे।

भगवान महावीर के निर्वाण-पश्चात्, जैसे धार्मिक मान्यताओं में दृष्टि-भेद हुए—अनेक पथ बने, वैसे ही उसके पंथ-गत-ध्वज भी भिन्न-भिन्न रूपों में निमित्त होने लगे। यहाँ तक कि किसी पथ के ध्वज का कोई निश्चित एक-रूप भी नहीं रह गया। जिसने जैसा चाहा, तब वैसा ही ध्वज, धर्म-ध्वज के नाम से फहरा दिया। और यह सब हुआ तब, जब लोगों की दृष्टि से धर्म-ध्वज का मूल-महत्व तिरोहित हो गया या लोगो ने धर्म ध्वज को अपनी अपनी माय्यताओं और पथ-विशेषों का ध्वज स्वीकार करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी या देवी-देवताओं की उपासना का बाहुल्य हो गया।

यदि किसी एक रूप में निश्चित मान्य हो तो पथ-विशेष का निश्चित एक ध्वज होना कोई बुरी बात नहीं। पर, यहाँ तो एक ही पथ के लोग कभी इकरंगा तो कभी तुरंगा-तिरंगा या कई-कई रंग का ध्वज फहराने लग गये थे। इससे जहाँ किसी पंथ-विशेष में ध्वज-संबन्धी अस्थिरता रही वहाँ किसी निश्चित ध्वज के अभाव में वह पंथ-संप्रदाय दूसरों की दृष्टि में अपने व्यावहारिक रूप का बोध कराने में भी असमर्थ हो गया। अर्थात् ध्वज को देखकर कोई नहीं पहिचान सकता था कि ये अमुक समाज-पथ या सम्प्रदाय के लोग हैं या वह उनका ध्वज है। यदि ध्वज का एक ही निश्चित रूप मान्य होता तो

ध्वज देखकर सहज ही ज्ञान हो जाता कि यह अमुक पंथ का ध्वज है। उदाहरणार्थ—जैसे चक्रयुक्त तिरंगा भारत का और चर्खे वाला तिरंगा कांग्रेस पार्टी का सहज-बोध करा देते हैं। हमारे ध्वज के विषय में ऐसा कुछ नहीं रह गया था।

सामाजिक नवीन ध्वज की निश्चिति के संबंध में मैं स्व० साहु श्री शान्तिप्रसाद जी जैन के इस कथन से पूर्ण-सहमत हूँ कि—

‘मुझे इस बात की बहुत प्रसन्नता है कि सभी के आशीर्वाद से समग्र जैन समाज के एक ध्वज एवं एक प्रतीक का निर्णय हो गया।’

—महावीर स्मारिका (अप्रैल ७४) पृ० २५

ध्वज के पाँच रंगों को अणुवत-महाव्रत आदि का द्योतक मानना जैसी नई दिशाओं की कल्पनाएँ भी सुखद और प्रशस्त हैं इनसे सदाचार प्रचार को बल ही मिलेगा। ऐसी नवीन कल्पनाएँ होती रहना, मानव के सद्भावों को जाग्रत करने में पूर्ण सहायक होती है। मैं इनका स्वागत करता हूँ और निश्चित किए गए पंच-वर्ण-ध्वज का सामाजिक दृष्टि से सम्मान करता हूँ। जैनों के सब पंथों ने मिलकर ध्वज का एक रूप (पंचवर्णवाला) स्वीकार कर प्रशस्त प्रयास ही किया है।

अब रही बात—पंचरंगे ध्वज को जैन धर्म की प्राचीनता से जोड़ने और इसे पूर्व से प्रचलित जैन-धर्म का ध्वज सिद्ध करने की। सो, इसके लिए शास्त्रों के प्रमाणों को एकत्रित करने में श्रम की आवश्यकता है। यह खोजना भी यत्न-साध्य है कि—जिनधर्म के ध्वज का प्राचीन रूप क्या है? मुझे अभी तक एक-दो सज्जनों

के विचार जानने को मिले। उनमें तर्कसंगत और तथ्य-पूर्ण दृष्टि नहीं मिली। अपितु यह तो अवश्य प्रतीत हुआ कि प्रस्तुत किए गए प्रमाणों के साथ ग्राह्य किया गया है और उन्हें बलात् प्राचीन जैन ध्वज के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यतः—वे प्रमाण देवी-देवताओं के ध्वज-प्रसंगों से संबन्धित है। ध्वज के पवरंगा होने में पहली बात जो कही जा रही वह है “विजया पंचवर्णाभा पंचवर्णमिदं—ध्वजम्।”

पर-उक्त उद्धरण जैन-ध्वज से संबन्धित नहीं अपितु विजयादेवी के निजी ध्वज से संबन्धित है। यतः—नीचे दिए गए पूर्ण प्रसंग से विविध-देवियों और उनकी ध्वजाओं के स्वरूपों का यथावत् निश्चय हो जाता है। तथाहि—

‘पीतप्रभाह्वयादेवी पीतवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘पद्माख्यदेवी पद्माभा पद्मवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘सामेषमालिनीकृष्णा कृष्णवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘हरिर्मनोहरादेवी हरिद्वर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘श्वेताभा चन्द्रमालेयं श्वेतवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘नीलाभासुप्रभादेवी नीलवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘श्यामप्रभा जयादेवी श्यामवर्णमिदं ध्वजम्।’
 ‘विजया पञ्चवर्णाभा पञ्चवर्णमिदं ध्वजम्।’

—प्रतिष्ठा तिलक ५।१-१०

उक्त प्रसंग से देवियों के पृथक्-पृथक् रंगों और तदनुसार उनके ध्वज-रंगों की पुष्टि हो जाती है। जैसे—

देवी का नाम देवी का वर्ण देवी के ध्वज ध्वज की दिशा का वर्ण

१	पीतप्रभा	पीत	पीत	पूर्व
२	पद्मा	पद्म	पद्म	आग्नेय
३	मेषमालिनी	कृष्ण	कृष्ण	अवाची
४	मनोहरा	हरित्	हरित्	नैऋत्य
५	चन्द्रमाला	श्वेत	श्वेत	प्रतीची
६	सुप्रभा	नील	नील	वायव्य
७	जया	श्याम	श्याम	उदीची
८	विजया	पञ्चवर्ण	पञ्चवर्ण	अधः, ऊर्ध्व, ईशान

जैन-ध्वज के प्रसंग में प्रतिष्ठातिलक में जो स्पष्ट उल्लेख हैं उनके अनुसार जैन-ध्वज सर्वथा श्वेत ही सिद्ध होता है और उस पर छत्र, पद्माहन, पुष्पकलश, स्वस्तिक आदि चिह्न होते हैं। तथाहि—

‘सुधीतमुद्दिष्टश्वेतनूतनवासः परिकल्पितस्यास्य-ध्वजस्य।’—

‘ध्वजमस्तकास्याधः प्रथमे पदे छत्रत्रयं, द्वितीयपदे पद्मा-वाहन, तृतीये पूर्णकलशं तत्पाद्वयो स्वस्तिकं यथाशोभं शिल्पिनाविलिख्य तदेतन्महाध्वजं तद्यागमण्डलस्याग्रतो वेदिकातले पूर्वस्यां दिशि समवस्थाप्य दिक्पालकेतुञ्च... दिक्कर्मकाकेतुञ्च तद्ध्वजवाश्वयोरवस्थाप्य... तन्महाध्वजाग्रतः.....’

—प्रतिष्ठातिलक, पृ० १८५-१८६

उक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि ध्वज धुले-मुद्दिष्ट, श्वेत नूतन वस्त्र से बना होता है और छत्र, कलश, स्वस्तिक आदि चिह्नों से चिह्नित होता है। यही मुख्य-ध्वज, महाध्वज नाम से भी कहा गया है। प्रतिष्ठा आदि के अवसरों पर इस महाध्वज को प्रमुखरूप में स्थापित किया जाता है और अन्य रंग-विरंग (देवी-देवताओं के) ध्वज—जो क्षुद्र-ध्वज के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं। उन्हें इस महाध्वज के चारों ओर (उनके लिए ऊपर निर्दिष्ट दिशाओं के क्रम में) स्थापित किया जाता है। इन क्षुद्र-ध्वजाओं को झड्डियों के नाम से भी जाना जा सकता है। यतः इनका परिमाण मुख्य-ध्वज से पर्याप्त छोटा होता है। महाध्वज की लम्बाई ५ से १० बालिस्त और चौड़ाई १६ से २४ अंगुल तक की कही गई है।

‘पञ्चदशाद्यन्तवितस्तिरूपपड्विषद्वैर्ध्यान्यतमदैर्घ्यस्य, एकोनविंशत्यंगुलादिचतुर्विंशत्यंगुलांतपड्विषद्व्यासरन्यतम-व्यासस्य।—(वही)।

आचार्य उमास्वामिकृत जैनियों के प्रामाणिक आगम-सूत्र तत्त्वार्थसूत्र से कौन परिचित नहीं है? यह सूत्र परममान्य है और सभी विषयों में स्पष्ट निर्णायक है। उससे ध्वज के श्वेत होने के प्रमाण—उसकी प्रामाणिक टीकाओं से उपलब्ध होते हैं। तथाहि—‘अवग्रहेणग्रहीतो-योऽर्पस्तस्यविशेषपरिज्ञानाकांक्षणमीहा कथ्यते। यथा

—तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर सूरि) १।१५

आचार्य जिनसेन ने ध्वज के श्वेत होने का बारम्बार उल्लेख किया है। जैसे—'यस्याः सीधावलीभृङ्गसगिनी केतुमातिका । केलाशकूटनिपतद्धंसमालां ब्रिलघते ॥'—महापुराण ४।११० ॥ तथा 'सितपयोधरा नीलः करीः द्वैः सितकेतनः । सबलः कविनीलाश्रैः संगता इव रेजिरे ॥'

उक्त उद्धरणों से सहज ही जाना जाता है कि ध्वज श्वेत होते रहे हैं। केतुमालिका, हंसमाला, सित-पयोधर, सित-केतन और बलाका सफेद हैं इसे सहज ही जाना जा सकता है।

‘मृगेन्द्रकैतनाग्रेषु मृगेन्द्राः क्रमदित्तया । कृतयत्नावि-
रेजुस्ते जेतुं वा सुरसागजान् ॥२३१॥

‘उत्पुष्करैः करैरुद्धाध्वजारेजुर्गजाधिपाः । गिरीन्द्र इव
कटाग्रनिपतत्पृथु निर्भराः ॥२३४॥

‘चक्रवृत्तासहस्रारैः चक्रैस्त्वदंशुभिः । वभुभन्निमता
साधं स्पर्धां कर्तुमिवोद्यताः ॥२३५॥

—महापुराण (जिनसेनाचार्य) पर्व २२

—उक्त श्लोकों में ध्वज की समता या उत्प्रेक्षा जिनमे की गई है वे सभी श्वेत वर्ण है। यथा—तरंग, कंचुली, हंगों की द्रव्यलेश्या, ऐरावत या देव-गज, यश, जय-विजय, निर्भर, और सूर्यकिरण आदि। यदि मूल—मुख-ध्वज अन्य किन्हीं रंगों का होता तो आचार्य श्वेत वर्ण की समता न दिखाते।

महापुराण पर्व २२ श्लोक २२३ के अर्थ में श्री पंडित पन्नालाल साहिद्याचार्य ने लिखा है—‘ध्वजाएँ सफेद बस्त्रों की बनी हुई थी।’—उसी प्रकार पर्व १६ के ३८ वें श्लोक में भी ध्वज ध्वज का स्पष्ट उल्लेख है—‘ध्वेतकेतु-पुरं भाति ध्वेतैः केतुभिः पततः ॥’

इस विषय में अन्य उद्धरण भी दर्शनीय हैं। सथा—

१. 'तुंग-मवग-मणि-तोरणावद्ध-धवल-धय बहुदुःखमाण ।'
—कुवलयमाला (उद्योतनसूरि) पृ० ७

२. 'रवि-तुरय-गमण-संताप-वाय मुह-फेण-मुंज धवलद्वय ।
कोङ्कि-पडाणा-णिवहे जा मरुय-चंचले वहई ॥'
—वही पृ० ३१

३. 'जाव सुविकल्ल चामरज्झया अच्छा सण्हा रूप्यपट्टा
वहरामयदण्डा ।'—जम्बूदीपवर्णन, सूत्र ७४
पृ० २८६

४. 'ते च सर्वेऽपि कथंभूता इत्याहुः—अच्छा आकाश
स्फटिकवति निर्मलाः, इलक्षणपुद्गलस्कधनिर्मा-
पिता; रूप्यमयो वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टो येषां ते
तथा । वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्ट मध्यावर्ती येषां ते
तथा ।'

—वही, (टीका-वाचकेन्द्र श्री मच्छातिचन्द्र पृ० २६२
'त्रलोकसार' जी में ध्वजा के लिए अन्य वर्णों का
संकेत नहीं मिलता: अपितु यह अवश्य मिलता है कि—
तत्कालीन नगरों में एक नगर 'श्वेत-ध्वज' नाम का था ।
अन्य बहुत से नगरों के नाम तो हैं—जो संभवतः उनके
स्वामियों के चिन्ह से चिन्हित ध्वज का संकेत देते हैं ।
जैसे—सिंहध्वज नगर, गरुणध्वज नगर आदि । पर,
पीत-ध्वज रक्त-ध्वज नील-ध्वज आदि ध्वज जैसे नाम
वाले नगर नहीं हैं । देखें गाथा ६६७ । इसी ग्रन्थ की
गाथा १०१० से ये भी स्पष्ट होता है कि—ध्वजों
की दो श्रेणियाँ हैं—मुख्यध्वज और क्षुल्लक ध्वज
[इसके संबन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है] मनीषी
बिचार करें ।

ध्वज के पंचरंगा होने में दूसरी बात कही जा रही
है तीर्थंकरों के शरीर के वर्ण के प्रतिनिधित्व की ।
यतः—

'पउमप्पह वसुपुज्जा रत्ता धवला हु चंदपह सुविही ।
णीला सुपास पासा णेमी मुणिसुब्बया किण्हा ॥
सेसा सोलह हेमा...' त्रिलोक सार ८४७

—पद्मप्रभ, वासु पूज्य लाल वर्ण, चन्द्रप्रभ, सुविधि
धवलवर्ण, सुपाश्व, पाश्व नीलवर्ण, नेमि, मुनिसुव्रत
कृष्णवर्ण और शेष सोलह तीर्थंकरपीतवर्ण के हैं ।

इसी प्रकार इस संबन्ध में अन्य प्रमाण भी हैं—

द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलो द्वाविन्दनीलप्रभौ ।
द्वौ बन्धुक सम प्रभौ जिन वृषौ द्वौच प्रयंगुप्रभौ ॥
शेषा षोडश जन्म मृत्यु रहिता संतप्त हेमप्रभा—।
स्ते सज्जान दिवाकरा सुगनुता सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥
'वे रत्ता वे सौवला वे तिलुपल वण्ण ।
मरगज वण्णा वेवि जिण सेसा कंचनवण्ण ॥' आदि

यदि उक्त आधार को ठीक मान लिया जाय तब
प्रचलित किए हुए पंचरंगा ध्वज में काला-नीला दोनों ही
रंग मानने पड़ेंगे और प्रचलित ध्वज विसंगति में पड़
जाएगा क्योंकि उसमें इन दोनों रंगों में से एक का ही
ग्रहण है । फिर रंगों के विषय में हरा रंग भी विवाद
का विषय है, जब कि एक स्थान पर हरे के उद्धरण को
स्वीकार किया गया है और एक स्थान पर नहीं । इसके
सिवाय ध्वज का प्राचीन प्रचलित एक रूप भी स्थिर न
हो सकेगा—वह सदा अस्थिर परिवर्तनशील ही रहेगा
अर्थात् तीर्थंकरों की वृद्धि के साथ ही ध्वज के रंग में
वृद्धि माननी पड़ेगी और पंचरंगी ध्वज की प्राथमिक
प्राचीनता सिद्ध न हो सकेगी । यथा—प्रथम पाँच
तीर्थंकरों के युग तक पीत ध्वज, छठवें के युग में पीत-
रक्त ध्वज, सातवें के युग में पीत-रक्त-नील ध्वज, आठवें
के युग में पीत-रक्त-नील-श्वेत ध्वज और बीसवें के युग
में पीत-रक्त-नील-श्वेत-कृष्ण ध्वज । यदि हरा भी लिया
जाय (जैसा कि उल्लेख मिलता है) तो ध्वज पंचरंगा के
स्थान में छह रंगा ठहरेगा । इस प्रकार परिवर्तनशील
ध्वज की जैन धर्म जैसी स्थिर प्राचीन एक रूपता नहीं
मिलेगी और यह प्राचीन—जैनधर्म जैसा प्राचीन, ध्वज
नहीं ठहरेगा अपितु परिवर्तनशील सामाजिक-ध्वज ही
ठहरेगा ।

ध्वज के पंचरंगा होने में तीसरी बात पंच-परमेष्ठियों
की प्रतिमाओं के रंगों की दृष्टि से कही जा रही है ।
श्वेताम्बर ग्रन्थ 'मानसार' में लिखा है कि—पाँचों
परमेष्ठियों की पाँच प्रतिमाएँ यथाक्रम से इन वर्णों की
होती हैं—१ स्फटिक (धवल) २ अरुणाम, ३ पीताम्ब,
४ हरिताम्ब, ५ नीलाम्ब । तथाहि—

‘स्फटिक इवेत रत्नं च पीत इयामनिभं तथा ।

एतत्पञ्चपरमेष्ठि पञ्चवर्णं यथा क्रमम् ॥’

उक्त मान्यता इवेताम्बर रीति में है। दिगम्बर मान्यतानुसार तो सिद्ध अशरीरी हैं अतः यदि उनकी प्रतिमाओं की कल्पना भी की जाएगी—(जैसा कि प्रचलन भी है) तो वह भी निराकार—अशरीरी रूप में ही की जाएगी और कोई भी रंग न होगा। ऐसे में उनका रंग लाल मान लेना सिद्धान्त का व्याघात करना होगा। इसके सिवाय—आचार्य, उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओं के रंगों की क्रमशः पीताम्ब, हरिताम्ब और नीलाम्ब मानना भी दिगम्बर आम्नाय के विरुद्ध है जब कि सिद्धान्ततः और आगमों व प्राचीनतमत्व की अपेक्षा इनकी मूर्तियों का विधान ही सिद्ध नहीं होता। दिगम्बर परम्परा में पूर्ण वीतरागता की पूजा के उद्देश्य से अर्हन्तों की प्रतिमाओं का विधान है और वीतरागता के कारण सिद्धों का भी समावेश किया गया है। जहाँ तिल-तुष मात्र भी अन्तरंग बहिरंग परिग्रह है वहाँ जिन-रूप की कल्पना नहीं है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही श्रेणियां साधक की श्रेणियां हैं—पूर्ण वीतरागत्व की श्रेणियां नहीं। यही कारण है कि लोक में जितने अकृत्रिम चैत्यालय हैं उनमें इनके विम्बों के होने का उल्लेख नहीं है। शास्त्रों और लोक में भी जिन-मन्दिरों का चलन है, आचार्य, उपाध्याय या साधु के मन्दिरों का विधान नहीं। गौतम, सुधर्मा जैसे गणधरों और जम्बू स्वामी तक के भी चरण ही पूजे जाते रहे हैं। यद्यपि केवली होने के बाद इनकी प्रतिमाएं बनाने में कोई आपत्ति नहीं। पूर्ण वीतरागी होने से सिद्ध परमेष्ठी को मन्दिरों में स्थान दिया गया है—उनकी निराकार स्थापना की जाती है। आगमों में असंख्यात अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है वहाँ भी अर्हन्तों की मूर्तियों का ही विधान है—आचार्य उपाध्याय और साधुओं की मूर्तियों का नहीं। त्रिलोकसार में भी मात्र अर्हन्तों व सिद्धों की प्रतिमाओं के होने का उल्लेख है—आचार्य उपाध्याय और साधु की प्रतिमाओं का नहीं। तथाहि—

‘जिन सिद्धान् पडिमा अकिट्टिया किट्टिमा दु अदिसोहा ।
रयणमया हेममया रुयमया ताणि बंदादि ॥१०१५॥’

इसमें पर भी यदि कही कुछ प्रतिमाएँ आचार्य, उपाध्याय या साधुओं की मिलती हों तो उन्हें नवीन के संदर्भ में ही लिया जायगा। ऐसी अवस्था में स्वज में इन तीन परमेष्ठियों की प्रतिमाओं के रंगों की कल्पना, कोरी कल्पना मात्र ही है—तथ्य नहीं।

कुछ ऐसे प्रमाण भी हैं जिनसे गुरुओं की मूर्ति के न होने की बात और इनकी (छतरी) तथा चरण-स्थापना और पूजा की परम्परा सिद्ध होती है। तथाहि—

‘आचार्यादि गुणान् शस्य सतां वीक्ष्य यथायुगम् ।

गुवदिः पादुके भक्त्या तन्व्यास विधिना न्यसेत् ॥’—

—प्रति० सारोद्धार ६।३६

घटयित्वा जिनगृहे तत्प्रतिष्ठा महोत्सवे ।

निषेधिकां प्रतिष्ठाय रक्षकांगे जनावनी ॥६।३७

‘ष्वात्वा यथास्वं गुर्वादीन्यस्येत्तत्पादुका युगे ।

निषेधिकायां सन्यास समाधिमरणादि च ॥

—वही १।८१

तेषां पदाब्जानि जगद्धितानां वचो मनोमूर्धसु धारयामः ॥१॥
(प्रति० सा० सं०)

‘तुम्हें पादपयोः सहस्रिह मंगलस्थि मे निष्चं ।’—आचार्यभक्ति

तेषां समेषां पदपंकजानि ॥ प्रति० तिलक ॥

‘ऊँ ह्रीं स्रम्यदर्शन-ज्ञानचारित्र पवित्रतरगात्रचतुर
शीतिललक्षणगणधरचरण आगच्छत २....., प्रतिष्ठा तिलक ॥

इसके अतिरिक्त प्रतिष्ठासारोद्धार के निम्न पाठ भी चरण पूजा में स्पष्ट प्रमाण हैं। इसका निष्कर्ष ये है कि प्राचीनतम युग में मुनि की मूर्तियां नहीं होती थीं अपितु उनके चरणों की ही स्थापना का विधान था। तथाहि—
(गुरुपूजा से—)

‘तेषामिह गुणभूतां भानुचरणाः ॥’—

‘क्रम भुवि गुरुणा प्रणिदधे ॥’—

‘भवांभोधेसेतूनृषिदूषभपादान् ॥’—

‘आचार्यचरणानूपस्कूर्मो ॥,—

‘मुनिपरिवृद्धांघ्रीनघृतः ॥’—

‘वरणकमलान्यार्यमहताम् ॥’—

‘वरणघरघोरियवरणान् ॥’

‘गणिवरणापीठान्नवरणीम् ॥’—

‘सूरिकमसरसिजोत्ताररुचिम् ॥’—

‘विधिकृताराधनाः पादपद्माः ॥’—

गुरु की मूर्ति के निर्माण के संबंध में श्वेताम्बर विद्वानों के जो विचार हैं उनसे यह आठवीं शताब्दी से पूर्व नहीं जाती। और यदि उत्खनन में कोई प्राचीन मूर्ति मिलती भी हो तो भी उन्हें हम जैन-ध्वज के समान प्राचीनत्व नहीं दे सकते—यतः धर्म का ध्वज तो सदा से ही रहा है जबकि आचार्यादि की मूर्तियाँ की उपलब्धि किसी बड़े निश्चित काल से ही हो रही है।

‘आठवीं शताब्दि के बाद तो आचार्य व मुनियों की स्वतंत्र मूर्तियाँ बनने लगी थी। उपर्युक्त पंक्ति सूचक काल के बाद जिन जैनाश्रित मूर्तिकला विषयक ग्रंथों का निर्माण हुआ उनमें आचार्य मूर्ति निर्माण करके किंचित प्रकाश डाला गया है।—‘गुरु मूर्ति का शास्त्रीयरूप निर्धारित न होने के कारण उनके निर्माण में एकरूपता नहीं रह सकी है।—खंडहरों का वैभव (मुनि कान्ति सागर) पृ० ४८-५०।

‘आठवीं शताब्दी से गुरु मूर्तियाँ मिलने लग गई हैं। ११वीं के बाद अधिक मिलती हैं। पहिले गणघरों आदि के स्तूप बनते ही थे। स्तूप ही मूर्ति में विकसित हो गए।’
अगर चन्द जी नाहटा (१७-१२-७७)

इसके अतिरिक्त दिनांक १२-१-७७ के जैन संदेश में

श्री नानक चन्द खातोली का एक लेख प्रकाशित हुआ है उसमें कुछ अंश निम्न प्रकार है—

‘हमें प्रतिमा का उल्लेख दो रूपों में मिलता है अकृत्रिम और कृत्रिम—नीचेभूलोक में, यहाँ मध्य लोक में, ऊपर देव लोक में। जितने भी अकृत्रिम चैत्यालय हैं उन सब में अकृत्रिम प्रतिमाएँ ही विराजमान हैं। ति० म० से ज्ञात होता है कि ये सब प्रतिमाएँ अष्ट प्राति-हार्य सहित अरहंतों की होती हैं—इस युग की आदि में सौधमोन्द ने अयोध्या में मंदिर बनाए (आदि ०१६—१५०) इनमें अकृत्रिम प्रतिमाएँ ही विराजमान की। भरत जी ने २४ मंदिर बनवाये (पदम०) उनमें ७२ प्रतिमाएँ निर्माण करवाई’ (उत्तर० ४८-७७) ये सब अरहंतों का थे—प्रतिमा तीर्थंकरों की बनाई जाती हैं (इ० पन्ना-लाल) प्रारंभ में तीर्थंकरों की मूर्तियाँ बनती थी (देवगढ़ की जैन कला ७१) मूर्तियाँ देवों की बनती हैं देव होते हैं अरहत और सिद्ध। अंकित लेख में उल्लिखित नाम से ही तीर्थंकर की पहचान होती थी (जैन संदेश—शोधक) आचार्य उपाध्याय और मुनियों को मूर्तरूप देने का विधान जैन प्रतिमा शास्त्र में नहीं मिलता है।’—

‘मुनि अवस्था की मूर्ति बनती नहीं है।’—

ऊपर दिए गए सभी प्रसंगों से पंचरंगे ध्वज का रूप जैन-धर्म जैसा प्राचीन नहीं ठहरता। अतः यह मानना ही श्रेयस्कर है कि यह पंचरंगा ध्वज जैनधर्म का प्राचीन ध्वज नहीं, अपितु सर्वसम्मत सामाजिक ध्वज है जो वीर निर्वाण के २५००वें वर्षोत्सव प्रकाश में आया। □□□

वीर सेवा मन्दिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-२

तीर्थंकरों की प्राचीन रत्नमयी प्रतिमायें : विविध सन्दर्भ

□ श्री विगम्बरदास जैन, एडवोकेट, सहारनपुर

जैन वाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थरत्नों में जैन तीर्थंकरों की अनेकानेक कृत्रिम और अकृत्रिम रत्नमयी बहुमूल्य प्रतिमाओं के विविध सन्दर्भोल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनमें कतिपय विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. नन्दीश्वर द्वीप में अरहन्तों के बावन अकृत्रिम चैत्यालय हैं। प्रत्येक में विशाल रत्नमयी अकृत्रिम अरहन्त भगवान की प्रतिमायें अनादिकाल से ऐसी मनोज्ञ हैं कि जिनकी वन्दना का गौरव केवल स्वर्ग के सम्यग्-दृष्टि देव ही कर सकते हैं। यदि उनके साथ कोई मिथ्यादृष्टि देव चला जावे तो वह भी सम्यग्दृष्टि हो जाता है, इतनी अतिशयपूर्ण है।

— जयमाल नन्दीश्वर दीपपूजा

२. पंचमेरु पर ५२ अकृत्रिम चैत्यालय हैं जिनमें रत्नमयी अत्यन्त मनोज्ञ अरहन्तों की अकृत्रिम प्रतिमायें हैं, जिनकी वन्दना केवल स्वर्ग के देव, चारण मुनि व आकाशगामिनी विद्या के घारी विद्याघर तथा वे धर्मात्मा मनुष्य जो उनके साथ जाने का अवसर

प्राप्त कर लेते हैं, कर पाते हैं।

—जयमालपंचमेरु पूजा

३. प्रारम्भिक कृषिकाल में स्वर्ग के इन्द्र ने चार अयोध्या जी के चारों कोनों पर और एक बीच में अरहन्तों के पाँच जैन मन्दिर निर्माण किए और उनमें रत्नों की अत्यन्त मनोज्ञ प्रतिमायें स्थापित की।

—हरीवंश पुराण

४. भरत चक्रवर्ती ने कृषिकाल में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से चौबीस तीर्थंकरों के गुण सुनने से प्रभावित होकर ऋषभदेव की निर्वाणभूमि कैलाश पर्वत पर २४ तीर्थंकरों के अलग अलग रत्नमयी मन्दिर बनवाये और उनमें रत्नों की चौबीस तीर्थंकर प्रतिमायें स्थापित की।

५. दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ के तीर्थकाल में विश्वसम्राट् सगर ने अपनी राजधानी में तीर्थंकरों के सोने के मन्दिर बनवाकर हीरों की प्रतिमायें विराजमान की।

६. रावण ने लका में अपने महल में तीर्थंकर शान्तिनाथ

made images and used to worship them and the 2nd universal monarch Sagar also worshipped these 24 Tirthankaras.

—Maha Puran.

- १(क) On Asta Pada (Kailash) mountain Risabha attained Nirvan. Near His cremation ground Bharat (Universal King at whose name our country is called Bharat) created temples of Jewelled slabs with statues of 24 Jinas (Tirthankaras). Dr. U. P. Shah : Studies in Jaina Art. P. 216.

- १(ख) The first universal monarch Bharat after ascertaining accounts of 24 Tirthankaras from the omniscient Tirthankaras Risabha constructed 24 Jaina temples, one of each 24 Tirthankaras with their Jewel

- १(ग) All knowing Risabha predicated birth of 24 Tirthankaras before their advent centuries before. Consequently, Bharat the paramount monarch first got constructed images of all the 24 Tirthankaras on the summit of Mount Kailas in Hamalaya—V.O.A. Vol.X, Vol.X (1960) P. 305.

वस्तु क्या है ?

□ श्री बाबूलाल जैन, नई दिल्ली

वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है अथवा द्रव्य-पर्याय रूप होती है। वस्तु का एक सामान्य स्वरूप होता है जो त्रिकाल होता है, ध्रुव होता है। वस्तु किसी अवस्था में, किसी रूप में, किसी संयोग में क्यों न रहे वह सामान्य स्वरूप बराबर, हरदम एकरूप रहता है। उसी से उस वस्तु की पहचान होती है। उसे सामान्य स्वरूप या नैकालिक स्वरूप कहते हैं। इसी से वस्तु का वस्तुत्व कायम होता है। दूसरी उस वस्तु को समय-समयवर्ती अवस्था होती है। वह अनित्य होती है। 'पर' से संबन्धित होती है। यद्यपि वह भी वस्तु की अवस्था है, परन्तु उससे वस्तु का निर्णय नहीं होता। वह परिवर्तनशील है। जैसे मनुष्य में एक मनुष्यत्व सामान्य धर्म है। वह सभी मनुष्यों में मिलता है। उससे यह पहचान होती है कि वह मनुष्य है। परन्तु वह मनुष्य बालक, जवान, वृद्ध आदि अनेक परिवर्तित अवस्थाओं में रहता है। सुन्दर, कुरूप, पागल, अपाहिज आदि अनेक अवस्थाएँ होते हुए भी हर अवस्था में अगर खोजा जाए तो मनुष्यपना दृष्टिगोचर होता है। मनुष्य मनुष्यपने को कायम रखते हुए बालक से जवान और वृद्ध हो रहा है परन्तु हर अवस्था में मनुष्यपना कायम है। उसको छोड़कर बालक-वृद्धपना नहीं। मनुष्यत्व अगर मिलेगा तो इन अवस्थाओं में ही मिलेगा। इस प्रकार से यह बात बनी कि अनेक प्रकार की अवस्थाएँ अवस्थावान् के बिना नहीं और अवस्थावान् अवस्थाओं के बिना नहीं। दोनों बातें एक ही समय में हैं, आगे पीछे नहीं। कहने में शब्दों में आगे पीछे कही जा सकती है। पूरी वस्तु को समझने के लिए अवस्थावान् और अवस्थाएँ दोनों को जानना जरूरी है। अगर हम एक को मुख्य करके कथन कर रहे हैं तो समझना चाहिए कि दूसरा विषय है जरूर, परन्तु कहने वाले का प्रयोजन अभी उससे नहीं है।

अवस्थावान् तो किसी से भी प्रभावित नहीं है और

संयोगी भी नहीं है। वह तो हर हालत में एक है, अकेला है, सबसे भिन्न है अपने में है, 'पर' रूप नहीं है। जैसे सोने का बना हुआ जेवर है। सोना जेवर रूप है। जेवर सोने को छोड़ कर नहीं है। जहाँ जेवरपना है वहाँ स्वर्णपना है। एक समय में है, फिर भी दोनों का लक्षण अलग-अलग है। स्वर्णपना अपने स्वर्णत्व को लिए हुए है, हमेशा स्वर्णपने में है। अगर वह चाँदी से मिला है तो भी स्वर्णपना स्वर्णमात्र में है, चाँदी में स्वर्णपना नहीं है। जेवर को देखें तो वह चाँदी के संयोग से बना है। बदल कर अन्य रूप हार या कड़ का रूप भी हो सकता है। सुनार का संबन्ध भी है। सुनार का सम्बन्ध जेवर के साथ है। वह जेवर बनाने में सहायक बना है परन्तु स्वर्ण के स्वर्णपने में वह सहायक नहीं है। जब जेवर बेचने को जाते हैं तो लेने वाले की दृष्टि सोने पर है और सोने के दाम देता है। परन्तु अगर पहनने वाले के पास जाये तो उसकी दृष्टि जेवर पर है। वह उसकी सुन्दरता, असुन्दरता को देखता है। जेवर को सामने रखने पर दाँ दृष्टियाँ बनती हैं—एक जेवर की सुन्दरता की ओर दूसरी स्वर्ण के स्वर्णपने की। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु एक दृष्टि का विषय नहीं, पूरी वस्तु को समझने के लिए दोनों दृष्टियों की जरूरत है, अथवा यह कहना चाहिए कि एक दृष्टि दूसरी दृष्टि की पूरक है, निषेधक नहीं। इसलिए वस्तु को मात्र एक दृष्टि रूप ही मानने वाले ने पूरी वस्तु का पूरा स्वरूप नहीं समझा।

इसी प्रकार से आत्मा के बारे में विचार किया जा सकता है। एक तो आत्मा का नैकालिक स्वरूप है जो, आत्मा चाहे किसी अवस्था में क्यों न रहे, हमेशा, सभी अवस्थाओं में कायम रहता और जो हमेशा, एकरूप, अकेला, 'पर' से रहित, त्रिकाल, धीव्य वस्तु स्वरूप को दिखाने वाला स्वरूप है। वह उस आत्मा का चैतन्यपना है, ज्ञायकपना है अथवा ज्ञातादृष्टापना है। चैतन्य अनेक

प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त हो रहा है। जैसे नाटक में काम करने वाला अपने एकपने को कायम रखते हुए अनेक स्वांगों को प्राप्त होता रहता है। स्वांग बदलते हैं और वह वहीं एकरूप से, सब स्वांगों में उपलब्ध होता रहता है। वहाँ दो रूपता का ज्ञान होता है—एक तो यह वही है जो पहले स्वांग में था और दूसरा, यह स्वांग दूसरा है और पहला स्वांग दूसरा था। सर्व प्रकार के स्वांगों में जो वही-वही का ज्ञान हो रहा है। वह वस्तु के सामान्य धर्म का अथवा वस्तु के वस्तुत्व का अथवा वस्तु के द्रव्यत्व का बोधक है, और यह वह नहीं, यह अन्य है, पहने अन्य था। यह अन्य-अन्यपने का जो ज्ञान हो रहा है वह वस्तु के पर्याय-धर्मत्व का अथवा विशेष स्वरूप का बोधक है। यह दो रूपपने का ज्ञान होना ही साबित कर रहा है कि उसमें दो प्रकार का धर्म है : एक द्रव्यरूप और एक पर्याय रूप। पर्याय माने जो समय-समय पर परिवर्तनशील हो—चाहे अन्य रूप हो, चाहे उसी रूप हो। जैसे बिजली का बल्व जल रहा है, हमें मालूम होता है कि वह एक रूप से जल रहा है परन्तु हर समय के बिजली के यूनिट भिन्न-भिन्न हैं। पहले समय के यूनिट दूसरे से, दूसरे समय के तीसरे समय से अन्य है। इसलिए भिन्नता होने पर भी एक रूपता मालूम हो रही है। अगर बीच में ज्यादा और कम प्रकाश हो जाए तो पहले और दूसरे समय में भिन्नता पकड़ में आ जायेगी। इसी प्रकार, यह आत्मा भी एक वस्तु है और वह भी अपने वस्तुत्व को कायम रखते हुए अनेक अवस्थाओं को प्राप्त हो रही है। अगर उन अवस्थाओं में उस एक को खोजें तो वह एकरूप से सब अवस्थाओं में मिल रहा है और अवस्थाओं को देखे तो सब भिन्न-भिन्न मालूम हो रही है। अगर अगले समय की अवस्था पहले समय जैसी मालूम हो रही है तो या तो मोटे ज्ञान की वजह से है अथवा पहले समय से समानता लिए हुए है इसलिए मालूम हो रही है। परन्तु है पहले समय से भिन्न।

हरेक वस्तु में अनेक गुण होते हैं। असल में गुणों के पिण्ड का नाम ही वस्तु है। ऐसा न समझना कि वस्तु कोई धैले के समान है और गुण उस धैले में भरे हुए है, परन्तु ऐसा समझना जैसे अनेक दवाइयों को कूट-पीस

कर एक गोली बनाई गई है। वह गोली क्या है ? गोली का अलग अस्तित्व नहीं, उन अनेक दवाइयों के समुदाय का नाम ही गोली है। ऐसे ही आत्मा अनेक गुणों का समुदाय रूप है और हर एक गुण अपना कोई न कोई गुणत्व कायम रखते हुए किसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है। वे अवस्थाएं उस गुण को अपने गुणपने को बिना छोड़े हुए हैं : वे उस गुण से अन्य गुणरूप नहीं हो सकतीं। कोई गुण कम विकसित है, कोई पूरा विकसित है; जैसे कल्पना करें कि ग्राम नाम की वस्तु है, उसमें स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुण हैं। वह ग्राम उन स्पर्श-रस-गंध-वर्ण गुणों का पिण्ड है। इनको छोड़कर ग्राम कुछ अन्य नहीं है। अब ग्राम का स्पर्श गुण कठोर अवस्था को प्राप्त हो रहा है, फिर बदली होने-होते वही स्पर्श गुण, अपने स्पर्शपने को कायम रखते हुए, स्पर्शपने के अन्तर्गत, कठोर से नम्र अवस्था को बदल रहा है। रस गुण भी अपनी अवस्था में विद्यमान रहते हुए खट्टी से मीठी अवस्था को प्राप्त हो रहा है। गंध गुण भी इसी प्रकार से एक-एक अवस्था से अन्य अवस्था रूप परिवर्तित हो रहा है। वर्ण गुण भी हरेपने से पीलेपन को प्राप्त हो रहा है। यह हरे से पीलापन एक रोज में नहीं हुआ, परन्तु हर समय में हरापना भी परिवर्तित होता जा रहा है। सूक्ष्म परिवर्तन हमें दिखाई नहीं देता, जब बड़ा परिवर्तन हो जाता है तो वह पकड़ में आने लगता है। परन्तु वह हुआ है क्रमशः हर एक समय ही। इस प्रकार, जो ग्राम के गुणों का अवस्थान्तर हो रहा है, उन अवस्थाओं को उन-उन गुणों की पर्याय कहते हैं। पर गुण कोई न कोई अवस्था लिए हुए ही मिलेगा और किसी वस्तु के किसी गुण का कभी अभाव नहीं हो सकता। अगर गुणों का अभाव होने लगे तो वस्तु का ही अभाव हो जाएगा। यह तो गुणों की अवस्थाओं में परिवर्तन हुआ। एक परिवर्तन होता है पूरा वस्तु में, जैसे ग्राम का छोटे आकार से बड़ा आकार का होना, वह पूरे ग्राम में हुआ है। इससे यह साबित हुआ कि हरेक वस्तु अनेक गुणों का पिण्ड है और हरेक गुण, हर समय किसी न किसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है और उन अवस्थाओं और सारे गुणों के पिण्ड का नाम वस्तु है और वह भी एक अवस्था से अन्य अवस्था को

प्राप्त हो रही है।

आम के स्पर्श-रस-गंध-वर्ण आदि सब गुणों का कार्य भिन्न है इसलिए वे गुण भी भिन्न-भिन्न हैं। परन्तु अगर हम चाहें कि किसी गुण को आम से अलग कर लें तो वह अलग नहीं हो सकता। अलग जाना जा सकता है। उसी प्रकार से किसी भी वस्तु का कोई गुण उससे अलग नहीं किया जा सकता, परन्तु अलग-अलग जाना जा सकता है। आम के एक इंच के टुकड़े में भी स्पर्श-रस-गंध-वर्ण सब उपलब्ध होते हैं, यद्यपि आम एक अखण्ड वस्तु है। वह तो अंततः पुद्गलों का पिण्ड है। इसी प्रकार से वस्तु में भी वस्तु के एक छोटे से छोटे अंश की अलग कल्पना की जावे तो उसमें भी वस्तु के सर्वगुण उपलब्ध होंगे, यद्यपि वस्तु का एक अंश अलग नहीं किया जा सकता है क्योंकि वस्तु अखण्डरूप है। यह बात चैतन्य और पुद्गल दोनों में लागू होती है।

आत्मा भी अनन्त गुणों का पिण्ड है—उन्हे गुण कहो या धर्म कहो। उनमें कुछ गुण सामान्य हैं जो जीव में भी मिलते हैं और अजीव में भी मिलते हैं। कुछ गुण विशेष हैं जो खास उसी जाति की वस्तु में मिलते हैं। आत्मा में दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्य आदि विशेष गुण हैं। वह उसी में उपलब्ध है और द्रव्यत्व-प्रेमवत्त्व-वस्तुत्व आदि जो सामान्य गुण हैं वे अन्य वस्तुओं में भी हैं। इसी प्रकार से यह आत्मा अनन्त गुणों का पिण्ड रूप एक अखण्ड द्रव्य है और हर उभय उसके हर गुण में परिणमन हो रहा है। पहली अवस्था का लय होता है, दूसरी अवस्था का उत्पाद होता है और वस्तु, वस्तु रूप से ध्रुव रहती है।

आत्मा के गुणों का दो प्रकार का परिणमन होता है, एक—स्वाभाविक और दूसरा—विकारी। यद्यपि परिणमन करने की शक्ति वस्तु की अपनी है परन्तु स्वाभाविक परिणमन 'पर' निरपेक्ष होता है और विकारी परिणमन 'पर' साक्षेप होता है। आत्मा में राग-द्वेष, क्रोध-मान-माया-लोभ रूप जो परिणमन है वह विकारी है और उससे आत्मा दुःखी है। आत्मा का केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप जो परिणमन है वह स्वाभाविक है, क्योंकि विकारी परिणमन होने पर

आत्मा दुःखी होती है इसलिए विकार का अभाव करना इष्ट है। संसारी आत्मा में विकारी परिणमन रहता है और शुद्ध आत्मा याने परमात्मा में स्वाभाविक परिणमन होता है।

अभी संसार में हम विभाव रूप परिणमन कर रहे हैं जिससे हम दुःखी हैं। इसका कारण यह है कि हमने सामान्य स्वरूप को भूलकर परापेक्ष पर्याय स्वरूप में अपना निज-पना माना है। अगर हम निज द्रव्य स्वभाव का, सामान्य स्वरूप का, आश्रय लें, उसमें अपनापन निश्चित कर, उसका निजरूप अनुभव करें तो पर्याय का विकार दूर हो कर स्वभाव रूप परिणमन होने लगे और जीव शुद्ध होकर क्रम से परमात्मा अवस्था को प्राप्त हो। अशुद्ध विकारी पर्याय का आश्रय लेने से, उसमें अहम् बुद्धि रखने से उसको अपने रूप अनुभव करने से विकार बढ़ेगा और गुणों का विकास कम होने लगेगा। द्रव्य स्वभाव का अथवा अपने स्व का आश्रय लेने से पर्याय का विकार दूर होगा और गुणों का पूर्ण विकास होगा। पर्याय रूपता भी हमारे पास है द्रव्य स्वरूप भी हमारे पास है और हमें ही अपने द्रव्य स्वभाव रूप अपने को देखना है। हम चाहें तो अपने को अपने द्रव्य स्वभाव रूप देख सकते हैं हम चाहें तो अपने को विकारी पर्याय रूप देख सकते हैं। दोनों रूप देखने में हम स्वतंत्र हैं, यह हमारी पूर्ण स्वाधीनता है। अपने को विकारी पर्याय रूप अथवा पर रूप तो देख ही रहे हैं और उसका फल संसार है, दुःख है। अगर अपने को निज स्वभाव रूप देखें व अनुभव करें तो पर्याय की अशुद्धता मिटकर गुणों का पूर्ण विकास हो जावे। जब हम अपने को पर रूप देख सकते हैं तो निज रूप देखना क्यों मुश्किल हो रहा है। परन्तु हम निज रूप देखना नहीं चाहते। आज तक निज रूप देखने का कभी पुरुषार्थ ही नहीं किया। इससे मालूम होता है कि हमने संसार का और दुःख का चुनाव किया है, हम परमात्मा बनना नहीं चाहते। अपने को पर रूप देखना यही संसार है। अपने को अपने रूप देखना यह मोक्ष का मार्ग है, यही आनन्द का मार्ग है। □□□

सन्मति-विहार, दरियागंज, नई दिल्ली-११० ००२

धर्मचक्र

□ नृ० गोपीलाल अमर

धर्म एक भाव है। चक्र उसका दृश्य प्रतीक है। मनुष्य का यंत्र-कीशल चक्र से आरम्भ होता है। चक्र स्वयं गतिमान् है और गतिदायक भी। वह प्रकृति के निकट भी है और कला का प्रेरक भी। उसमें अलंकरण फबता है। उसके रूप भी अनेक हो सकते हैं। इसीलिए उसे धर्म का प्रतीक बनाया गया होगा।

तीर्थंकर के आठ महा-प्रातिहायों में धर्मचक्र पांचवां है। यह विहार के समय तीर्थंकर के आगे-आगे चलता है। तरु असोक के निकट में, सिंहासन छविदार। तीन छत्र सिर पर लसैं, भागंडल पिछवार॥ धर्मचक्र आगे चले, पुष्पबुष्टि सूर होय। ढोर चौसठ चमर जय, बाजे दुदुभि जोय॥

तीर्थंकर समवसरण में एक पीठिका पर आठ मंगल द्रव्य स्थापित होते हैं। इनमें एक धर्मचक्र भी होता है। इसे यक्ष जाति का देव अपने मस्तक पर धारण किये खड़ा रहता है। इसके एक हजार आरे होते हैं। उनमें रत्न जड़े रहते हैं।

चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में सुदर्शन-चक्र प्रथम है। इस आयुध से शत्रुओं का संहार किया जाता है। शस्त्ररूपी चक्र यदि एक छोर पर है तो मानवता के कल्याण का प्रतीक धर्मचक्र दूसरे छोर पर है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की शासनदेवी या यक्षी चक्रेश्वरी है। यह गरुड़-वाहिनी गौरांगी देवी आठ हाथों में आठ चक्र धारण करती है।

तीर्थंकर-मूर्ति के सिंहासन पर मध्य में धर्मचक्र अंकित किया जाता है। यह प्रथा ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व मथुरा की कला में भी प्रचलित थी। पटना के समीप चोसा से प्राप्त काम्य प्रतिमाओं में एक चक्र भी है। इसके साथ एक अशोक वृक्ष भी प्राप्त हुआ है। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों अष्ट-महाप्रातिहायों के प्रतीकों में से हैं।

धर्मचक्र नाम का एक व्रत भी होता है। इसके एक

हजार आरों के नाम पर, एक-एक दिन छोड़कर एक हजार उपवास करने होते हैं। इससे यह व्रत २००४ दिन अर्थात् साढ़े पाँच वर्ष में पूरा होता है।

धार्मिक अनुष्ठानों में जो यंत्र स्थापित किये जाते हैं उनमें ये भी होते हैं : दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार, रत्नत्रय चक्र, शान्तिचक्र यंत्रोद्धार, षोडशकारण धर्मचक्रोद्धार, लघु सिद्धचक्र, बृहत् सिद्धचक्र, सुरेन्द्रचक्र।

धर्मचक्र के आरों की संख्या भिन्न-भिन्न मिलती है। आठ आरे श्रावक के, आठ मूलगुणों के, या अष्ट कर्मों के, या आठ दिशाओं के प्रतीक हो सकते हैं। सोलह आरे षोडशकारण भावनाओं के प्रतीक हो सकते हैं जिनसे तीर्थंकरत्व प्राप्त होता है। चौबीस आरे चौबीस तीर्थंकरों के सूचक माने जा सकते हैं। आरों की संख्या बारह, बत्तीस आदि भी हो सकती है।

विष्णु के हाथों में शङ्ख, गदा और कमल के साथ चक्र भी होता है। बुद्ध के पश्चात् पाच सौ वर्ष तक उनकी मूर्ति नहीं बनी, तब चक्र भी उनके प्रतीकों के रूप में पूजा जाता था। उनकी मूर्तियों पर भी धर्मचक्र बनाया गया। तीसरी शताब्दी ई० पू० में मौर्य सम्राट् अशोक ने सारनाथ के स्तम्भ पर धर्मचक्र स्थापित किया था। यही धर्मचक्र आज भारत सरकार का राष्ट्रीय प्रतीक बनाया गया है। भारत के बाहर भी प्राचीन कला में चक्र का अंकन मिलता है।

चक्र धर्म का प्रतीक है, आत्म-साधन का माध्यम है, किन्तु वह मानव-कल्याण का प्रतीक भी बन चुका है। धर्मचक्र का प्रवर्तन मानवता के लिए सुख और शान्ति का सन्देश है, तभी तो कहा गया है :

क्षेमं सर्वप्रजानां, प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः,
काले काले च सम्यग् वर्णतु मधवा, व्याधयो यांतु नाशम् ।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मा स्म भूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रसरतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ॥

का स्वर्णमयी मन्दिर बनवाकर शांतिनाथ की रत्न-मयी प्रतिमा विराजमान कर रखी थी ।

—आचार्य रविसेन : पद्मपुराण

७. महाराजा श्रेणिक—बिम्बसार की पट्टरानी चेलना ने रत्नों की मूर्तियां स्थापित करायी ।

—श्रेणिक चारित्र

८. अन्द्रगुप्त मौर्य ने तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्ति रत्न की बनवाई ।

—जैन मूर्तियों का प्राचीन इतिहास

९. सोलंकीवंशी सम्राट् कुमारपाल ने अनेक जैन मन्दिर बनवाकर उनमें हीरे-पन्ने आदि की मूर्तिया स्थापित की ।
यथापूर्वोक्त

१०. मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अपने राज्य में अनेक जैन मन्दिर बनवाकर हीरे-पुखराज, रत्न और स्वर्ण की प्रतिमायें विराजमान की ।
—यथापूर्वोक्त

११. हर्षिचमीय चालुक्य वंश के महाराजा तेलप के सेना-पति मल्लप की पुत्री अतिमन्वे ने तीर्थंकरों की सोने-चाँदी की हजारों मूर्तियां बनवाकर स्थापित की ।

—सक्षिप्त जैन इतिहास, भाग ३, खण्ड ३, पृष्ठ १५७-५८

१२. मूडबद्री (मैसूर) के जैन मन्दिर में आज भी एक चाँदी की, तीन स्वर्ण की, ६ स्फटिक की, ७ पन्ने की, १ लकड़ी की, एक रत्न की, १ पुखराज की, ४ नीलम की, २ मोतियों की, ३ मूंगे की और ३ माणक एवं ३ हीरे की इस प्रकार ३५ बहुमूल्य प्रतिमायें हैं ।

—रहनुमा-ए-जैन यात्रा, पृ० १६०

१३. कारंजा (अमरावती) में रत्नों, हीरे, पन्ने, नीलम की अनेक दर्शनीय मूर्तिया १५२० ई० की लोदी राज की हैं ।

अहिंसावाणी १९७०, पृ० ८० ।

१४. इसी अमरावती मन्दिर में मूंगे की ४, चाँदी की ३ स्वर्ण की १, गरुणमणि की १, स्फटिक की ४, नीलमणि की १—इस प्रकार १४ प्रतिमायें हैं ।

—देहली जैन डायरेक्टरी २४५

१५. अमरावती के एक मन्दिर में १५ स्फटिक, १ पुखराज की ६ चाँदी की, १ मूंगे की, १ हीरे की और कई रत्नों की मूर्तियां हैं ।

—देहली जैन डायरेक्टरी, पृ०, २४१

१६. अमरावती के सोमेश्वर चौक के जैन मन्दिर में रत्नों की प्रतिमा है ।

अहिंसावाणी, मार्च १९७०, पृ० ८०

१७. देहली दि० जैन नये मन्दिर, घर्मपुरा में स्फटिक, नीलम मरक्त, रत्नों आदि की १०५२ ई० हो यसल वंशी सम्राट् विनयदित्य के राजकाल की प्रतिष्ठित प्रतिमायें हैं ।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० २८

१८. देहली दि० जैन बड़ा मन्दिर कूँचा सेठ में ऋषभदेव, मल्लिनाथ, वासपूज्य, शांतिनाथ, कुंथनाथ, अरहनाथ स्फटिक आदि बहुमूल्य पाषाण की कई प्रतिमायें हैं ।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० ३० ।

१९. देहली की मस्जिद खजूर गली का जैन मन्दिर मुगल सम्राट् मोहम्मद शाह के सेनापति का बनवाया हुआ है जिसमें कई प्रतिमायें रत्नों की हैं ।

—देहली जैन डायरेक्टरी २७

२०. देहली मोडल बस्ती जैन मन्दिर में अष्टधातु मूर्ति है जिसमें स्वर्ण ही अधिक मात्रा में है ।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० ३३

२१. अचलगढ (आबू, राजस्थान) में ११४० मन की १२० पंचधातु की प्रतिमायें हैं जिसमें अधिक मात्रा में स्वर्ण ही है ।

—होली आबू

२२. श्रवणबेलगोल (मैसूर) मन्दिर में मूंगा, मोती, नीलम, मणी, स्फटिक, हीरे और रत्न की प्रतिमायें हैं ।

—रहनुमाए जैन यात्रा, पृ० १६०

२३. लुधियाना में ६ इंच ऊँची हरे रंग की जमुरद की एक बहुमूल्य मूर्ति पार्श्वनाथ की है ।

२४. वाराणसी के भाट मोहल्ले में सेठ घर्मचन्द जोहरी के चैत्यालय में पार्श्वनाथ की हीरे की दर्शनीय प्रतिमा है ।

२५. गोबिन्दपुर मोहल्ले में सेठ मूरजमल के चैत्यालय में पार्श्वनाथ की बड़ी मनोज्ञ स्फटिक की प्रतिमा है ।

—देहली जैन डायरेक्टरी पृ० २२६

२६. मिदनापुर जिला तामलुक (बंगाल) के चैत्यालय में पार्श्वनाथ की रत्नमयी मूर्ति है ।

—सम्मतिसन्देश, सितम्बर १९६३, पृ० १७



नोहर जैन देवालय की आदिनाथ प्रतिमा

□ श्री देवेन्द्र हाण्डा, सरदार शहर

उत्तर रेलवे के सादुलपुर-हनुमानगढ़ खण्ड पर अवरोल स्थान से ७५ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में स्थित नोहर राजस्थान के गंगानगर जिले का तहसील मुख्यालय है तथा भारत के प्राचीनतम नगरों में से है। वर्तमान नगर घग्घर नदी (प्राचीन दूषद्वती?) के शुष्क तल पर बसा हुआ है। एक ऊँचे टीले पर बनी जलदाय विभाग, नोहर की पानी की टंकी के पास खड़े होकर देखने से पता चलता है कि यह नदी किसी समय नोहर तथा इसके दक्षिणस्थ जोगी आसन चक के बीच में से होकर बहती थी। नोहर के चारों ओर पुराने पेड़ हैं जो सम्भवतः नदी में बाढ़ आने से तटवर्ती वस्तियों के ध्वंसावशेष हैं या फिर नदी के प्रवाह के इधर-उधर होने के परिणाम-स्वरूप तटवर्ती नगरों के नदी के साथ-साथ स्थानान्तरित होने के प्रतीक हैं।

नोहर से सिन्धु सभ्यता के अवशेष -- मृद्भाण्ड, मृण्मय पश्वाकृतियाँ, मिट्टी और शंख के बलय-खण्ड, मृगक्षेप गोले, चट्ट फलकादि—मिले हैं जिन पर पूर्ववर्ती सोयी सभ्यता का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। ईसा-पूर्व द्वितीय सहस्राब्दी के पूर्वार्ध में सम्भवतः सिन्धु सभ्यता के विनाश के उपरान्त पर्याप्त समय तक नोहर गैर-आबाद रहा। पुनः ईसा से कुछ पूर्व यहाँ बस्ती प्रारम्भ हुई, जैसा कि

यहाँ से प्राप्त ऐतिहासिक मृद्भाण्ड-खण्डों, इण्डो-ग्रीक राजा अपालोडोटस की रजत, मथूरा-शासक सूर्यमित्र एवं आर्जुनायन जनपद की ताम्र-मुद्राओं से पता चलता है।^१ यहाँ से प्राप्त कुषाण, हूण, चौहान, दिल्ली सुल्तानों, मुगलों आदि की मुद्राओं से ऐसा प्रतीत होता है कि यह बस्ती कुषाण काल में भी बनी रही और तत्पश्चात् समय के उतार-चढ़ाव के साथ अब तक विद्यमान है।

हरमन गोएट्ज़ ने नोहर का समीकरण फारसी ग्रंथ छाछनामा में उल्लिखित कानुविहार नामक स्थान से किया है।^२ जिनपालोपाध्याय कृत खरतरगच्छ-बृहद्गुर्वावलि में इसका नाम 'नवहर ग्राम' मिलता है।^३ 'नवहर' शब्द ही कालान्तर में 'नोहर' हो गया। खरतरगच्छ-बृहद्गुर्वावलि में 'नवहर' के उल्लेख से इसका जैन-सम्बन्ध स्पष्ट है। इस सम्बन्ध की पुष्टि नोहर के जैन देवालय में रखी पाषाण एवं धातुओं की प्रतिमाओं से होती है। इन प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है काले पत्थर की आदि तीर्थंकर^४ ऋषभनाथ की एक सुन्दर प्रतिमा जिसका वर्णन निम्न पक्तियों में किया जा रहा है।

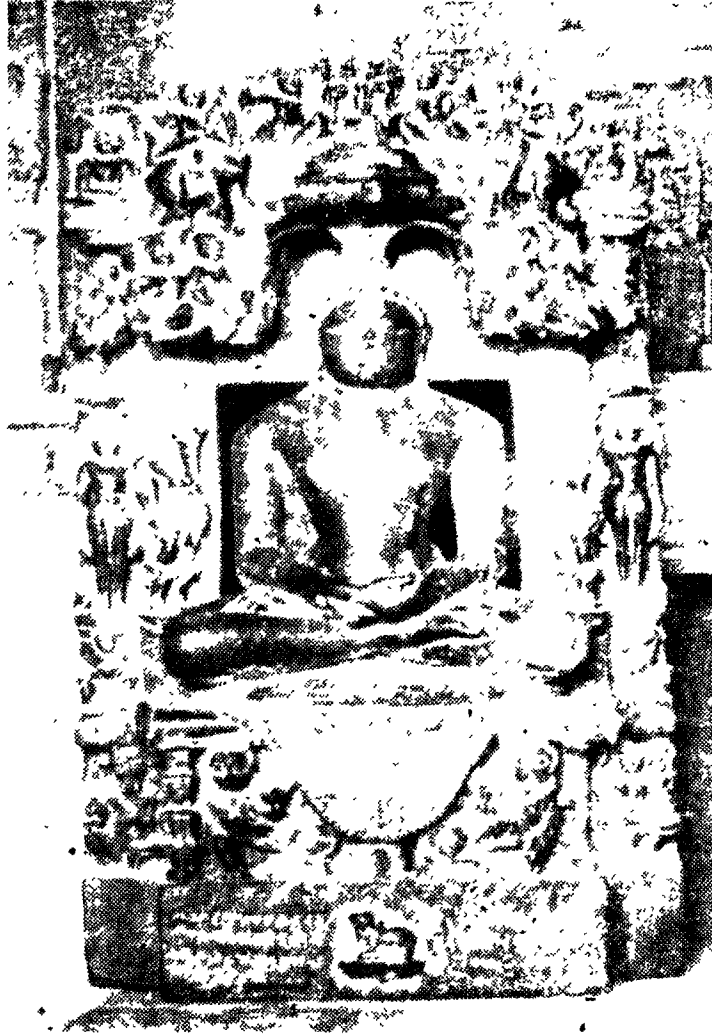
२७ × १६ ३/४ इंच आकार की इस प्रतिमा में जिन सिंहासन पर पद्मासन में बैठे दिखाए गए हैं, जिनके सिर पर वालों के छोटे २ घूँघरों का उष्णीष है

१. पाषाण-युग के पश्चात् सोयी सभ्यता भारत की प्राचीनतम आद्यैतिहासिक सभ्यता है जिसके अवशेष कालीबंगा में सिन्धु सभ्यता के स्तरों के नीचे मिले हैं। विस्तृत विवरण के लिए देखें Indian Archaeology, 1960-61—A Review, p. 31; 1961-62 p.p. 39-44, 62-63, p.p. 20-31 आदि।
२. Devendra Handa, 'A New Type of Arjunayana Coins', Journal of the Numismatic Society of India, Vol. XXXVII, Pt. i. pp. 1-5.

३. ये सभी मुद्रायें नोहर के पुरातत्व-प्रेमी श्री मोजी राम भारद्वाज के सौजन्य से ज्ञात हुई हैं।
४. Hermann Goetz, The Art and Architecture of Bikaner State, Oxford, 1950, p. 31
५. जिनपालोपाध्यायकृत खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, सं० मुनि जिनविजय, सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४२, बम्बई वि० सं० २०१३, पृ० १६।
६. प्रथम जैन तीर्थंकर को आदिनाथ, ऋषभनाथ तथा वृषभनाथ के नाम से जाना जाता है।

जिसपर शिखर-ग्रंथि बनी है। मुख मण्डल शान्त है तथा नेत्र ध्यान-मुद्रा में नासिकाग्र पर केन्द्रित हैं। लम्बे-लम्बे कान जिनके साथ लटकती हुई अलके दोनों कन्धों पर आ टिकी हैं। कन्धे मजबूत हैं तथा बाहें लम्बी। वक्ष पर

करती है; जिसके पीछे प्रभा-मण्डल अस्पष्ट है परन्तु सिर पर छत्र-त्रय बहुत ही स्पष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह प्रतिमा प्रतिष्ठासागोद्वार (१, ६२) के निम्नांकित विवरण से मेल खाती हुई सी प्रतीत होती है—



श्रीवत्सांक शोभायमान हो रहा है जिनके बाएँ जानु तथा स्कन्ध पर घोती की सिलवट सी दिखाई दे रही है जो प्रतिमा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्ध का संकेत

शान्तप्रसन्नमध्यस्थनासाग्रस्थविकारदृक।

संपूर्णभावारूढानुविद्धांगं लक्षणान्वितम् ॥९

मिहासन के दोनों छोरों पर मिह अंकित किए गए हैं

७. तुलना करें—आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्सांगः प्रशान्तमूर्तिश्च ।

दिग्वासस्तरुणो रूपवीर्य कार्योऽसंती देवः ॥१०॥—हत्संहिता ५७, ४५ ।

जिनकी पीठें एक दूसरे की ओर हैं। बीच में धर्मचक्र उत्कीर्ण है जिसकी नाभि से फुंदना निकल रहा है। धर्मचक्र के ऊपर महासन-पीठ पर बिछे आस्तरण का लटकता हुआ भाग दिखाया गया है जिस पर लहरदार अभिकल्पना के साथ-साथ तरंगित माल्यों सहित कीर्ति-मुवों से निकलने हुए प्रलम्बित लटकन है। चरण चौती के बाएं उपांत पर मुखामन में वृषभ-मुखी यक्ष गोमुख का अंकन है जिसके दक्षिण जानु पर स्थित हस्त में बीजोपा फल बहुत ही स्पष्ट है। पीठिका के दाएं अग्रान्त पर नृ-रूप गरुड़ पर सुखासन में आसीन चतुरहस्ता चक्रेश्वरी यक्षिणी है जिसके पिछले हाथों में चक्र है और वामहस्त में बीजपूर है।

यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं के ऊपर अग्रान्त रथिकाओं पर दोनों ओर क्रमशः पूर्णघट लिए उड़ीयमान मुद्रा में किन्नरियाँ, उनके ऊपर छत्रावली एवं केवल-वृक्षों के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े जिन, उनपर नृत्य तथा उड़न मुद्रा में पुनः किन्नरिया तथा सर्वोपरि पद्मासनस्थ लघु जिन प्रतिमाएँ हैं। मुख्य प्रतिमा के बाहुओं के साथ दोनों ओर एक-एक परिचारक (चामरधर ?) दिखाया गया है। ये परिचारक कर्णकुण्डल, हार, भुजबन्ध, ककण, नूपुर आदि आभूषणों से विभूषित हैं तथा क्रमशः दक्षिण तथा वाम हस्त को तत्तत् जघा पर टिकाए सुन्दर द्विभग मुद्रा में खड़े जिन को निहार रहे हैं। दोनों के अधोवस्त्रों की मध्यवर्ती लटकन जानु-पयन्त बीकोंबीच प्रबलम्बित है। दोनों ने वैजयन्ती माला पहन रखी है जो पीछे से उनके बाहुओं पर आकर फिर भुजाओं के पीछे से नीचे आती हुई घुटनों के कुछ नाचे स्पष्ट

दिखाई देती है। सम्भवतः ये परिचारक भरत एवं बाहुबलि हैं। जिनके दोनों ओर कनों के ऊपर उड़न-मुद्रा में माल्य-हस्तविद्याधर-युग्म प्रदर्शित है तथा उसके ऊपर दोनों ओर गजारूढ शख एवं भेरी (?) बादक दर्शाए गए हैं। छत्रावली के दोनों ओर पुनः एक २ माल्य धारी गन्धर्व प्रदर्शित है। छत्र के ऊपर की आकृति कुछ अस्पष्ट है।

प्रतिमा में चरण-पीठिका के निचले भाग के मध्य में वामाभिमुख नन्दी का अंकन है जिनके दोनों ओर अभिलेख है जो इस प्रकार है —

पंक्ति १ ७॥ मंत्र १०८४ फाल्गुन सुदि १३ रवोसयं
वाहडकन

२. करापितः ॥ सूत्रधार गो हर वलाइच सुतेन ॥११

३. सबद १६६० वैशाख सुदि ५...वई कुहाइवस(—)

४. तराय रे बेटे विटो च [—] द प्र [ति] ठा
कराई नोहर मध्ये १३

विषय तथा लिपि की दृष्टि से ये दो पक्तियों के दो अलग-अलग अभिलेख हैं। मूर्ति की स्थापना संवत् १०८४ फाल्गुन सुदि १३ रविवार को सूत्रधार गोहर वलाइच (?) के पुत्र वाहड के द्वारा कराई गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी कारण से जिस मन्दिर में यह मूर्ति थी वह नष्ट हो गया या मूर्ति पूजित नहीं हो पाती थी। अतः कालान्तर में संवत् १६६० वैशाख सुदि ५ को कुहाड (?) बसन्त राय के बेटे वृद्धिचन्द्र ने नोहर के वर्तमान जैन देवालय में या अन्यत्र इसे पुनः प्रतिष्ठित करवाया।^{१३}

जो भी हो, लाञ्छन, प्रतिहार्यादि से युक्त यह प्रतिमा^{१४} ग्यारवीं शताब्दी में नोहर क्षेत्र में जैन धर्म की लोकप्रियता की प्रतीक है तथा जैन प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। □ □ □

बी० टी० टी० कालेज, सरदार शहर (राज०)

८. तुलना कर —

(i) ऋषभे गोमुखो यक्षो हेमवर्णो गजाननः ।
वराक्षसूत्रापाशञ्च बीजपूर करेषु च ॥

सूत्रधार मण्डनकृत-वास्तु-शास्त्र
(ii) चतुर्भुजः सुवर्णाभो गोमुखे वृषवाहनः ।
हस्तन, परशू घत्ते बीजपूराक्षमूत्रकम् ।
वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रञ्च मस्तके ।
वसुनन्दि कृत प्रतिष्ठा सारोद्धार ।

९. देव्यो — वामे चक्रेश्वरीदेवीस्थाप्याद्वादशपद्भुजा ।
घत्ते हस्तद्वये वज्रे चक्राणि च तथाष्टमु ॥
एकेन बीजपूर तु वरदा कमलासना ।
चतुर्भुजाऽथवा चक्रं द्वयोर्गण्डवाहना ॥

— प्रतिष्ठासार संग्रह ।

१०. पार्श्वयोर्भरतबाहुबलिभ्यामुपसेवितः ।
राथोभ्यः (?) मित्र पाथोविबंभासे वृषभध्वजः ॥
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, आदिश्वर, I-3, 58-v.

११. सिद्धि तथा मंगल सूचक यह चिन्ह प्रायः अभिलेखों के प्रारम्भ में मिलता है। इसे 'भले' की संज्ञा दी जाती है।

१२. इस अभिलेख के प्रारम्भ में 'भले' तथा अन्त में विरामादि चिन्हों का अभाव है। इसमें त के स्थान पर द (सबद), अनुस्वार के प्रयोग का अभाव, व के स्थान पर व (बेटे) आदि बातें ध्यानीय हैं।

१३. वर्तमान देवालय भवन बहुत पुराना नहीं है। इस देवालय में यह जिन प्रतिमा अभी तक अलग पड़ी है। देवालय की इयोड़ी में दूसरे स्थान से लाकर कुछ मूर्तियाँ दीवार में जड़ दी गई हैं। अतः सम्भव है कि यह प्रतिमा भी किसी दूसरे मन्दिर या स्थान से लाकर यहाँ रखी गई हो।

१४. इस प्रतिमा से ग्यारवीं शती में इस क्षेत्र में लाञ्छन, प्रातिहार्यादियुक्त प्रतिमाओं के प्रचलन का पता चलता है।

ग्रन्थ-समीक्षा

१. सचित्र भक्तामर रहस्य—पं० कमलकुमार जैन शास्त्री एवं आशुकि फूलचन्द पुष्पेन्दु। प्रकाशक : भीकम-सेन रतनलाल जैन कालका वाले, १२८६, वकील पुरा, दिल्ली-११०००६; मूल्य १५ रुपये; पृष्ठ ४४७; डिमाई आकार; १९७७।

प्राचार्य मानतुंग विरचित भक्तामर स्तोत्र का यह बृहत् संस्करण पाँच खण्डों में विभक्त है। इनमें से प्रथम खण्ड में भक्तामर सार्थक चित्रालोक, द्वितीय खण्ड में तत्सम्बन्धी सत्य कथाएं, तृतीय खण्ड में दिव्य मंत्र तथा चतुर्थ खण्ड में दिव्य यन्त्र समाविष्ट है। पंचम खण्ड का विषय भक्तामर सरस अर्चनालोक है। सत्यकथालोक के अन्तर्गत पौराणिक कथाओं की नवीन औपन्यासिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसमें ४८ प्रामाणिक यन्त्राकृतियां, श्री सोमसेनाचार्यकृत भक्तामर मंडल विधान, भक्तामर महिमा आदि यथास्थान निबद्ध हैं।

यह ग्रन्थ भक्तामर-स्तोत्र पर अब तक समय-समय पर रचित शताधिक व्याख्या-ग्रन्थों में सर्वाधिक व्यापक और सर्वांगीण है।

इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में डा० ज्योतिप्रसाद जैन

ने जैन भक्ति, जैन स्तोत्र साहित्य, भक्तामर और उसके रचयिता आचार्य मानतुंग, भक्ति परक साहित्य आदि का संक्षिप्त त्रिवेचन किया है। यह ग्रन्थ सर्वोपयोगी, स्वाध्येय एवं सग्रहणीय है। —गोकुलप्रसाद जैन, सम्पादक

२. आराधना सुमन—सम्पादक : पं० हीरालाल जी जैन 'कौशल'; संकलनकर्ता एवं प्रकाशक : श्री श्रीकृष्ण जैन, मंत्री; श्री शास्त्र-स्वाध्याय-शाला, श्री पाश्वनाथ दि० जैन मन्दिर, बाबा जी की बगोची (बर्फखाने के पीछे), सब्जी मंडी, दिल्ली-६; पृष्ठ संख्या १६२; मूल्य २ रु० ५० पैसे १९७७।

प्रस्तुत ग्रंथ में जैन भजनों, स्तुतियों, भावनाओं, आरतियों, चालीसा, जाप्यमंत्रों, उपयोगी विचारों आदि का सुन्दर संकलन है जो आध्यात्मिकता के प्रति प्रेरित करते हैं। ये विविध अवसरों एवं विविध प्रसंगों के लिए उद्दिष्ट हैं। पुस्तक को सर्वोपयोगी बनाने के लिए ही इसमें विविध प्रकार की सामग्री संकलित की गई है जिसके लिए संकलनकर्ता एवं सम्पादक दोनों साधुवाद के पात्र हैं।

पुस्तक सर्वथा उपयोगी एवं उपादेय है।

—गोकुलप्रसाद जैन, सम्पादक

श्रमण (जैन) के पर्यायवाची शब्द

प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक कोशकारों, व्याकरणों एवं साहित्यकारों ने 'श्रमण' के पर्यायवाची शब्द दिये हैं जो अपने-अपने युग में जैनवाची रहे हैं एवं जैनवाची शब्दों की सुव्यापक एवं अविरल परम्परा के द्योतक हैं। ये पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं—

वैदिक—(ऋग्वेद-१०-३५-२)—मुनिः, वातरशनः, पिशङ्गः।

प्राकृत—(स्थानाङ्गसूत्र-३)—समणो, (पाइयलच्छी-नाममाला, ३२)—जइणो, तदस्सिणो, तावसा, रिसी, भिकवुणो, मुणो, समणा।

पालि—(दीघनिकाय-३)—अचेत्तो, अचेलको। (सुत्तपिटक, मज्झिमनिकाय, महासिंहनाद सुत्त)—नगो। (अगुत्तर-चतुक्कनिपात ४।५)—निगगो।

संस्कृत—(श्रीमद् भागवत-११.६.७७)—वातरशनः, ऋषि, ऊर्ध्वमन्थी। (जिनसेन का महापुराण)—दिग्वासः, निर्ग्रन्थेशः, निरम्बरः। (शाङ्करभाष्य)—परिव्राट् व (निघण्टु)—वातवसनः। (सूत्रायमुक्तावलि-५१-५२)—ब्राह्मणः, भिक्षुः। (महाभारत-पौष्पपर्व ३।१२६)—क्षपणकः। (शाश्वतकोष)—क्षपगः, निष्पच्छिदः। (कोषकल्पतरु-५२-५३)—सर्वार्थसिद्ध, साद्यन्तः, भदन्तः,

भग्नाटः, दिग्म्बरः, आजीवः, मलधारी, जीवकः, जैनः, श्रामणेयः, चेलुकः। (रुद्रसंहिता, पार्वतीखण्ड-२४।३१)—मधुव्रतः। (पञ्चतन्त्र १।१३)—पाणिपात्रः। (पद्म-पुराण-१३।३३)—योगी, मुण्डः, बहिषिच्छधरः, द्विजः। (जिनदत्तसूरिः)—लुञ्चितः, पिच्छिकाहस्तः। (काव्य-शिक्षा-१४७)—मायूरलिङ्गी, केशविलुञ्चकः। (जिन सहस्रनाम)—निष्किञ्चनः, निराशंसः, ज्ञानचक्षुः, श्रमो-मुहः। (मेदिनीकोश 'न' १३)—नग्नः, विवासाः। (स्क-न्दपुराण-५६-३५-३६)—मुण्डी, मयूरपिच्छधारी, महा-व्रतः। (हर्षचरित)—नगनाटकः, शिखिपिच्छलाञ्छनः।

अपभ्रंश—(परमात्मप्रकाश-१।८२)—खवणउ (क्षपणकः), सेयडउ (श्वेतपटः), बन्दउ (बन्धकः)। (राज-सिंह विरचित जिनदत्त-चरित-५० तथा ३६६) सबणु (श्रमणउ), श्रमण (श्रमणः)।

हिन्दी—(मलिक मोहम्मद जायसी—पद्यावत सि० द्वीपवर्णन-पृ० ३२)—खेवरा (क्षपणकः)।

श्रमण का स्त्रीलिङ्ग—(प्राकृत में—कल्पसूत्र)—समणी। संस्कृत में—वाल्मीकि रामायण-३.७४.७ तथा अत्रचूडामणि ११.१६)—श्रमणी, श्रमणा। (अभिधान-चिन्तामणि मर्त्य ३।१६६)—श्रवणा, भिक्षुकी, मुण्डा। श्रमणा—कुमारी साध्वी। श्रमणी—सुहागन स्त्री साध्वी।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों से उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक : मुस्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७ पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट्. के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है। शोध-खोज के विद्वानों के लिए अनीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द।	१५-००
प्राप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज सटीक अपूर्व कृति, आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य प. दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द।	८-००
स्वयम्भू स्तोत्र : समन्तभद्र भारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुस्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित।	२-००
स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अमोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुस्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित।	१-५०
ग्रन्थात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित।	१-५०
वृक्षयन्त्रशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द।	१-२५
समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुस्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द।	३-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और ५० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द।	४-००
समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति, ५० परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित	४-००
अथर्वबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ : श्री राजकृष्ण जैन	१-२५
अध्यात्म रहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति, मुस्तारश्री के हिन्दी अनुवाद सहित।	१-००
जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह, भाग २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। रचयिता ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं. परमानन्द शास्त्री। सजिल्द।	१२-००
ग्याय-दीपिका : प्रा. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा स० अनु०।	७-००
जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४, सजिल्द।	५-००
कसायपाहुडसुत : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवर्षभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं० हीरालालजी सिद्धान्त-शास्त्री। उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पृष्ठ कागज और कपड़े की पक्की जिल्द।	२०-००
Reality : प्रा० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद। बड़े आकार के ३०० पृ., पक्की जिल्द	६-००
जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा श्री रतनलाल कटारिया	५-००
ध्यानशतक (ध्यानस्तव सहित) : संपादक पं० बालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री	१२-००
आवक धर्म संहिता : श्री दरयावसिंह सोधिया	५-००
जैन लक्षणावली (तीन भागों में) : (तृतीय भाग मुद्रणाधीन) प्रथम भाग २५-००; द्वितीय भाग	२५-००
Jain Bibliography (Universal Encyclopaedia of Jain References) (Pages 2500) (Under print)	

